CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2.1V2 340.C

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला

: २४ :

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग ७

[कन्नड़, तमिल एवं मराठी जैन साहित्य]

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: २४ :

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैन साहित्य
का
बृहद् इतिहास

भाग ७

[कन्नड, तमिल एवं मराठी जैन साहित्य]

लेखक
पं० के० भुजबली शास्त्री
श्री टी० पी० मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै
डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर
[तमिल विभाग के अनुवादक श्री र० शोरिराजन]

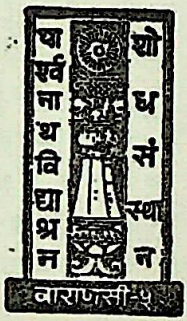

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–२२१००५

प्रकाशन–वर्ष :
सन् १९८१

मूल्य :
पैंतीस रुपये

मुद्रक :
एजूकेशनल प्रिन्टर्स,
गोला दीनानाथ, वाराणसी–२२१००१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ७ को पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। वस्तुतः इसका प्रकाशन एक दशक पूर्व ही हो जाना था, किन्तु कुछ अप्रत्याशित कारणों से इसके प्रकाशन में विलम्ब होता गया। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि इस जैन साहित्य के बृहद् इतिहास के कन्नड विभाग के लेखक पं० के० भुजबली शास्त्री आज इस प्रकाशन को देख पाने के लिए हमारे बीच नहीं रहे।

इस खण्ड के अन्तर्गत हमने दक्षिण भारतीय भाषाओं में रचित जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है। इसके तीन उपविभाग हैं। जिनमें क्रमशः कन्नड, तमिल और मराठी जैन साहित्य की कृतियों और कृतिकारों की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है।

तमिल एवं कन्नड जैन साहित्य के सम्बन्ध में यद्यपि अंग्रेजी भाषा में कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं किन्तु हिन्दी भाषा में अभी तक कोई भी पुस्तक नहीं लिखी गई है। मात्र यत्र-तत्र कुछ लेख प्रकाशित अवश्य हुए, अतः इस दृष्टि से इस दिशा में यह प्रथम प्रयास है। इस सम्बन्ध में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। मूल कठिनाई तो तमिल एवं कन्नड विभाग के लेखकों के सम्बन्ध में ही थी। तमिल विभाग को तमिल में लिखवा कर फिर हिन्दी में अनुवाद करवाना पड़ा, किन्तु यह अनुवाद भी तमिल भाषी ने ही किया है। कन्नड विभाग यद्यपि हिन्दी में लिखा गया फिर भी तमिल के अनुवादक एवं कन्नड विभाग के लेखक हिन्दीभाषी नहीं होने के कारण ग्रन्थों की भाषा में वाक्यविन्यास, विभक्ति आदि की दृष्टि से उनकी मातृभाषाओं का स्पष्ट प्रभाव आ गया है। यद्यपि हमने भाषा को यथासम्भव संशोधित करने का प्रयास किया फिर भी भाषा में अपेक्षित कसावट एवं एकरूपता आना तब तक संभव नहीं था जब तक कि इसका पुनर्लेखन नहीं होता। हमारी अपनी कठिनाई यह थी कि हम कन्नड एवं तमिल साहित्य भाषा एवं उच्चारण शैली से ही अपरिचित थे। लेखकों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा में आमूलचूल परिवर्तन करना भी खतरे से खाली नहीं था। इसलिए भाषा के संबंध में यथास्थिति रखना ही हमें अधिक उचित लगा। कहीं नाम आदि के संबंध में भी मूल लेखकों की अपनी विशिष्टताएँ थीं, दूसरे कुछ नामों के संबंध में हमें तमिल एवं कन्नड के लेखकों में भी उच्चारणभेद मिले। अतः कौन-सा सही है, यह निश्चित कर पाना भी कठिन था, ऐसी स्थिति में उन्हें भी यथावत् रखा गया है, जैसे चामुण्डराय के स्थान पर चाउण्डराय। कहीं तमिल एवं कन्नड के लेखकों ने ही एकरूपता नहीं बरती है जैसे वड्डाराधना और वड्डाराधने। इसे भी हमने यथावत् रखा है। यद्यपि ये सब कठिनाइयाँ मराठी विभाग में नहीं हैं। हमारी अपेक्षा यही है कि सुधी पाठक हमें त्रुटियों से अवगत करावें ताकि इन्हें भविष्य में सुधारा जा सके।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में यदि हमें जीवन जगन चैरिटेबल ट्रस्ट से आर्थिक सहायता नहीं मिली होती तो संभवतः इसके प्रकाशन में और भी अधिक विलम्ब होता। इस आर्थिक सहयोग के लिए हम उक्त ट्रस्ट के ट्रस्टी मण्डल के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस हेतु हमें पाँच हजार रुपये की धनराशि प्रदान की।

हम संस्थान के मंत्री श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन के आभारी हैं जिन्होंने इस प्रकाशन के लिए न केवल प्रेरणा दी अपितु समय-समय पर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते रहे। हम डॉ० हरिहर सिंह, श्री जमनालाल जी जैन, शोधछात्र श्री मंगल प्रकाश मेहता एवं श्री रविशंकर मिश्र के भी आभारी हैं जिन्होंने ग्रन्थ की भाषा के सम्पादन तथा प्रूफरीडिंग आदि कार्यों में हमारी सहायता की है।

अन्त में हम एजूकेशनल प्रिंटर्स के भी आभारी हैं जिन्होंने इसके मुद्रण कार्य को सम्पन्न किया।

—सागरमल जैन
निदेशक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन्हें यह ग्रन्थ समर्पित है—

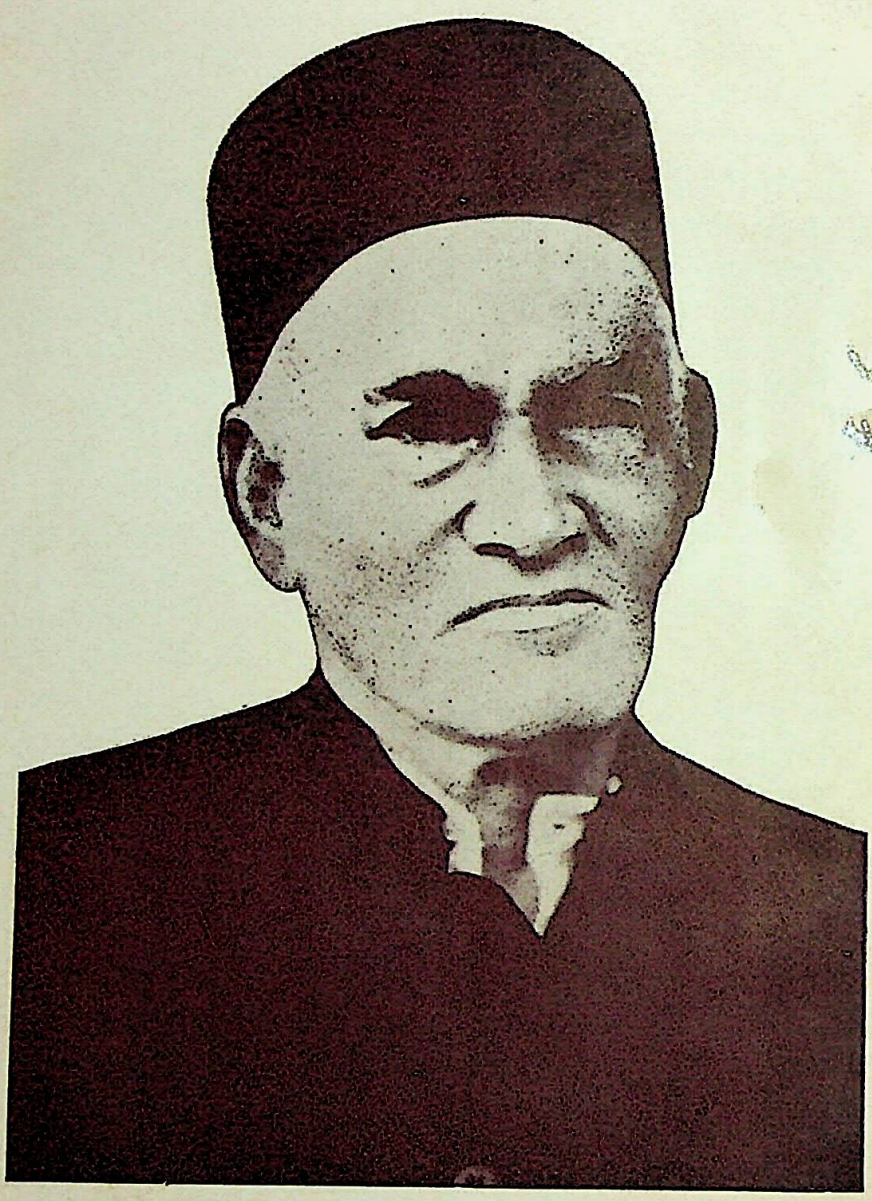

स्व० लाला हंसराजजी जैन, अमृतसर

जन्म ई० सन् १८९८ स्वर्गवास ई० सन् १९७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाला हंसराज जैन का जीवन-परिचय

लाला हंसराजजी जैन का जन्म ई० सन् १८९८ में अमृतसर के एक प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न स्थानकवासी ओसवाल परिवार में हुआ था। आपके पिता लाला जगन्नाथ जैन थे। अपने परिवार में आप तीन भाई थे—लाला रतनचंदजी, लाला हंसराजजी और लाला हरजसरायजी। लाला रतनचंदजी आपके बड़े भाई थे। आपने अपने कठोर परिश्रम तथा विचक्षण बुद्धि से पारिवारिक व्यापार को अमृतसर से दिल्ली, बम्बई तथा कलकत्ता तक फैलाया। आप में एक कुशल व्यवसायी के सभी गुण थे। आप कठोर परिश्रमी एवं दृढ़ विचारों के व्यक्ति थे।

निरन्तर व्यापार के श्रमसाध्य कार्य में लगे रहने के बावजूद आप समाजकल्याण-सम्बन्धी अच्छे कार्यों के लिए समय निकाल ही लेते थे। श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के द्वारा संचालित पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान में आपकी रुचि प्रारम्भ से रही थी और उदार हृदय से उसके कार्यों में सहयोग देते थे। आप निरन्तर कर्मशील व्यक्ति थे। जैन समाज में चेतना एवं सक्रियता लाने के लिए आप सदैव प्रयत्नशील बने रहते थे। आप एक बार जो दृढ़ निश्चय कर लेते थे, फिर उससे कभी विचलित नहीं होते थे। सारा समाज आपके विचारों की दृढ़ता, स्पष्टता तथा व्यवहार में प्रामाणिकता के कारण आपको आदर की दृष्टि से देखता था। आपके एक-मात्र पुत्र का स्वर्गवास सन् १९४७ ई० में नौ वर्ष की अल्पायु में हो गया। आप पाँच पुत्रियों तथा एक दत्तक पुत्र का भरा-पूरा परिवार छोड़कर १९ अगस्त, १९७४ ई० को स्वर्गवासी हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत सूची

M.A.R.	Mysore Archaeological Report.
E.I.	Epigraphia Indica.
A.R.E.	Annual Report on South Indian Epigraphy.
S.I.I.	South Indian Inscriptions.
I.M.P.	Inscriptions of Madras Presidency.
E.C.	Epigraphia Carnatica.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

(अ) कन्नड जैन साहित्य का इतिहास १-९६

अध्याय १ कन्नड साहित्य का आरम्भ काल १–१२

श्रीवर्धदेव ८, दुर्विनीत ८, श्री विजय ८, नृपतुंग ९; असग १०, गुणनन्दि १०, गुणवर्म १०, शिवकोट्याचार्य ११

अध्याय २ पंप युग १३–६२

आदिकवि पंप १४, पोन्न १९, रत्न २०; चाउण्डराय २७, श्रीधराचार्य २९, दिवाकरनन्दी ३०, शांतिनाथ ३१, नागचन्द्र ३२, कंति ३९, नयसेन ४१, राजादित्य ४६, कीर्तिवर्म ४७, ब्रह्मशिव ४८, कर्णपार्य ५०, सोमनाथ ५६, वृत्तविलास ५७, नागवर्म ६०

अध्याय ३ चम्पू युग ६३–८१

नेमिचन्द्र ६३, बोप्पण पण्डित ६५, अग्गल ६६, बंधुवर्म ६८, पार्श्व पण्डित ६९, जन्न ७०, गुणवर्म द्वितीय ७४, कमलभव ७६, महाबल ७७, आंडय्य ७८, मल्लिकार्जुन ७९, केशीराज ७९, नागराज ८०, बाहुबलि और मधुर ८१, मंगराज अथवा मंगरस ८१

अध्याय ४ षट्पदि और सांगत्य युग ८२–९१

भास्कर ८२, कल्याणकीर्ति ८२, विजयण्ण ८५, शिशुमायण ८५, मंगरस ८७, अभिनववादि विद्यानन्द ८८, साल्व ८८, दोड्डय्य ८९, बाहुबलि ८९, गुणचन्द्र ८९, भट्टाकलंक ९०, धरणि पण्डित ९१, देवचन्द्र ९१

ऐतिहासिक ग्रन्थों की सूची ९२–९६

(ब) तमिल जैन साहित्य का इतिहास ९७-१९८

अध्याय १ जैन धर्म और तमिल देश ९९–१२९

जैन नामों का तमिल रूप ९९, जैन धर्म की परम्परा ९९, दक्षिण में जैन धर्म का प्रवेश १००, आदिकाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०१, कलभ्र १०२, वज्रनन्दी का संघ १०३, तमिल भाषी जैनाचार्य चोळों के पूर्व १०४, चोळों के काल में १०५, तोलकाप्पियम् १०८, पण्णत्ति ११३, तमिल व्याकरण का विकास ११५; तोलकाप्पियम् और जैन प्रभाव ११६, संघकालीन ग्रन्थ ११९, संघ ग्रंथों पर जैन प्रभाव १२०, संघकाल का निर्णय १२१, तिरुक्कुरळ १२३, तिरुवळ्ळुवर और जैन धर्म १२६; तिरुक्कुरळ् के उपदेश १२७

अध्याय २ धर्मग्रन्थ १३०–१४४

पदिनॅण्कीळ् कणक्कु (अठारह धर्मग्रन्थ) १३०, जैन धर्म के विशिष्ट ग्रंथ अरुंकल चॅप्पु और अरनॅरिसारम् १३२, पतिनॅण्कीळ कणक्कु के लक्षण १२३, नलडिनानुरु और पळमॉळि नानरु १३५, चिरुपंचमूलम् और एलादि १३८, पतिनॅण्कीळ कणक्कु की अन्य विशेषताएँ १४०, धार्मिक और नैतिक लघुकथाएँ १४२

अध्याय ३ काप्पियम् (महाकाव्य)—१ १४५–१६२

शिलप्पधिकारम् के रचयिता १४५, उसकी काव्य-कथा १४५, शिलप्पधिकारम् का नामकरण १४८, कवि का साम्प्रदायिक पक्ष १४९, रचनाकाल १५१ मणिमेखलै १५५, नीलकेशी १५७, वळैयापति १५९; पेरुं कथै १६०

अध्याय ४ काप्पियम् (महाकाव्य)—२ १६३–१८५

जीवक चिन्तामणि १६३, उसकी काव्यकथा १६३; विशेषताएँ १६५, रचनाकाल १६६, चूळामणि १६९, विशेषताएँ १७१, कथावस्तु १७१, लघुकाव्य—यशो-धर काव्य १७४, शान्तिपुराणम् और नारदचरितै १७६, मेरुमन्दर पुराणम् १७६, जैन साध्वी कवयित्रियाँ १७७, कुवन्ती १७७, अव्वै १७८, अन्य १७८, प्रबन्धकाव्य—कलिगत्तु परणि १७९, भक्ति गीतों की धारा १८१, अन्य जैन ग्रन्थ १८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय ५ गद्य ग्रंथ, इलक्कणम् निघंटु आदि १८६–२००

गद्य ग्रंथ : श्रीपुराणम् १८६, निघंटु ग्रंथः दिवाकरम् १८८, पिंगलन्दै १८९, चूडामणि निघंटु १८९; इलक्कणम् १८९, पाट्टियल १९०, याप्परुंगलम् (अलंकारग्रंथ) १९२, इळम्पूरणर् १९३, नेमिनाथर् १९४, अडियावर्कु नल्लार १९४, नन्नूल् १९५, नम्बि अहप्पोरूळ् १९५, नच्चिनार्किनियर् १९६, अन्य (अप्राप्य) जैन ग्रन्थ १९७, उपसंहार १९७, हमारा दायित्व १९८

(स) मराठी जैन साहित्य का इतिहास २०१-२४८

अध्याय १ प्रास्ताविक २०१–२०६

महाराष्ट्र प्रदेश और जैन धर्म २०१, मराठी भाषा का उद्भव २०१, मराठी जैन साहित्य का अध्ययन २०३, मराठी जैन साहित्य का वर्गीकरण २०४, प्रारम्भिक एवं मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्य २०४, आधुनिक मराठी जैन साहित्य २०५

अध्याय २ प्रारम्भिक एवं मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ २०७–२३४

गुणदास २०७, गुणकीर्ति २०८, जिनदास २०९, मेघराज २१०, कामराज २१०, सूरिजन २११, नागो आंया २११, गुणनन्दि २११, अभयकीर्ति २१२, वीरदास (पासकीर्ति) २१२, दामापण्डित २१३, भानुकीर्ति २१४, दयासागर (दयाभूषण) २१४, चिमनापण्डित २१४, पुण्यसागर २१६, विशालकीर्ति (प्रथम) २१६, पंतसाबाजी २१६, विशालकीर्ति (द्वितीय) २१७, पद्मकीर्ति २१७, राय २१७, रत्नासा २१७, गंगादास २१८, हेमकीर्ति २१८, मकरन्द २१९, महीचन्द्र २१९, महाकीर्ति २२०, चिन्तामणि २२०, रामकीर्ति २२१, देवेन्द्रकीर्ति २२१, पुण्यसागर (द्वितीय) २२१, छत्रसेन २२१, सटवा २२२, नीबा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२२२, यादवसुत २२२, माणिकनंदि २२३, जिनसागर २२३, लक्ष्मीचन्द्र २२५, सया २२५, सोयरा २२५, यमासा २२६, तानू पंडित २२६, न्याहाल २२७, रतन २२७, दिनासा २२७, वृषभ २२७, देवेन्द्रकीर्ति-शिष्य २२७, अनन्तकीर्ति २२८, जनार्दन २२८, भीमचन्द्र २२८, राघव २२८, कवीन्द्रसेवक २२९, बोप २३०, महतिसागर २३०, दयासागर (द्वितीय) २३१, रत्नकीर्ति २३१, चन्द्रकीर्ति २३२, नागेन्द्रकीर्ति २३२, दिलसुख २३२, माणिक २३३, जिनसेन २३३, लक्ष्मीसेनशिष्य २३३, ठकाप्पा २३३, तुकुजी २३४, राया २३४, कुछ अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ २३४,

अध्याय ३ वर्तमानकालीन मराठी जैन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ २३५–२४८

सेठ हिराचंद दोशी २३५, चवडे बन्धु २३६, कृष्णाजी नारायण जोशी २३६, नाना रामचन्द्र नाग २३६, कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे २३७, तात्या नेमिनाथ पांगळ २३७, जीवराज गौतमचन्द दोशी २३७, दत्तात्रय भिमाजी रणदिवे २३८, रावजी नेमचन्द शहा २३९; तात्या केशव चोपड़े २३९, रावजी सखाराम दोशी २३९, जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले २४०, कंकुबाई २४१, आचार्य श्री आनन्दऋषि जी २४१; मोतीचन्द हिराचन्द गांधी २४१, आबगौंडा भुजगौंडा पाटील २४२, अप्पाभाई मगदूम २४२, शान्तिनाथ यशवन्त नान्द्रे २४२, सुमेर जैन २४२, सुभाष अक्कोळे २४३, अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ २४३, पत्रिकाएँ २४७, उपसंहार २४८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. कन्नड साहित्य का आरम्भकाल

कन्नड में साहित्य-निर्माण का कार्य कब से प्रारम्भ हुआ यह कहना कठिन है। कन्नड़ के शिलालेख ई० सन् छठीं सदी से ही मिलते हैं। इससे पहले के शिलालेख संस्कृत प्राकृत में उपलब्ध हुए हैं। ये शिलालेख गद्य में हैं और आकार में छोटे हैं। एक-दो ही शिलालेख पद्य में मिले हैं। ई० सन् ९वीं सदी के अर्थात् पंपयुग के उत्तरकाल के कन्नड के शिलालेख गद्य-पद्य की काव्य-शैलियों में उपलब्ध हुए हैं जो कि आकार में भी बड़े हैं। राष्ट्रकूटनरेश नृपतुंग ई० सन् ८१७ से ८७७ तक शासन करते रहे। इनका कविराज-मार्ग ही कन्नड का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि कन्नड भाषा में मधुरता, कुंतल देश के कोपण एवं पुलिगेरे की बोली के संपर्क से आयी है। उस समय कन्नड में वेदण्डे, चत्ताण नामके काव्य भेद ही थे और कन्नड में गद्य-पद्य की शैलियों के रचनाकार भी मौजूद थे। कविराज-मार्ग में कतिपय कवियों के नाम मिलते हैं और उदाहरण के तौर पर कुछ उद्धरण भी। इससे मालूम होता है कि ई० सन् ९वीं सदी से पूर्व भी कन्नड में ग्रंथ अवश्य रचे गये थे।

पंप, पोन्न, रन्न आदि जैन महाकवि १०वीं सदी में हुए हैं। पर इनकी कृतियों से पूर्ववर्ती रचनाओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ये किसी पूर्ववर्ती रचनाकार का उल्लेख भी नहीं करते। केवल पोन्न असग नाम के कवि का उल्लेख करता है। पंप ने बड़े गर्व से अवश्य कहा है कि मेरी रचनाओं की तुलना में पूर्ववर्ती काव्य नीरस हैं। उसने आत्मविश्वास के साथ यह भी घोषित किया है कि पूर्व का कोई कवि महाभारत का समीचीन वर्णन करने में समर्थ नहीं हुआ है। पंप-प्रणीत विक्रमार्जुनविजय में महाभारत के समस्त उपाख्यान वर्णित हैं, जबकि रन्न-रचित गदायुद्ध एक उपाख्यान पर ही आधारित काव्य है। अतः यही अनुमान लगाया जा सकता है कि पंप पूर्व-युग में कन्नड में महाभारत की कथा पर आधारित कोई उल्लेखनीय काव्य नहीं था। पर नृपतुंग के उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आरंभिक युग में कोई राम-काव्य अवश्य रहा होगा।

कन्नड में ईसा की छठीं शताब्दी से पहले न कोई शिलालेख था, न कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना थी और न कोई अन्य प्रकार के लेख ही थे। यह कहना कठिन ही है कि नृपतुंग की रचनाओं में जिन कवियों का उल्लेख किया गया है वे इससे पूर्वकाल के थे और उस काल में अपनी काव्य-रचना किया करते थे। उनकी रचनाएँ प्रायः परिमाण अथवा गुण की दृष्टि से ऊँचे स्तर की नहीं रही होंगी। दण्डी के अलंकारग्रंथ के आधार पर नृपतुंग ने कविराजमार्ग लिखा था। इसमें संदेह नहीं है कि पंप की रचनायें परवर्ती कवियों के लिए आदर्श कृतियाँ सिद्ध हुईं। अतः कन्नड के आदिकवि का सम्मान पंप को प्राप्त है।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी यही स्थिति है। कहा जाता है कि द्रविड परिवार से तेलुगु पहले ही अलग हो गई। तमिल, कन्नड और मलयालम ये तीनों भाषायें कुछ समय तक साथ थीं। बाद में ये भी स्वतंत्र हो गईं और स्वयं अपनी अलग सत्ता बनाने लगीं। लगभग ई० सन् पाँचवीं-छठीं सदी में कन्नड भाषा स्वतन्त्र हुई होगी और कन्नड प्रदेश के नरेश इसे प्रोत्साहन देने लगे होंगे। परन्तु विद्वानों की राय है कि ईसा से पूर्व ही बनवासि में कन्नड का कोई रूप अवश्य प्रचलित रहा होगा। कहा जाता है कि दूसरी सदी के एक यूनानी नाटक में कन्नड वाक्य उपलब्ध होते हैं। किन्तु नृपतुंग द्वारा दिये गये उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि उस युग में कन्नड भाषा अनगढ़ ही थी।

इसमें संदेह नहीं है कि कन्नड साहित्य प्रारम्भ से ही संस्कृत साहित्य से स्फूर्ति ग्रहण करता आया है। कन्नड पर संस्कृत भाषा का प्रभाव भाषा तथा साहित्य दोनों दृष्टियों से निर्विवाद है। अब यह धारणा भी पुष्ट होती जा रही है कि लगभग छठीं सदी से पहले कन्नड में ग्रंथ-निर्माण नहीं हुआ होगा। नृपतुंग के शासनकाल तक आते-आते संस्कृत-साहित्य ह्रासोन्मुखी हो उठा था। हाँ, उस समय महाभारत, भागवत, हरिवंश, रामायण और विभिन्न पुराण आदि ग्रंथ सुविख्यात थे। शिक्षित समाज में कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, भट्टनारायण, भर्तृहरि, बाण और सुबंधु जैसे कवि एवं भरत, दण्डी, वामन आदि आलंकारिक सुपरिचित हो गये थे।

उस युग में संस्कृत की स्फूर्ति और प्रोत्साहन से कन्नड भाषा रूपी बालिका भावभंगिमाओं के साथ नाचने लगी थी। नृपतुंग और पंप की देख-रेख में वह बालिका उत्तरोत्तर बढ़ी। इनकी रचनाओं में संस्कृत की भरमार ही इसका पुष्ट प्रमाण है। नृपतुंग गद्य-शैली के लिए बाण-विरचित हर्षचरित, कादम्बरी आदि को आदर्श बताते हैं। इसी प्रकार पद्य-शैली के लिए वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नारायण, भारवि, कालिदास और माघ आदि संस्कृत कवियों के नामों का गौरव के साथ उल्लेख करते हैं। संस्कृत कवियों का उल्लेख पंप की रचनाओं में नहीं मिलता। किन्तु श्रीहर्ष, कालिदास, भारवि, बाण, भट्टनारायण आदि संस्कृत-कवियों के भाव तथा शिल्प पंप की कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। रचना-तंत्र में कालिदास से अपने को सौगुना बढ़ा-चढ़ाकर कहने में पोन्न संकोच नहीं करता है। हाँ, रन्न ने बड़ी नम्रता से रामायण, महाभारत के कवियों और पद्य-शैली में कालिदास, गद्यविधान में बाण आदि के प्रति अभिनंदन के साथ आदर भी व्यक्त किया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आरंभिक कन्नड कवि संस्कृत के विख्यात रचनाकारों का अवश्य अनुसरण करते आये हैं।

भाव, रीति और वस्तु के अतिरिक्त कन्नड कवियों ने संस्कृत के छन्द भी अपनाये हुए थे। रामायण, महाभारत, रघुवंश और इतर नाटक आदि संस्कृत की श्रेष्ठ रचनाओं में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, मालिनी और आर्या बड़े लोकप्रिय छन्द थे। नृपतुंग, नागवर्म और केशिराज ने जो उद्धरण दिये हैं, उस आधार पर पूर्वोक्त निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वर्णवृत्तों में अनेक प्रयोग करने के बाद उन्हें कन्नड की प्रकृति के अनुकूल न देखकर कवियों ने उनका परित्याग कर, कंद,* चंपक माला, षट्पदि आदि का प्रयोग आरंभ किया होगा। कालान्तर में जब संस्कृत में चंपूशैली लोकप्रिय हुई तो कन्नड के जैन कवियों ने भी इस काव्यविधा को खूब अपनाया।

संस्कृत की काव्यपरम्परा से अनुप्राणित होकर कन्नड काव्य के सुनि- सम्यक् रूप धारण करने के पूर्व कन्नड प्रदेश में संस्कृत भाषा द्वारा प्रचारित सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव कम नहीं था। यह प्रभाव ईसा पूर्व तीसरी सदी से ही देखने में आता है। चित्रदुर्ग के आसपास उपलब्ध अशोककालीन प्राकृत अभिलेख ही इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं। आरंभ में संस्कृत तथा प्राकृत राज्याश्रित भाषायें थीं। धीरे-धीरे यह गौरव देशी-भाषाओं को प्राप्त हुआ। कन्नड भी काव्योपयोगी मानी गई। अशोक के ये अभिलेख ब्राह्मी-लिपि में हैं। इसी ब्राह्मी से कन्नड लिपि का विकास हुआ होगा। कन्नड में प्राकृत की पदावलियाँ यथेष्ट हैं। वैयाकरणों के कथनानुसार ये पद संस्कृत से अपभ्रंश की अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व के हैं। इन पदों का विकास धर्म, दर्शन, सभ्यता और इतिहास आदि से संबद्ध था।

---

*कन्नड का अपना छंद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कन्नड प्रदेश में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म प्रमुख थे। हाँ, शुरू में ब्राह्मणों ने धर्म-प्रचार करने के लिए देशी भाषा का व्यवहार नहीं किया। उनका कार्य संस्कृत में ही चलता रहा। बौद्धों ने देशी भाषा का व्यवहार किया होगा। पर उस युग में प्राकृत का ही सर्वाधिक प्रचार था। कन्नड में बौद्धों ने कुछ लिखा था या नहीं; इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यदि उन्होंने कन्नड में कुछ लिखा भी हो तो ८वीं-९वीं सदी तक बौद्ध धर्म के दक्षिण में लुप्तप्राय हो जाने के कारण, उनके विहारों के साथ ये रचनायें भी कालकवलित हुई होंगी। आज उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम इतना निस्संदेह कह सकते हैं कि जैन धर्म-संबंधी साहित्य कन्नड में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। आरंभ में इन ग्रंथों का रूप वीरशैवधर्मकालीन वचनशैली में रहा होगा जिसमें सिद्धान्त के निरूपण तथा दर्शन संबंधी व्याख्या को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। उस समय तीर्थंकरों की कथायें और पुराण पुरुषों की जीवनियाँ चरितकाव्य की शैली में रची गई होंगी। कन्नड जैन कवियों ने रामायण, महाभारत और हरिवंश का वर्णन जैन संप्रदाय के अनुसार ही किया है। विद्वानों की राय है कि प्रथम से आठवीं सदी तक जैनाचार्यों ने शास्त्रार्थ में अन्य धर्मावलंबियों को पराजित कर राजाओं से द्वारा विशेष रूप से सम्मान प्राप्त किया था। समंतभद्र, कवि परमेष्टि, पूज्यपाद, अकलंक आदि अनेक आचार्य ऐसे हैं जिनका गुणगान जैन कवियों ने मुक्तकंठ से किया है। खेद है कि इनकी कोई रचना आज तक कन्नड में दिखाई नहीं देती।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ईसा की छठी-सातवीं सदी तक कन्नड प्रदेश में संस्कृत का ही प्रचार था और संस्कृत में ही धर्म के उद्‌बोधन का कार्य होता रहा। इतिहास, पुराण, कथावृत्त में ही उपलब्ध थे। आरंभ में संस्कृत और प्राकृत की पदावलियों से देशी-भाषा चेतना-संपन्न बनाई गई थी। यह तैयारी पूरी होते ही कन्नड में काव्य-निर्माण का आरंभ हुआ।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि संस्कृत साहित्य के प्रचार से पहले दक्षिण-भारत में अर्थात् दक्षिण के निवासियों में क्या कवि-प्रतिभा ही नहीं थी? उस प्राचीनतम काल में भले ही भाषा एक ही रही हो अथवा चार-पाँच, परन्तु जनता में सभ्यता का प्रचार अवश्य हुआ था। इसके लिए इतिहासकार विपुल प्रमाण उपस्थित करते हैं। उस युग में कन्नड केवल जन-बोली ही नहीं रही होगी अपितु उसमें काव्य-रचना भी होती रही होगी। हो सकता है कि उसका मौखिक रूप ही रहा हो, लिखित रूप में कुछ भी प्राप्त न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संभव है कि वह स्मृति-परंपरा में सुरक्षित भी रहता आया हो, किन्तु धीरे-धीरे उत्तम साहित्य का प्रभाव छा जाने से देशी-भाषा की कविता का अस्तित्व लुप्त हो गया हो। यह केवल कन्नड की ही बात नहीं है, अन्य कई भाषाओं के आदिम रूप की भी यही दशा दिखाई देती है। कन्नड में आरंभ में लघु रचनायें ही बनी होंगी और पद्य-शैली में ही इनका निर्माण हुआ होगा। कन्नड क्षेत्र में पहेलियाँ, फसल कटाई, मद्यपान, विवाह और मृत्यु आदि विषयों पर अनेक लोकगीत आज भी उपलब्ध हैं।

लोकगीतों में युद्ध का और कलह का भी वर्णन होता था। इनमें रोचक एवं प्रसंगोचित लघुकथायें भी रही हैं। इन्हीं से उस युग की कविता के लिए सामग्री सुलभ हुई होगी। आज समाज में प्रचलित लोकगीत प्राचीन लोक गीतों के ढर्रे पर ही चल पड़े होंगे। स्त्रियाँ धान कूटते समय ये गीत गाया करती थीं। हाँ, इन गीतों के रचयिता काव्य के लक्षणों से अवश्य अपरिचित थे। ऐसे व्यक्तियों को शास्त्रीय परम्परा के अनुयायी दुष्कवि कहा करते थे और उनकी उपेक्षा ही करते थे। अहंमन्य कवियों के हास-परिहास के परिणाम स्वरूप ये लोकगीत उपेक्षित हो गये और इनका अस्तित्व नहीं रह सका। हाँ, इनके अस्तित्व के प्रमाण अवश्य रह गये। कवि संस्कृत और प्राकृत में ही नहीं; द्रविड़ देशी-भाषाओं में भी काव्य-निर्माण किया करते थे। इनके रूप, भाव और बन्ध स्वतन्त्र होते थे।

शिक्षित समाज में उस समय धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रंथ, आख्यान आदि ही प्रचलित थे। पर जनता में, विशेषतः स्त्रियों में, देशी-भाषाओं के छन्दों में उपलब्ध रचनायें ही लोकप्रिय थीं। धीरे-धीरे लोकभाषा के ये नमूने शिष्ट साहित्य के लक्षण ग्रंथों में भी स्वीकृत होते गये। लक्षणकारों के अनुसार देशी; मार्गी के भेद का यही आधार प्रतीत होता है। जैन साहित्य की अपेक्षा जब वीरशैव साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा तब इन वीरशैव कवियों ने इन्हीं देशी छन्दों का प्रयोग किया और इन्हें साहित्यिक गौरव प्राप्त हुआ।

नागवर्मरचित छन्दोम्बुधि में ये छन्द संस्कृत के छन्दों से पृथक वर्णित मिलते हैं। ब्रह्म, विष्णु और रुद्र इन तीन अक्षरों से इनका निर्माण हुआ है। इनमें प्रास का निर्वाह तो हुआ है, पर यति का कोई नियम नहीं रहा। द्विपदी, त्रिपदी, चौपदी, अक्करगीतिका (अक्षरगीति का), एळे, षट्पदी,[1] आदि

१. कन्नड के छन्द।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी कोटि के छन्द हैं। ताल व लय के अनुसार ये गाये जा सकते हैं। इनके प्रभाव से प्राकृत के छन्दों से प्राप्त कंद, रगळे[1] कन्नड की प्रकृति के अनुकूल लगे। ये मात्रागण हैं और गेय हैं। अतः संस्कृत और प्राकृत से विरासत में मिले पद्यवृत्तों पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

प्रास का निर्वाह तथा यतिभंग इनके साधारण लक्षण हो गये थे। कई शिलालेख इसी छन्द में मिले हैं। लगभग ७०० ई० में रचित वादामी के शिला-लेख त्रिपदी में हैं।

साधुगे साधु माधुर्यंगे माधुर्यं
बाधिप्प कलिगे कलियुग विपरीतं
माधवनीतन् पेरनल्ल ॥

[साधु के लिए साधु, मधुर के लिए मधुर, सतानेवाले कलि के लिए कलियुग का परम विरोधी यह माधव असाधारण है]

कट्टिद सिंधमन् कॆट्टोदे, नॆमगेन्दु
बिट्टबोल् कलिगे विपरीतंगहितर्क्कळ
कॆट्टर् मेण् सत्तरविचारं ॥

[बंधन में पड़े सिंह को कोई इस विचार से बंधनमुक्त कर दे, कि अपना तो इससे कोई नुकसान नहीं। हाँ, इसकी उपेक्षा करो तो इससे दूसरों का बड़ा अहित होना निश्चित है। दूसरों को मृत्युमुख में जाना पड़ता है।]

श्रवणबेळगोळ में ई० सन् ९४२ में उत्कीर्ण शिलालेख इस प्रकार अक्कर-छन्द में हैं—

ओलगं दक्षिणसुकरदुष्करमं पोरगण सुकरदुष्करमेदमं
ओळगे वामदविषममनल्लिय विषमदुष्करमनिन्नदरपोरग।
गलिकेयॆनिपति विषममनदरति विषमदुष्करमेवदुष्टरं
एळेयोळोर्वंनॆ चारिसल् बल्लं नाल्कु प्रकरणमनिन्द्रराजं ॥

[मन के भीतर अनुकूल सरल और जटिल हैं, बाहर भी सरल और जटिल का भेद है। भीतर प्रतिकूल विषमता है। इसके बाहर विषम जटिलता भी है। इनसे ऊपर विषमतर और विषमतम जटिलता है। इन चारों अवस्थाओं को आदि में ही रोकनेवाला एकमात्र समर्थ व्यक्ति है इन्द्रराज।]

---

१. कन्नड के छन्द।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नृपतुंग ने अनुष्टुप् का जो उद्धरण दिया है उसमें प्रास का निर्वाह है—

तारा जानकियं पोगि
तारा तरळनेत्रेयं ।
ताराधिपतितेजस्वी
तारदिविजोदया ॥ २.१२८ ॥

पेरनावं धराचक
क्के रेयं केळेयप्पवं ।
नेरेयारेणेयेंबन्नं
कुरितब्धिगे बन्नमं ॥

[जानकी को साथ बुला ले जाओ । चंचल नेत्रवाली को साथ ले जाओ । चन्द्रमा के समान तेजस्वी विजय का सन्देश लाओ । धरित्री के लिए दूसरा कौन बड़ा है ? कौन साथी है ? कौन सहारा है ? कौन बराबर है ?·····]

पंप के समय तक अनुष्टुप् जैसे वृत्त लुप्तप्राय हो गये थे । उस वक्त वृत्त और कंद दोनों प्रमुख माने जाते थे । चंपूकाव्यों में ये छन्द प्रयुक्त मिलते हैं, पर विरल ही । गीत, आखेट, नगरवर्णन, स्त्रीवर्णन, विवाह और गीत आदि के लिए त्रिपदी, अक्कर और रगळे का ही प्रयोग होता रहा । चंपू और चरित आदि काव्यों में लोकगीतों की धुन का समावेश हुआ, जिन्हें संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में कोई स्थान नहीं मिला है ।

इस विस्तृत विवेचन का यही आशय है कि लगभग ई० सन् छठीं-सातवीं सदी तक कन्नड प्रदेश में संस्कृत में वर्णित धर्म, सभ्यता तथा साहित्य का प्रचार था । इससे कन्नड भाषा परिपुष्ट होने लगी तथा उसमें कविता रची जाने लगी । आरम्भ में संस्कृत का प्रभाव व्यापक था । उस समय भी ठेठ भाषा में देशी छन्दों में रचनायें अवश्य हुई होंगी, पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं । हो सकता है कि उस युग के ग्रंथों में ये लोकगीत छाया के रूप में रहकर वीरशैव साहित्यकारों की कृपा से पुनरुज्जीवित हुए हों । लगभग सातवीं से दसवीं सदी के बीच उपलब्ध ग्रंथों पर शिलालेखों के आधार पर कन्नड साहित्य की ऐतिहासिक रूपरेखा निम्न प्रकार दी जा सकती है—

शिलालेखों एवं भट्टाकलंक और देवचन्द्र के अनुसार; श्रीवर्धदेव और नृपतुंग के अनुसार, दुर्विनीत, श्रीविजय, केशिराज, मल्लिकार्जुन और विद्यानन्द के अनुसार । श्रीविजय, असग, गुणनंदि और गुणवर्म इस युग के मुख्य कवि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माने जाते हैं। ये सभी जैन-धर्मावलम्बी थे। इनकी कृतियाँ दो रूपों में मिलती हैं। सिद्धान्तप्रतिपादक तथा तीर्थंकरवृत्तात्मक। तत्कालीन रचनाओं के अवलोकन से नृपतुंग को उनमें जो त्रुटियाँ दिखाई दीं, उन्हें दूर कर परवर्ती कवियों का मार्गदर्शन करने के लिए उसने 'कविराज मार्ग' नामक लक्षणग्रन्थ रचा होगा। प्रत्येक जैन कवि का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

श्रीवर्धदेव (लगभग ६९० ई०)

नृपतुंग ने इनका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु ई० सन् ११२९ में उत्कीर्ण श्रवणबेळगोळ के ६७वें शिलालेख में उल्लेख है कि इन्होंने चूडामणि-काव्य रचा था और दण्डी ने इनका गुणगान किया था। कवि दण्डी सातवीं सदी में हुए थे। अतः ये भी उसी समय के मालूम होते हैं। भट्टारक अकलंक ने (१६०४ ई०) कन्नड की महिमा का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा है कि 'चूडामणि' तत्त्वार्थ महाशास्त्र की व्याख्या है और इसके रचयिता ९६ हजार ग्रन्थों के निर्माता हैं। देवचन्द्र (१८३० ई०) लिखते हैं कि तुंबुलूर नामक आचार्य २४ हजार ग्रंथों के रचयिता हैं और इन्होंने कन्नड में चूडामणि की व्याख्या भी लिखी है। चामुण्डराय ने (९७८ ई०) तुंबुलूराचार्य नामक गुरु का स्तवन किया है। हाँ, इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं है कि चूडामणि-काव्य और चूडामणि-व्याख्या एक ही ग्रंथ है या भिन्न-भिन्न।

दुर्विनीत, श्रीविजय

नृपतुंग के अनुसार विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत, श्रीविजय और कवीश्वर आदि कन्नड के कई कवि हुए हैं। ये सभी जैन ही मालूम होते हैं। अभिलेखों से विदित होता है कि दुर्विनीत गंगराज थे। दुर्विनीत सातवीं सदी के आरम्भ में जीवित थे और इनके दरबार में कुछ काल तक कवि भारवि रहे थे। भारवि-रचित किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग की व्याख्या दुर्विनीत ने ही की है।

श्रीविजय का उल्लेख केशिराज ने भी किया है। दुर्गसिंह ने (११४५ ई०) श्रीविजय की कविता को कवियों के लिए दर्पण एवं दीपक बताया है। मंगरस (१५०८ ई०) और दोड्डय्य (१५५० ई० लगभग) इन दोनों का कहना है कि श्रीविजय ने 'चन्द्रप्रभपुराण' चंपूशैली में लिखा है। कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि श्रीविजय ने ही नृपतुंग के उपनाम से कविराजमार्ग का प्रणयन किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नृपतुंग (८१४–८७७ ई०)

ये राष्ट्रकूटवंश के राजा थे। मान्यखेट इनकी राजधानी थी। अमोघवर्ष और अतिशयधवल नृपतुंग की उपाधियाँ थीं। संस्कृत के 'आदिपुराण' के रचयिता जिनसेन इनके पूज्य गुरु थे। 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका'[1] नामक संस्कृत ग्रन्थ में इन्होंने लिखा है कि विरक्त हो, मैंने स्वयं राज्य का परित्याग किया है।

कविराजमार्ग इनका लक्षणग्रन्थ है। इसमें दोषादोषानुवर्णननिर्णय, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार नाम के तीन परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद के अंत में 'नृपतुंगदेवानुमतं' अंकित है। आश्चर्य है कि इसमें 'कृतम्' न होकर 'अनुमतम्' है। परिच्छेद के अंतिम पद्य में 'श्री विजयप्रभूतम्' लिखा मिलता है। साथ ही साथ ग्रन्थ के अंत में 'नृपतुंग के सभासद द्वारा कथितकाव्यम्' कहा है। इन्हीं कारणों से विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि श्रीविजय नृपतुंग के सभासद थे और इन्होंने ही नृपतुंग के नाम से यह ग्रन्थ लिखा होगा। कुछ लोगों की यह भी राय है कि कविराजमार्ग के रचयिता श्रीविजय नहीं, किन्तु कवीश्वर हैं।

नागवर्म और भट्टारक अकलंक इन दोनों की मान्यता है कि नृपतुंग ही कविराजमार्ग के प्रणेता हैं। अगर ग्रंथ श्रीविजय या कवीश्वर के द्वारा निर्मित होता तो स्पष्ट रूप से अपने ही नाम 'परम श्रीविजय' या 'कवीश्वर' देने में कोई रोक तो थी नहीं। संस्कृत में नृपतुंग-प्रणीत एक ग्रंथ है भी। कविराजमार्ग मौलिक ग्रंथ नहीं है। दण्डी के ग्रंथ का कन्नड रूपान्तर है। दण्डी की मान्यताओं से सहमत होने के नाते ग्रंथ में 'अनुमतम्' लिखा होगा। नहीं तो वे 'कृतम्' ही का प्रयोग कर सकते थे। इन्हीं कारणों से कविराजमार्ग के रचयिता नृपतुंग ही ठहरते हैं, श्रीविजय या कवीश्वर नहीं।

इस ग्रंथ में अलंकारशास्त्र का निरूपण तो हुआ ही है, साथ ही साथ उस युग की कन्नड के सम्बन्ध में जो तथ्य यहाँ उपलब्ध होता है, वह साहित्य के इतिहासकार की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें कन्नड भाषा की भौगोलिक सीमा के बारे में उल्लेख है 'कन्नड प्रदेश कावेरी से

---

१. विशेष जिज्ञासु 'वीरवाणी' वर्ष २२, अंक १३-१४. (जयपुर) में प्रकाशित मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोदावरी तक फैला है।' इससे स्पष्ट है कि उस युग में महाराष्ट्री भाषा ने कर्नाड को और दक्षिण में नहीं ठेला था। ई० सन् १७वीं सदी के कवि नंजुण्ड ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'कावेरी से गोदावरी तक वसुन्नातल में फैला कन्नड जनपद (कर्णाटक जनपद) वर्णनातीत है।'

कविराजमार्ग में कन्नड जनपद के मध्यवर्ती भाग अर्थात् पट्टकल्लु कोघल, लक्ष्मेश्वर आदि को शुद्ध कन्नड प्रदेश माना गया है। इसी प्रकार कन्नड भाषा-भाषियों को सूक्ष्म बुद्धिसंपन्न तथा काव्यगत दोषों को पहचानने में तीक्ष्णमति कहा गया है। साथ ही साथ इसमें कन्नड भाषा के उत्तर-दक्षिण दो भेद भी बताये गये हैं। उदाहरणस्वरूप इसमें अलग-अलग शब्दभेद भी निरूपित हैं। बेदंडे तथा चत्ताण नाम की द्विविध पद्यशैलियों का उल्लेख भी किया गया है। कन्द, वृत्त या एक-एक जाति का नाम बेदंडे एवं कई कन्द, वृत्त, अक्षर, चौपदी, गीतिका और त्रिपदी आदि का नाम चत्ताण कहा गया है। कविराजमार्ग की भाषा पुरानी कन्नड है। कन्द ही इसमें प्रयुक्त प्रधान छन्द है। इसमें गीतिका और संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग विरल है और प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में गद्य का व्यवहार परिलक्षित होता है। कन्नड का आद्य ग्रन्थ कविराजमार्ग कन्नड साहित्य के इतिहास की नांदी होकर आगे की कन्नड परम्परा के धैर्योत्साह के लिए आकर हुआ। वस्तुतः यह ग्रन्थ कन्नड भाषा-भाषियों के लिए गौरव की वस्तु है। इसमें तत्कालीन कन्नड भाषा-भाषियों का परिचय बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया गया है। किसी भी भाषा में एक लक्षण ग्रन्थ रचा जाने के पूर्व उस भाषा में अन्यान्य ग्रन्थों का रचा जाना भी सर्वथा अनिवार्य है। इस नियमानुसार नृपतुंग ने अपनी बहुमूल्य कृति में अपने से पूर्व के अनेक कवियों के केवल नाम ही नहीं दिये हैं, बल्कि उन पूर्व कवियों के पद्य भी उद्धृत किये हैं।

असग, गुणनन्दि और गुणवर्म

केशिराज के व्याकरण में इन कवियों का उल्लेख मिलता है। पोन्न कवि का कथन है कि असग कन्नड कवियों में सौगुने प्रतिभाशाली थे। गुणनन्दि और गुणवर्म का काल ई० सन् ९०० माना गया है। नृपतुंग ने इन कवियों का उल्लेख नहीं किया है। अतः ये परवर्तीकाल के प्रतीत होते हैं। मल्लिकार्जुन ने अपने 'सूक्तिसुधार्णव' में कहा है कि गुणनन्दि के उदाहरण मेरे इस ग्रन्थ में दिये जा रहे हैं। गुणवर्म नाम के दो व्यक्ति माने गये हैं। जन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि (१२०९) ने एक गुणवर्म का तथा नयसेन (१२१२ ई०) ने दूसरे गुणवर्म का गुणगान किया है। यहाँ पर गुणवर्म प्रथम (९०० ई०) का वर्णन किया गया है।

केशिराज ने गुणवर्म को 'हरिवंश' का रचयिता माना है। इसी ग्रन्थ को पार्श्व ने 'नेमिनाथपुराण' कहा है। 'भुवनैकवीर' इनका दूसरा ग्रन्थ है। विद्यानन्द के काव्यसार में बताया गया है कि 'शूद्रक' नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का है। इसमें गंगराज ए्रेयप्प (८८६-९१३ ई०) की तुलना शूद्रक से की गई है। गंगराज की महेन्द्रांतक, कामद आदि उपाधियाँ थीं। यह उल्लेखनीय है कि अपने आश्रयदाता के गुणगान में प्रत्येक जैन कवि एक लौकिक काव्य और तीर्थंकरों की जीवनी से संबद्ध दूसरा धार्मिक काव्य प्राय: लिखता आ रहा है। इस परम्परा के प्रवर्तक गुणवर्म माने गये हैं। परवर्ती कवि पम्प, पोन्न और रन्न ने यही पद्धति अपनाई है। पम्प से पहले ही कन्नड में चम्पू शैली में सफल ग्रंथ रचने का श्रेय गुणवर्म को प्राप्त है।

शिवकोट्याचार्य

पंप से पहले शिवकोट्याचार्य का नाम आता है। यह 'वड्डाराधनु' के रचयिता हैं। कन्नड साहित्य की यह असाधारण रचना मानी गई है। कन्नड का प्रथम गद्यकाव्य यही है। इसमें २९ मनोरंजक कहानियाँ हैं। प्रत्येक कहानी के आरम्भ में एक प्राकृत गाहा (गाथा) है। षट्पदी काव्यों में सूचक पद्य की तरह यह गाहा कहानी का सार बता देती है। इन गाहाओं का कन्नड में अर्थ देते हुए कवि काव्य को प्रारम्भ करता है। इसकी वर्णन शैली बड़ी रोचक और मन को मोह लेनेवाली है। पद-योजना भी बेजोड़ है।

संवाद-शैली सधी हुई है और यह कहानी की गति को बढ़ाने में सफल है। काव्य की सरस, सत्त्वपूर्ण देशी शैली शिवकोट्याचार्य की प्रतिभा को प्रतिबिंबित करती है। प्राध्यापक डी० एल० नरसिंहाचार्यजी का कहना है कि बड्डाराधने का दूसरा नाम 'उपसर्ग केवलियों की कथा' रहा है। प्रत्येक कहानी का नायक एक-न-एक उपसर्ग के कारण देह त्यागने को प्रस्तुत होकर स्वर्ग पहुँचता है। कहानी में यही वृत्त होने से यह नाम सार्थक हुआ है। संल्लेखनाव्रत के द्वारा समाधि को प्राप्त करनेवालों के लिए ये कथाएँ विरक्ति को जगाने में पूर्ण सहायक हैं। यही नहीं, इस रचना में उस युग की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा शैली के सुन्दर नमूने भी मिल जाते हैं। कन्नड साहित्य का यह महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ अपने युग का सांस्कृतिक जीवन चित्रित करने में भी सफल हुआ है। 'कविराजमार्ग' में इस अनुपम कृति का उल्लेख नहीं है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि पम्पपूर्व युग में अर्थात् सन् ९२०-९३० ई० के लगभग इसका प्रणयन हुआ होगा। इसमें पुरानी कन्नड के प्रयोग सहज एवं सुन्दर ढंग से मोती-सदृश पदों के द्वारा व्यक्त किये गये हैं। संक्षेप में यही पंपपूर्वयुग के जैन साहित्य का इतिहास है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. पंपयुग

इस युग के साहित्य में वर्णित जनजीवन उच्च वर्ग तक सीमित था। राजदरबार या कहीं-कहीं सैनिकों का जीवन भी यहाँ अंकित मिलता है। इस युग की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ भी प्रौढ़ रचनाओं के निर्माण के लिए प्रेरक सिद्ध हुईं। ईसा की दसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रकूट वंश के नरेश शक्तिशाली हुए। इस सदी के अंत तक वे उत्कर्ष को प्राप्त होते गये। साहसा उनका वैभव लुप्त हो गया। हाँ, वेमलवाड़ के चालुक्य तथा दक्षिण के गंग वंश के राजा बराबर राष्ट्रकूट राजाओं की सहायता करते रहे। ई० सन् ग्यारहवीं सदी में कल्याणी में चालुक्य प्रबल हुए। चोल वंश के साथ इनका संघर्ष बराबर जारी रहा। चोलों के प्रताप के कारण गंगराज्य का पतन हो गया। अकेले चालुक्य राज्यकुल पर कर्णाटक की रक्षा का भार आ पड़ा। राजकुल की आपसी फूट के कारण यह वंश कुछ समय तक दुर्बल अवश्य था, किन्तु जब विक्रमादित्य षष्ठ अपने भाई को कैद कर ई० सन् १०७६ में गद्दी पर विराजमान हुआ, तब से कर्णाटक का भाग्य फिर चमकने लगा। वह एक के बाद एक कई युद्धों में विजयी हुआ। साथ ही साथ कर्णाटक का साम्राज्य विस्तृत होने लगा। इसके बाद चालुक्य वंश का वैभव घटने लगा और बारहवीं सदी के अन्त तक होय्सल साम्राज्य की नींव पड़ते ही चालुक्य लुप्त हो गये।

कर्णाटक में राजनैतिक परिस्थिति के अनुरूप शस्त्रास्त्रों की झंकार भी सुनाई पड़ी। युद्ध का नाम सुनते ही संभवतः जन-जन की भुजाएँ फड़क उठती रही होंगी। उस वक्त नगर या गाँव की रक्षा के लिए, स्त्रियों की लज्जा बचाने के लिए, चौपायों की रक्षा के लिए प्राण त्यागने का संकल्प सानंद लोग करते रहे। वीरों की अगणित स्मारक-शिलायें ही इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। ये शिलायें कर्णाटक में सर्वत्र मिलती हैं। वीरों की यह धारणा हो गयी थी कि युद्ध में प्राण त्यागने पर स्वर्ग मिलेगा। यह धारणा उस युग के शूर-वीर शासकों के प्रोत्साहन से और भी दृढ़ हो गयी थी। उस युग के कवि कलम चलाने में ही नहीं, तलवार चलाने में भी प्रवीण थे। महाकवि ही नहीं थे, बड़े रणकुशल भी थे। नागवर्म, चामुण्डराय आदि भी बड़े प्रतापी थे। इसीलिए यह युग कन्नड साहित्य का 'वीरयुग' भी कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस युग की धार्मिक परिस्थिति भी बड़ी अव्यवस्थित थी। कर्णाटक में इस समय वैदिक और जैन इन दो ही संप्रदायों का प्रभुत्व था। इस युग के कर्णाटक के शासक अधिकांश वैदिक संप्रदाय के अनुयायी थे। परन्तु इन्होंने जैन-धर्म को भी प्रोत्साहित किया। धर्म के नाम पर कहीं भी वैर-विरोध नहीं दिखाई पड़ता था। दक्षिण में गंगवंश का विशेष प्रभुत्व था। उसके शासक जैन-धर्मावलंबी थे और वे इसकी प्रगति में विशेष अभिरुचि लेते थे। दसवीं सदी के अन्त में चामुण्डराय ने श्रवणबेळगोळ में गोम्मटेश्वर की बेजोड़ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की और धार्मिक एवं कला जगत् में इन्होंने अमरत्व प्राप्त किया। ग्यारहवीं सदी के आरंभ के साथ धर्म-संप्रदायों के बीच कटुता बढ़ती गई। चोलवंश के प्रताप के सामने गंगवंश का प्रभुत्व निस्तेज हुआ। जैन-धर्म का ह्रास भी अनिवार्य-सा हो गया। पर चालुक्यवंश के पौरुष के कारण चोल कुछ दबे-से रहे और जैन धर्म लुप्त होने से बच गया। परन्तु उसमें पहले जैसी कांति न रह गई। फलस्वरूप बारहवीं सदी में जैन साहित्य भी तर्क-बहुल और शास्त्रार्थप्रधान हो गया।

इस युग के अधिकांश कवि जैन थे। इसमें परम्परागत प्रौढ़ शैली के प्रबंध महाकाव्य ही लिखे गये। इन्हें मार्ग शैली के काव्य भी कहते हैं। चम्पू इस युग का प्रधान काव्य रूप होने से इस युग का नाम 'चम्पू-युग' भी है। चम्पू-काव्य-युग के 'रत्नत्रय' पंप, पोन्न, तथा रन्न माने जाते हैं। तीनों ही जैन थे। तीनों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में एक ओर लौकिक काव्य और धर्म के प्रचारार्थ दूसरी ओर धार्मिक काव्य लिखे हैं। इन रचनाओं में इन महापुरुषों के जीवनवृत्त भी बिखरे पड़े हैं। इन तीनों का विवेचन नीचे किया जाता है।

आदि कवि पंप

'विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई कन्नड भाषा में एकमात्र सत्कवि पंप हैं। धरती पर सम्राट, स्वर्ग में देवराज, पाताल में नागराज, गगन में रवि के समान पंप जगत् में वंदनीय है। उनकी कृपा से मुझे वाग्विलास सुलभ हो।' यह अभिलाषा व्यक्त करनेवाला निष्पक्ष कवि नागराज है जो आज से छः सौ वर्ष पहले हुआ था। इस स्तवन से आदि कवि पंप की अद्भुत प्रतिभा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। अन्य कवियों ने भी रस, भाव, व्यंजना, नादसौन्दर्य आदि गुणों का वरदान अपने-अपने काव्य में सहर्ष माँगा है। अन्य कोई कवि पंप के टक्कर का नहीं होने से 'कन्नड का एकमात्र कवि पंप है' यह लोकोक्ति प्रचलित है। 'कविता फरमाइश या पैसे के बदले नहीं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सृष्टि के सौभाग्य से बन जाती है।' कवि नागचन्द्र की यह उक्ति पंप पर ही चरितार्थ होती है। पंपसदृश सरस्वती की साधना में प्रवृत्त कवि विरल ही है।

कन्नड साहित्य का आदि कवि पंप ईसा की दसवीं सदी का प्रतिभासंपन्न विशिष्ट रचनाकार है। उसे नवयुग का प्रवर्तक भी माना जाता है। इसी युग में प्रबंधशैली का उत्कर्ष हुआ। अतः इस काल को कन्नड साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। लगभग दसवीं सदी के मध्य-काल से लेकर दो सदियों तक महाकवि एवं आदिकवि पंप का कन्नड साहित्य पर अमिट प्रभाव था। अतः इस युग का नाम 'पंपयुग' पड़ गया है। बारहवीं सदी के अंत में कन्नड साहित्य में कवि हरिहर का प्रादुर्भाव होता है और उसके साथ ही कन्नड साहित्य का 'नवयुग' आरंभ होता है। पंप के असाधारण कविव्यक्तित्व का प्रभाव इस युग में भी अवश्यक्र रहा है, फिर भी इन दोनों के बीच का काल ही कन्नड में पंपयुग के नाम से विख्यात है। इसी से आदिकवि पंप के कृतित्व की महिमा को जाना जा सकता है।

पंप की दो प्रधान रचनाएँ हैं—आदिपुराण और विक्रमार्जुनविजय। ये दोनों क्रमशः तीन तथा छः महीनों में पूरी हुई थीं। आदिपुराण तीर्थंकर की जीवनी से सम्बन्ध रखती है। इसमें आदि तीर्थंकर का जीवनचरित्र विस्तार से अंकित है। कई जन्मों में उन्होंने जो भोग का अनुभव किया था, उसकी स्मृति से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भोगलालसा का कोई अन्त नहीं है। न स्वर्ग में, न मर्त्यलोक में ही तृष्णा की पूर्ति हो पाती है। यह तृष्णा बुझे कैसे ? इन सब बातों का गहरा विचार करते हुए वे कैवल्य पद की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वन की ओर निकल पड़ते हैं। इसमें आदिनाथ के सुपुत्र भरत और बाहुबली के प्रसंग भी बड़े भावपूर्ण ढंग से अंकित किये गये हैं। आदिनाथ की दीक्षा के उपरान्त भरत सम्राट् हुआ। अपने चक्ररत्न के प्रताप से वह छहो खण्डों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ। परन्तु उसे अपने भाइयों का विरोध भी सहना पड़ा। भरत ने उन्हें अपने अधिकार में करना चाहा। परन्तु वे राज्यभोग से पूर्ण विरक्त होकर तप-साधना में लीन हो गये। भाइयों का यह वैराग्य भरत को विस्मयकारक प्रतीत हुआ। बाहुबली से लड़ते समय भरत दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध तथा मल्लयुद्ध तीनों में परास्त हुआ। अन्त में उसने बाहुबली पर चक्ररत्न का प्रयोग किया। इससे बाहुबली का कोई अहित नहीं हुआ। परन्तु बड़े भाई के इस व्यवहार से खिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर बाहुबली भी अपना विजित साम्राज्य छोड़कर वन में तपस्या के लिये चल पड़े। मुक्तियात्रा पर निकला यह जीव जन्मजन्मान्तर के संस्कार से परिष्कृत होकर क्रम-क्रम से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। जीव की इस अलौकिक यात्रा के सोपान इस काव्य या पुराण में सुन्दर ढंग से वर्णित हैं। इस रचना में कवि ने काव्य के साथ-साथ धर्मोपदेश भी दिये हैं। जैन धर्म के निरूपण में यह पुराण काव्य पूर्ण सफल हुआ है।

महाकवि पंप की दूसरी रचना विक्रमार्जुनविजय[1] एक लौकिक महाकाव्य है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता चालुक्य नरेश अरिकेसरी का गुणगान किया है। अरिकेसरी राष्ट्रकूटों का सामन्त था। उसे सामन्त चूडामणि माना जाता था। अरिकेसरी के स्नेह की कृपा से पम्प को विपुल वैभव, यश एवं सम्मान मिला। पुराण में प्रतिपादित कर्ण-दुर्योधन की और इतिहास में प्रतिपादित श्रीहर्ष-बाण मित्रता का जो आदर्श था, वही पम्प-अरिकेसरी की मित्रता का आदर्श है। अरिकेसरी गुणार्णव कहलाए तो पंप 'कविता गुणार्णव' उपाधि से विभूषित हुए। पंप कलम तथा तलवार दोनों चलाने में निपुण थे। विक्रमार्जुन जैसी महान् कलाकृति के सम्बन्ध में विद्वानों की राय है कि कवि ने इस कुशलता से काव्य-रचना की है कि यह काव्य कन्नड साहित्य में अद्वितीय सिद्ध हुआ। इस तरह का काव्य रचनेवाले कवि विरल ही हैं। महाकवि पम्प की इस रचना में कथा की रोचकता तथा वर्णन की मनोहरता का परिपाक हुआ है। यह कवि के आत्मविश्वास का द्योतक है। रचना के आरम्भ में बड़ी नम्रता से कवि कहता है कि मैं व्यास मुनीन्द्र द्वारा निर्मित वचनामृतरूप अगाध समुद्र को तैरने निकला हूँ। हाँ, कवि व्यास होने का कोई मेरा दावा नहीं है। अन्त में पम्प विश्वास करता है कि मैं अथाह सागर तैरने में अवश्य सफल हुआ हूँ। इसलिए कवि की घोषणा है कि पूर्ववर्ती समस्त काव्य अपने भारत (विक्रमार्जुन विजय) तथा आदिपुराण के सामने फीके हैं।

इस महाकाव्य के नायक अरिकेसरी हैं। कवि की मान्यता है कि अरिकेसरी महाभारत के अर्जुन के समान महाप्रतापी है और पूर्वकालीन राजाओं की अपेक्षा उसमें कई असाधारण गुण मौजूद हैं। अतः कवि ने आदि से अन्त तक अर्जुन के लिए प्रचलित सभी उपाधियों का व्यवहार अरिकेसरी के लिए किया

---

१. विशेष जिज्ञासु 'कवि पंप का विक्रमार्जुनविजय' शीर्षक मेरा लेख देखें। जैन दर्शन, वर्ष २, अंक १३, १९३५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। अभेदरूपक का निर्वाह इसमें अथ से इति तक अविच्छिन्न रूप से हुआ है। इसीलिए कवि ने अपनी रचना को समस्त भारत कहा है। इस महाकाव्य से अरिकेसरी प्रसन्न हुआ और उसने कवि को अमित वैभव ही नहीं, धर्मपुर नाम का एक ग्राम भी सहर्ष प्रदान किया। कवि इस महान् ग्रन्थ की महिमा का कारण कुछ और बताता है। उसका कहना है कि छल में दुर्योधन, सत्यगुण में सूर्यपुत्र कर्ण, पराक्रम में भीम, बल में शल्य, औन्नत्य में भीष्म, धनुविद्या में द्रोण, साहस में अर्जुन और धर्मगुण में परिशुद्धात्मा धर्मराज ये सब महाभारत की महिमा के कारण हैं। इसीलिये मेरा यह 'भारत' लोक में समादृत है।

पंप-भारत में श्रीकृष्ण का कोई ऊँचा स्थान नहीं है। इसमें अर्जुन का आदर सबसे बढ़कर है। अर्जुन श्रीकृष्ण से वीरोचित आदर्श का वर्णन इस प्रकार करता है, "हे कृष्ण ! जो आक्रमणकारी शत्रु-राजा रूपी विशाल वृक्ष की जड़ें धरती से उखाड़कर आकाश में न फेंके, शरणागतों की रक्षा न करे, त्यागरूपी गुण की छाप न अंकित करे तो क्या वह मानव है ? वह मानव नहीं कीड़ा है।" यहाँ अर्जुन श्रीकृष्ण का कृपाकांक्षी नहीं है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता ही इसे लौकिक काव्य घोषित करती है। अन्य पात्रों के साथ दुर्योधन और कर्ण जो मूल महाभारत में दुश्चतुष्टय में गिने जाते हैं, इसमें इन दोनों का बड़ा सम्मान किया गया है। दुर्योधन कवि की दृष्टि में अभिमान धन है। वह अपनी बात का पक्का है एवं अपनी जिद पर अन्त तक अडिग रहा है। दुर्योधन प्रण पूरा करने के लिए एक ही पथ पर बराबर कदम बढ़ाता गया, न डरा, न घबराया। प्राण त्यागने के समय भी उसका प्रताप कम न हुआ।

अब प्रतिनायक कर्ण का चित्रण देखिये। कवि इसे भी प्रेम, आदर तथा गौरव प्रदान करता है। विश्वसाहित्य में इसके जैसा अभागा दूसरा पात्र नहीं है। सूर्य का पुत्र, पृथा की कुक्षि में जन्मा यह वीर पाण्डवों का अग्रज होते हुए भी पैदा होते ही गंगा की धारा में बहा दिया गया और सूतपुत्र के यहाँ पाला-पोसा गया। परन्तु वह अपने धीरोदात्त गुण से वंचित न हुआ। यौवन में पदार्पण करते ही वह कहने लगा कि 'मेरा कोई विरोध न करे, जो भी सहायता चाहे मुझसे माँग ले। वह एक बार तीर प्रत्यञ्चा पर चढ़ा दे तो उसकी टंकार से ही प्रतापी शत्रु राजाओं पर बिजली टूट-सी पड़ती और वे भयभीत होकर धराशायी हो जाते। कर्ण सोना काट-काटकर देता जाता तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वर्णराशि का संचय करनेवाले वन्दी और मागध आदि का अर्थाभाव दूर हो जाता था। ब्राह्मणवेषधारी देवराज को कवच-कुण्डल देने में भी उसे कोई संकोच नहीं हुआ था। कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की सामासिकता को कर्ण-प्रसंग के चित्रण में कवि ने सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान की है।

गुरु परशुराम के क्रोध से शाप-ग्रस्त कर्ण दुर्योधन का अन्तरंग साथी हुआ। कर्ण को दुर्योधन से फोड़ने के लिए श्रीकृष्ण ने बड़ी गहरी चाल चली। श्रीकृष्ण बोले, "प्यारे कर्ण! दुर्योधन जानता है कि तू पाण्डवों का सबसे बड़ा भाई है। तुम दोनों शिकार खेलने साथ-साथ गये थे और दोनों उस समय सत्यतप ऋषि के आश्रम में पहुँचे थे। उस वक्त ऋषि ने सबसे पहले तुम्हारा ही सादर स्वागत किया था। दुर्योधन को यह व्यवहार बहुत बुरा लगा, उसने तुम्हें किसी काम पर बाहर भेज कर ऋषि से पूछा कि मेरे रहते हुए आपने पहले सूतपुत्र का सम्मान कैसे किया और यह कहाँ तक उचित है? इस पर ऋषि ने तेरे जन्म रहस्य को उसे बता दिया। तब दुर्योधन बोला कि "अच्छा हुआ, काँटे से ही काँटे को निकालना होगा।" हाँ, कर्ण श्रीकृष्ण की बातों में न आया। दुर्योधन से द्रोह करने को राजी न हुआ। सेनापति का पद सुशोभित करते हुए कर्ण शरशय्या पर लेटे हुए पितामह के पास जाता है और उनके चरणों में प्रणाम करता है। साथ ही साथ उनसे क्षमायाचना करता है। कर्ण की स्वामिभक्ति से अभिभूत आर्य भीष्म कर्ण को भी अपना प्रपौत्र सम्बोधित करते हैं। कवि ने कर्ण के पात्र-निरूपण में बड़ा कौशल दिखाया है। यहाँ कवि अपने नायक को भी भूलकर कहता है कि भारत में आप किसी का स्मरण करना चाहते हैं तो अन्य किसी को याद मत कीजिये, एकनिष्ठ हो कर्ण का ही स्मरण कीजिये। कर्ण की समानता कौन कर सकता है। उसकी शूरता, सच्चाई और साहस आदि जनता में विख्यात हैं। कर्ण त्याग का तो प्रतिरूप ही है। कर्ण ग्रीक दुःखान्त नाटकों के नायक की याद दिलाता है। वनवास में बचपन और यौवन का सुनहला समय बितानेवाले महाकवि पंप को यदि कन्नड साहित्य का आदि और एकमात्र कवि माना गया है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कविताचातुर्य, वर्णनसामर्थ्य, पात्रनिरूपण, रसपुष्टि, हिताहितमृदुवचन रूपी शैली, सुन्दर एवं मार्मिक कहावतें, देशाभिमान-द्योतक, वाग्गुम्फन ये सब महाकवि पंप को कर्नाटक का सार्वभौम कवि घोषित करते हैं। पंप की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पोन्न

यह महाकवि राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण तृतीय (ई० ९३९-९६८) के दरबारी कवि थे। इनकी रचना का काल ई० सन् ९५० के आसपास का रहा होगा। यह भी वेंगिमंडलांतर्गत पुंगनूर के निवासी थे। वेंगिमंडल के पुंगनूर में नागमय्य नाम का एक जैन ब्राह्मण था। मल्लपय्य और पुन्नमय्य उसके दो वीर पुत्र थे। वाणियवाडि के जिनचन्द्रदेव इनके गुरु थे और अपने गुरु के गौरवार्थ विनयपूर्वक इन दोनों भाइयों ने १६वें तीर्थंकर शांतिनाथ की जीवनी पर आधारित महाकवि पोन्न के द्वारा 'शांतिपुराण' की रचना कराई। इसका दूसरा नाम 'पुराणचूडामणि' है। मल्लपय्य की एक बेटी थी अत्तिमब्बे[1]। 'दान चिन्तामणि' इस महिला की उपाधि थी क्योंकि इसकी दानशीलता सर्वत्र विख्यात रही। इस देवी ने महाकवि पोन्न के शांतिपुराण की एक हजार प्रतियाँ लिखवाकर रत्न एवं सुवर्ण की जिनप्रतिमाओं के साथ उनका सम्पूर्ण कर्णाटक में दान किया। अत्तिमब्बे का नाम आज भी कर्णाटक में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। इसने गदग तालुक के लक्कुंडि नामक स्थल में सैकड़ों जिनालय बनवाये थे। उन सुन्दर जिनालयों में अब लक्कुंडि में केवल तीन जिनालय अवशिष्ट हैं और ये सर्वथा दर्शनीय हैं।

'भुवनैकरामाभ्युदय' पोन्न का दूसरा काव्य है। यह अभी तक उपलब्ध नहीं है। यह ग्रंथ उपलब्ध होता तो हमें पोन्न के आश्रयदाता के संबंध में प्रचुर सामग्री प्राप्त हो जाती। पोन्न का कहना है भुवनैकरामाभ्युदय में २४ आश्वास हैं जो २४ लोकों के मूल्य के बराबर हैं। राष्ट्रकूट कृष्ण (ई० ९३९-९६८) के सामन्त शंकरगंड की 'भुवनैकराम' उपाधि थी। इसलिए विद्वानों की राय है कि यह ग्रंथ भुवनैकराम उपाधि से समलंकृत शंकरगंड के प्रताप को अथवा तक्कोल में चोल राजादित्य को पराजित करने वाले मुम्मडि कृष्ण के शौर्य को वर्णन करनेवाला काव्य होगा। 'शब्दमणिदर्पण' में केशिराज (ई० १२६०) ने इस काव्य के कुछ अंश उद्धृत किये हैं जिसे देखने से यह काव्य निःसन्देह उत्कृष्ट एवं ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त मालूम होता है। परन्तु दुर्भाग्य से यह काव्य अभी तक समग्र रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है।

पोन्न रत्नत्रय में अन्यतम हैं और मुम्मडि कृष्ण के द्वारा आदर पूर्वक

---

१. अत्तिमब्बे के जीवनवृत्त के लिए देखें, 'चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित 'दानचिन्तामणि अत्तिमब्बे' नामक मेरा लेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'कविचक्रवर्ती' उपाधि को प्राप्त करनेवाले भाग्यशाली महाकवि हैं। आदि-कवि पंप को भी अरिकेसरी द्वारा यह उपाधि नहीं मिली थी। 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि को प्राप्त करनेवाले दूसरे दो जैन कवि और भी हैं रन्न और जन्न। पोन्न ने इस 'कविचक्रवर्ती' उपाधि का उल्लेख अपनी कृति में स्वयं किया है। पोन्न के पोन्निग, पोन्नमय्य, सवण आदि नाम भी थे। पोन्न अपने पूर्वकालीन पंप आदि किसी भी कवि का नाम नहीं लेता है। विद्वानों का अभिप्राय है कि अपने कवितासामर्थ्य की प्रशंसा करते हुए कवि पोन्न प्रशंसा की मर्यादा को एकदम भूल गया है।

शांतिपुराण में प्रारंभ के ९वें आश्वास तक तीर्थंकर शांतिनाथ के ११वें पूर्वभवों का वर्णन है। केवल अंतिम तीन आश्वासों में शांतिनाथ का चरित्र प्रतिपादित है। पोन्न की इस शांतिपुराण कथा में और कमलभव (ई०१२३५) के शांतिपुराण की कथा में अनेक स्थलों पर अंतर दृष्टिगोचर होता है। इसका क्या कारण है? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। शांतिपुराण में लोकाकार, देश-निवेशन, चतुर्गतिस्वरूप आदि जैनपुराण के आठ लक्षणों के साथ-साथ महा-काव्यों के १८ लक्षण भी मौजूद हैं। जहां-तहां विविध रसोत्पत्ति के अनुरूप रचनाएं भी वर्तमान हैं, फिर भी कहना पड़ेगा कि पंप और रन्न की रचनाओं में उपलब्ध वर्णन-सौंदर्य और पात्ररचनाकौशल पोन्न की कृतियों में नहीं है। हां, पोन्न का बंध प्रौढ़ है। वस्तुतः पारिभाषिक शब्द और संस्कृत भाषा का व्यामोह इन दोनों ने महाकवि पोन्न की कृतियों की शैली को क्लिष्ट बना दिया है। तथापि कविता में स्वाभाविकता, निरर्गलता और पांडित्य मौजूद हैं।

कवि ने इसमें १९ छन्दों का उपयोग किया है। काव्य में चम्पूकाव्य के अनुकूल सुप्रसिद्ध अक्षरवृत्त एवं कंद अधिक हैं। उनमें भी शांतरसाभिव्यक्ति के सहायक कंद अत्यधिक हैं। इस पुराण में कुल १६३६ पद्य, रगळे एवं त्रिपा-दियां भी हैं। इसमें यत्र-तत्र सुन्दर कहावतें भी मौजूद हैं। 'जिनाक्षरमाला' पोन्न की दूसरी रचना है। यह एक जिनस्तुति है। 'गतप्रत्यागत' नामक पोन्न का एक और ग्रंथ बताया है। किन्तु यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

रन्न

महाकवि रन्न मुधोळ के निवासी थे। इनका जन्म सौम्य संवत्सर (ई० ९४९) में हुआ था। रन्न की माता का नाम अब्बलब्बे एवं पिता का नाम जिनवल्ल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेन्द्र था। कवि के सहोदर दृढ़बाहु रेचण और मारय्य थे। जविक एवं शांति उनकी पत्नी थीं। पुत्र का नाम राय और पुत्री का नाम अत्तिमब्बे था। रन्न के पूज्य गुरु आचार्य अजितसेन थे। इनका यह परिचय स्वरचित 'अजितपुराण' के १२वें आश्वास में मिलता है। महाकवि रन्न की प्रतिभा का विकास अत्तिमब्बे* और चाउण्डराय सदृश सामंत तथा माण्डलिकों के आश्रय में हुआ। अंत में तैलप चक्रवर्ती (ई० ९७३-९९७) और युवराज सत्याश्रय के आश्रय में रहते हुए उसके प्रभुत्व का सिक्का जम गया। इस बात को कवि रन्न ने स्वयं कहा है।

मालूम होता है कि महाकवि रन्न को कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुंजरांकुश, उभयकवि, कवितिलक आदि की उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने अपने से पूर्व के कन्नड कवियों में कहाकवि पंप और पोन्न को स्मरण किया है। रन्न का कहना है कि कवियों में जैनधर्म को दीक्षा करनेवाले पंप पोन्न और रन्न ये तीन ही 'रत्नत्रय' के नाम से विख्यात हैं। यह आत्मश्लाघा मात्र नहीं है, कवि की कविकर्म कुशलता का भी परिचायक है। अन्यत्र कवि कहता है कि 'अपने को रत्न का पारखी माननेवाला शेषनाग के फण में विद्यमान अनर्घ्य रत्न को और काव्यसमीक्षक के नाते रन्न के बहुमूल्य काव्य-रत्न को परखने का दुस्साहस न करें।' कवि का दावा है कि 'इससे पूर्व कोई कवि वाग्देवी के भांडार की मुहर नहीं तोड़ सका था। रन्न ने ही अपनी सरस रचनाओं के द्वारा वाग्देवी के भांडार की मुहर तोड़ दी, अर्थात् सरस्वती की संपदा का स्वामी बना।' कवि का यह कोई प्रलाप नहीं है। बल्कि उसकी अद्भुत काव्यसाधना का फल है।

महाकवि रन्न की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा लोकादित्य की प्राचीन राजधानी, वर्तमान धारवार जिलांतर्गत बंकापुर में आचार्य अजितसेन की देखरेख में हुई थी। कन्नड और संस्कृत दोनों में उस वक्त उपलब्ध सारे ग्रंथ रन्न को उपलब्ध थे। दानचिंतामणि अत्तिमब्बे और चाउण्डराय इन दोनों की कृपा से रन्न को पर्याप्त वैभव एवं यश प्राप्त हुआ। अंत में पूर्वोक्त चालुक्य नरेश तैलप एवं उसके सुपुत्र सत्याश्रय के आस्थान में वह विशेष सम्मानित हुआ। जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ श्रवणबेळगोळ के छोटे पर्वत पर एक चट्टान है, जिस पर 'श्रीकवि-

---

*इसके विषय में विशेष जानने के लिये 'चंदाबाई अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित 'दानचिन्तामणि अत्तिमब्बे' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्न' ये पाँच अक्षर खुदे मिलते हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि रन्न ने ही इन अक्षरों को खोदा है। यह बहुत संभव है क्योंकि महाकवि रन्न श्रवणबेळगोळ बराबर जाता रहा। चक्रवर्ती के योग्य कोश, कंठिका, श्वेतपत्र, सिंहासन आदि कविचक्रवर्ती रन्न को अपने आश्रयदाता सत्याश्रय से सानन्द प्राप्त था। नागचन्द्र (ई० ११००), नयसेन (ई० ११११२), पार्श्व (ई० १२०५), मधुर (ई० १३८५) और मंगरस इन कवियों ने रन्न की बड़ी प्रशंसा की है।

रन्न की दो प्रधान रचनाएँ हैं। एक 'अजितपुराण' (ई० ९९३) तथा दूसरा 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध'। अजितपुराण द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की पुनीत गाथा है। यह २२ आश्वास का चम्पूकाव्य है। इसमें व्यर्थ का वृत्त नहीं आया है। इसकी रचना महाकवि रन्न ने अत्तिमब्बे की प्रेरणा से की। ग्रंथ में अत्तिमब्बे का इतिवृत्त विस्तार से देते हुए उसकी दानशीलता का गुणगान किया गया है। इसे 'काव्यरत्न' या 'पुराणतिलक' भी कहा गया है। इसमें भवावलियों की जटिलता नहीं है। चूंकि यह एक जैन पुराण काव्य है, इसलिए लौकिक काव्य गदायुद्ध की तरह पात्रनिरूपण, सन्निवेशरचना आदि में कवि स्वतंत्र नहीं है। फिर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के पावन चित्रण के द्वारा रन्न ने अपने अद्भुत कविता-सामर्थ्य को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। शैली में सौंदर्य है। कवि उभय भाषाओं में पण्डित होता हुआ संगीत एवं नाट्यशास्त्र में भी प्रवीण मालूम होता है। एतदर्थ जिनशिशु का जन्माभिषेक आदि प्रसंग सर्वथा पठनीय हैं। अजितपुराण के तिलकप्राय सन्निवेश के द्वितीयाश्वास में सुसीमानगर के राजा विमलवाहन का वैराग्य प्रकरण आदि कई मर्मस्पर्शी ऐसे स्थल हैं जो सहृदय पाठक को मोह लेने के लिए पर्याप्त हैं। अयोध्यानगरी से अजितनाथ तपस्या के लिए चल पड़ते हैं तो रनिवास में गहरा अवसाद छा जाता है और रनिवास की रानियाँ गुणनिधि, भुवनपूजित अजितनाथ का नाम रटते-रटते महल से बाहर आ जाती हैं। यह बड़ा करुणाप्रधान प्रसंग है। अपितु तीर्थंकर के समकालीन सगरचक्रवर्ती का प्रकरण भी बड़ा तलस्पर्शी है।

सगर के साठ हजार पुत्र थे। संतानमोह सगर की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। सगर का यह मोह दूर कर संसार की असारता का उसे बोध हो, इस उद्देश्य से रन्न कवि ने एक नई उद्भावना की है। एक बार पिता के पास लड़के आये और काम करने की इच्छा प्रकट की। पिता बोले—जाओ, खाओ-पिओ और मौज करो। लड़कों को पुरुषार्थहीन यह जीवन पसन्द न आया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सगर सम्राट ने यह जानकर आदेश दिया कि कैलास पर्वत पर भरत सम्राट् ने रत्ननिर्मित प्रतिमाएँ बनाकर रखी हैं। वे लोक के मानवों की दृष्टि में न आए, ऐसा कोई उपाय सोचो। सगर को सचेत करनेवाला उसका मित्र चेतन मणिकेतु नामक दृष्टिविषसर्प का रूप धारण कर आया और भगीरथ को छोड़कर बाकी सबको मार डाला। पीछे वह ब्राह्मणवेश में राजमहल के समीप आया और शोर मचाने लगा। जब उससे शोर का कारण पूछा गया तो जवाब में उसने कहा कि कई मनौतियों के मानने के फलस्वरूप पैदा हुआ उसका इकलौता बेटा यमलोक सिधार गया। अतः मैं तुम्हारे पैर पड़ने आया हूँ। मेरे लिए मृत्यु या आश्रय तुम्ही प्रदान कर सकते हो। सगर उस ब्राह्मण को सांत्वना देते हुए बोले, "भाई! तुम ऐसे घर से तिनका और आग ले आओ जहाँ मृत्यु की छाया तक न पड़ी हो। मैं तुम्हारे बेटे को बचा दूँगा।" कपटी ब्राह्मण गया और लौटकर बोला कि ऐसा एक भी घर नहीं मिला। इस पर सगर ने उस ब्राह्मण को मृत्यु की अनिवार्यता की बात इस तरह समझाई, "यमराज के पंजे से कौन बचा है? देवता, मानव, राक्षस, पशु इन सबका सर्वनाश उसका खेल है। शवयात्रा के अवसर का जो बाजा बजता है, वह यम का विजयघोष है। चिता-धूम उसकी विजयपताका है। परिजनों का विलाप उसकी सफलता का प्रतीक है। यम की राजसत्ता के ये ही संकेत हैं।" ये सारी बातें सुनने के बाद ब्राह्मण बोला, "यह धर्मचर्चा केवल मेरे लिए है या आपके जीवन में भी इसका कोई महत्त्व है?" सगर ने तुरन्त उत्तर दिया, "इसका आचरण मैं पहले करूँगा।" तुरन्त ब्राह्मण के मुँह से बात निकली, 'तुम्हारे ६० हजार पुत्र जीवित नहीं रहे।' भगीरथ ने भी इस बात की पुष्टि की। यह शोकवार्ता सुन कर परिजनों और रनिवास में क्रंदन मच गया। माताओं ने पुत्रों की प्राणभिक्षा माँगी और वधुओं ने पतिभिक्षा माँगी। यद्यपि सगर शोकसागर में डूबने-उतराने लगे, परन्तु रंचमात्र भी विचलित न हुए। उसी क्षण उन्होंने संसार से विरक्त होकर भगीरथ को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और तपस्या के लिए चल पड़े। निर्वेद की बड़ी ही गंभीर व्यंजना यहाँ की विशेषता है। विद्वानों का कथन है कि अजितपुराण में काव्यसौन्दर्य का अभाव नहीं है। फिर भी पंपरचित आदिपुराण की भव्यता यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती।

रन्न का लौकिक काव्य गदायुद्ध या साहसभीमविजय कन्नड का अपूर्व 'कृतिरत्न' माना गया है। कवि ने इसमें आश्रय दाता सत्याश्रय नरेश का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणगान किया है। पंपभारत के २३वें आश्वास में वर्णित 'गदासौप्तिक' पर्व की कथा इसकी विषयवस्तु है। कवि ने इस रचना में समूचे महाभारत की प्रधान घटनाओं का स्मरण दिलाया है। नाटकीय शैली का उत्कर्ष इसका बहुत बड़ा आकर्षण है। संवादयोजना, कार्यव्यापारशृंखला और विदूषक पात्र के निरूपण की दृष्टि से गदायुद्ध अद्भुत रचना है। इस प्रकार की विदूषक की पात्रयोजना अन्य किसी भी काव्य में नहीं मिलती है।

इस रचना का नायक भीम है। दुर्योधन प्रतिनायक है। पंपभारत में कर्ण पर जो सहानुभूति उमड़ आती है, वही गदायुद्ध के दुर्योधन पर सहसा उत्पन्न होती है। महाभारत के युद्ध का अंतिम दिन है। दुर्योधन रणक्षेत्र में कदम बढ़ा रहा है। उसे अपने पक्ष के समस्त वीर धराशायी दिखाई दे रहे हैं। प्रत्येक को देख-देख उसका कलेजा मुँह को आता है। कर्ण और दुःशासन इन दोनों को देखकर वह हतचेता हो जाता है। अभिमन्यु का शव देखते ही उसके नयनों के सामने उस वीर बालक की मूर्ति सजीव हो उठती है। उसके मन में यह विचार आता ही नहीं कि अभिमन्यु शत्रुपक्ष का है। अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है, "तुझे जन्म देनेवाली कोई स्तन शोभित स्त्री नहीं। वीरजननी नाम सार्थक करनेवाली साध्वी है।" दुर्योधन मृत अभिमन्यु से अनुरोध करता है, "अद्वितीय पराक्रमी अभिमन्यु! यह संभव नहीं कि तुम-सा कोई दूसरा पराक्रमी हो। मेरा यही अनुरोध है कि मृत्युरूप में तेरे पौरुष का थोड़ा-सा ही हिस्सा मुझे मिल जाय।" यही उदात्त भाव उपपाण्डवों की हत्या की सूचना पाने के बाद व्यक्त हुआ है। अंतिम क्षण में दुर्योधन को संतुष्ट करने के लिए अश्वत्थामा उपपाण्डवों के मस्तक लाता है तो दुर्योधन बड़ा दुःखी होता है और अश्वत्थामा को स्पष्ट कह देता है कि शिशुहत्या का पाप तुम्हारे सिर पर आयेगा। दुर्योधन के इस लोकोत्तर गुणों को लक्ष्य कर विद्वान् आलोचक उसे 'महानुभाव' मानने लगे हैं। आलोचक उसे 'साहस का धनी' और 'छलदंकमल्ल' भी कहा करते हैं।

दुर्योधन रणक्षेत्र की ओर बढ़ रहा है। रास्ते में धृतराष्ट्र और गांधारी दोनों उससे मिलने आ रहे है। धृतराष्ट्र सुलह करने पर आग्रह करते हैं और आधा राज्य धर्मराज को देने के लिए जोर लगाते हैं। गांधारी लड़ाई बन्द करने हेतु उसे खूब समझाती है। वह इतने से ही सांत्वना प्राप्त कर लेती है कि जो गये लौट नहीं सकते। किन्तु दुर्योधन ही बच गया, चलो अच्छा हुआ। इस प्रकार वह भाग्य से समझौता करने को तैयार है। परन्तु दुर्योधन पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माता-पिता की आर्त्तवाणी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसका एक भी भाई जीवित नहीं रहा। उधर धर्मराज की यह प्रतिज्ञा है कि मेरा कोई भाई मारा जावेगा तो मै आग में कूद पड़ूंगा। दुर्योधन की बड़ी दयनीय दशा है। वह माता-पिता से कहता है, "आप मेरे जीवित रहने की बात पर कोई भरोसा न रखें। अपने भाइयों पर जो बीता है वही मेरे लिए भी तय मानिये।"

कभी-कभी वह बड़ा उत्तेजित हो जाता है और कहने लगता है—"प्यारे भाई कर्ण ! अर्जुन से तुम्हें मैं छीन लूंगा। प्यारे भाई दुःशासन ! भीम का पेट चीरकर तुम्हें पा लूंगा। इन दोनों का शिकार कर लूं तो पीछे निर्दोषी धर्मराज के साथ जीवन बिताने की समस्या अपने आप हल हो जायगी।" दुःख की तीव्रता उसके मुंह से कहला देती है, "क्या मैं ही आपका पुत्र हूँ, धर्मराज नहीं ? आप उसके साथ जीवनयापन कीजिये, मेरी कोई चिन्ता न कीजिये।" दुर्योधन के मन की उदारता का यह सुन्दर प्रभाव है।

बड़ी धूमधाम से चलनेवाले दुर्योधन को एकाकी और उदास आते देख भीष्मपितामह द्रवित होते हैं। पितामह इस अवस्था में समझौते की चर्चा छेड़ते हैं। दुर्योधन को प्रस्ताव जँचता नहीं है। वह पितामह से यह जानने के लिए उत्सुक है कि युद्ध में शत्रु को परास्त कैसे किया जाय। वह पितामह से निवेदन करता है, "मैं राज्य के लिए लालायित नहीं हूँ। मैं प्रण का पालन करने के लिए अधीर हूँ। पाण्डवों के साथ मैं राज्य का उपभोग नहीं कर सकता। यह राज्य उस दशा में श्मशान से भिन्न नहीं होगा। कर्ण की हत्या के लिए उत्तरादायी यह राज्य भोगने योग्य नहीं है। मैं किसके लिए यह राज्य सँभालूं ? न आप हैं, न द्रोणाचार्य रहे, न कर्ण, न दुःशासन ही है। कौन मेरा वैभव देखकर प्रसन्न होगा ? इतना सुनकर भीष्म निरुत्तर हो जाते हैं।

पितामह दुर्योधन को सलाह देते हैं कि वैशम्पायन सरोवर में सारा दिन बिताकर दूसरे दिन बलराम के साथ मिलकर लड़ाई जारी रखी जाय। दुर्योधन यह सलाह मानकर चला जाता है। परन्तु बार-बार समझौते की चर्चा सुनकर वह बड़ा खिन्न होता है। वह बड़ों की सलाह मानकर सरोवर में रह तो जाता है। किन्तु भीम की ललकार सुनते ही सर्पध्वजी दुर्योधन रोष के मारे जल में रहने पर भी उबलने लगा। प्रलयकालीन रुद्र की भाँति वह धरती का अन्तर भेदते हुए बाहर निकल पड़ा और भीम से जमकर लड़ा तथा स्वर्ग सिधारा। इस प्रकार गदायुद्ध सत्याश्रय का स्तुतिगायन तो है ही, दुर्योधन की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महिमा का भी सुन्दर चित्रण करनेवाला महाकाव्य है। वस्तुतः रन्न का धवल यश गदायुद्ध काव्य से ही अमर हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि रसिक-वीर रन्न ने इसमें वाग्देवी के भाण्डार की मुहर अवश्य तोड़ी है। चम्पूरूप इस काव्य में २० आश्वास हैं। महाकवि रन्न ने पंप का शिष्य बनकर पंप-भारत के २३वें आश्वासांतर्गत भीम-दुर्योधन सम्बन्धी गदायुद्ध को ही काव्य की वस्तु बनाकर एक सर्वश्रेष्ठ काव्य की रचना की है। कवि का कहना है कि साहस-भीम, अकलंकचरित आदि उपाधियों के स्वामी सत्याश्रय को कथानायक बना कर भीम के साथ उसकी तुलना करते हुए मैंने इस काव्य की रचना की है। युद्धान्त में पंप अपने काव्य में जहाँ अर्जुन एवं सुभद्रा का पट्टाभिषेक करता है, वहाँ रन्न अपनी रचना में भीम और द्रौपदी का पट्टाभिषेक करता है। रन्न के इस महाकाव्य में एक वैशिष्ट्य और है। वह है, सम्पूर्ण काव्य में दृष्टि-गोचर होनेवाली नाटकीयता। यहाँ पर भट्टनारायण का वेणुसंहार और भास का ऊरुभंग इन दोनों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। फिर भी श्री बी० ए० श्रीकंठय्य का कहना है कि भट्टनारायण और भास से महाकवि रन्न किसी भी दृष्टि से कम नहीं हैं। बल्कि रन्न उनसे भी बढ़कर है। गदायुद्ध का एक वैशिष्ट्य यह है कि उसमें सिंहावलोकन-क्रम से भारतांतर्गत कथाओं को पात्रों के मुख से ही कहलाया गया है।

भीमसेन की प्रतिज्ञा, दुर्योधन का प्रलाप, भीम-दुर्योधन की पारस्परिक कटूक्ति आदि सन्दर्भों में महाभारत की कथा का मुख्यांश सुचारु रूप से निरूपित है। रन्न की शैली, पात्रों का चरित्रचित्रण, रसपुष्टिविधान, सन्नि-वेश निर्माण आदि विशेष गुणों के जिज्ञासु एक बार "रन्नकविप्रशस्ति" नामक विद्वानों के विमर्शात्मक लेख संग्रह को अवश्य पढ़ें। रन्न प्रतिभाशाली महा-कवि हैं। उनके द्वारा चित्रित दुर्योधन[1] का पात्र कन्नड साहित्य में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रतिनायक दुर्योधन का पतन दुर्भाग्यवश अनिवार्य ही था। फिर भी उसमें निरूपित कतिपय उदात्त गुण इन्द्रजाल की तरह हमें दुर्योधन के प्रति सहृदय बना देते हैं। अन्त में कवि ने समयोगालंकार में निबद्ध एक सुन्दर गीत द्वारा यह भाव व्यक्त किया है, 'इधर मर्त्यलोक में कुरुकुलार्क अस्त हुआ तो उधर आकाश में अर्क भी अस्त हुआ।'

---

१. विशेष के लिए 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित 'महाकवि रन्न का दुर्योधन' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस युग के अन्य कवियों में चाउण्डराय, नागवर्म, शांतिनाथ, नागचन्द्र, नयसेन, ब्रह्मशिव, कर्णपार्य, वृत्तविलास आदि उल्लेखनीय हैं।

चाउण्डराय

चाउण्डराय ब्रह्मक्षत्रियवंशोद्भव हैं। इनके गुरु आचार्य अजितसेन हैं। ये गंगकुलचूडामणि राचमल्ल (ई० ९७४–९८४) के मन्त्री एवं सेनानी थे। यह सर्वविदित है कि श्रवणबेळगोळ में गोम्मटेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का श्रेय चाउण्डराय को ही है। समरपरशुराम, वीरमार्तण्ड, प्रतिपक्ष-रक्षक आदि अनेक उपाधियों से विभूषित चाउण्डराय बड़े धर्मप्रेमी और उदार थे। रन्न कवि के आश्रयदाता के रूप में भी इनका बड़ा मान था। इन्होंने 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' नामक गद्यकाव्य की रचना की। 'वड्डाराधने' की प्राप्ति से पहले इसी ग्रन्थ को कन्नड का प्रथम गद्यकाव्य माना जाता था। यह ग्रन्थ 'चाउण्डरायपुराण' के नाम से भी विख्यात है। इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि ६३ शलाकापुरुषों की गाथाओं का संकलन है। यह गुणभद्र-विरचित उत्तरपुराण पर आधारित रचना है।

प्रत्येक चरित्र के आदिमंगलस्वरूप एक-एक पद्य को छोड़कर चाउण्डराय-पुराण एक शुद्ध गद्यग्रंथ है। यह प्राचीन कन्नड गद्यरचना की एक बहुमूल्य कृति है। इसमें चाउण्डराय ने मूल कथावस्तु में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया है। इसका मुख्य कारण कवि की धार्मिक दृष्टि ही मालूम होती है। इस पुराण में कवि को स्वप्रतिभा और काव्यशक्ति को प्रदर्शित करने की स्वतन्त्रता नहीं होने से वड्डाराधने में जो वैशिष्टय है, वह वैशिष्टय इसमें नहीं आ पाया है। चाउण्डरायपुराण में धार्मिकता तो है किन्तु काव्यधर्म का अभाव है। फिर भी यह पुराण उस वक्त की गद्यशैली का प्रतिनिधित्व करता है।

इसमें संदेह नहीं है कि इसके कई पद्य बहुत ही सरल, ललित और भक्ति-पूर्ण हैं। यह सम्भव है कि जैन पुराणकथाओं से अपरिचित व्यक्ति को चाउण्ड-रायपुराण विशेष रुचिकर प्रतीत न हो। यद्यपि इसमें भवावलियाँ, निर्वेग आदि पुराणसहज बातों की अधिकता है, फिर भी विश्वनन्दि-विशाखनन्द का युद्ध आदि कतिपय प्रकरण विशेष चित्ताकर्षक हैं। ये प्रकरण चाउण्डराय के कथन कौशल के स्पष्ट साक्षी हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से चाउण्डरायपुराण का गद्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाउण्डराय ने संकृत में भी एक ग्रंथ रचा है। इस ग्रंथ का नाम 'चारित्र-सार' है। इसमें अणुव्रत, शिक्षाव्रत, संयम, भावना, परीषहजय, ध्यान, अनुप्रेक्षा आदि आचार धर्म का वर्णन है। चाउण्डराय बड़ा उदार था। इनके द्वारा निर्मित अपरिमित व्ययसाध्य, सर्वांगसुन्दर पूर्वोक्त गोम्मटमूर्ति एवं चन्द्रगिरि में विराजमान कलापूर्ण जिनालय उसकी उदारता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। चन्द्रगिरि में विद्यमान यह जिनमन्दिर उस पर्वत पर स्थित सभी मन्दिरों में मनोज्ञ है। ऊपर कहा जा चुका है कि यही चाउण्डराय महाकवि रन्न के आश्रयदाता थे।[1] स्वबन्धु एवं स्वजन्मभूमि को त्यागकर विद्याध्ययन की पिपासा से आगत रन्न के विद्याध्ययन की सम्पूर्ण व्यवस्था चाउण्डराय ने ही की थी।

चाउण्डराय कवि ही नहीं अपितु एक योद्धा भी थे। विभिन्न अवसरों पर प्राप्त इसकी समरधुरन्धर, वीरमार्तंड, रणरंग सिंह प्रतिपक्षराक्षस, सुभट चूडामणि आदि उपाधियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं। इन बातों का विशद वर्णन विंध्यगिरि के वर्तमान १०९ (२८१) वें शिलालेख तथा चाउण्डराय-पुराण में उपलब्ध होता है। चाउण्डराय को उपर्युक्त उपाधियों के अतिरिक्त सम्यक्त्वरत्नाकर, शौचाभरण, सत्ययुधिष्ठिर, गुणरत्नभूषण आदि धार्मिक गुणों को व्यक्त करनेवाली भी उपाधियाँ प्रदान की गईं। ये सभी उपाधियाँ कवि के सदाचारपूर्ण धार्मिक जीवन का दिग्दर्शन कराती हैं। चाउण्डराय राय, अण्ण आदि गौरवपूर्ण नामों से भी पुकारा जाता था।[2] चाउण्डराय का आश्रयदाता गंगकुलचूडामणि, जगदेकवीर आदि उपाधियों से समलंकृत पूर्वोक्त राचमल्ल या राजमल्ल (चतुर्थ) गंगवंशी नरेश मारसिंह का उत्तराधिकारी था।

मारसिंह के शासनकाल में भी चाउण्डराय मंत्री एवं सेनापति के पद पर आसीन थे। मारसिंह भी जैनधर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धालु थे। इन्होंने अनेक जिनमंदिरों एवं मानस्तंभों का निर्माण करा कर अन्ततः बंकापुर में आचार्य

---

१. विशेष के लिये 'जैन सन्देश' २० शोधांक (में प्रकाशित) 'महाकवि रन्न को चाउण्डराय का आश्रयदान' शीर्षक मेरा लेख देखें।

२. विशेष जिज्ञासु 'जैन सिद्धान्त-भास्कर' में प्रकाशित 'वीर मार्तण्ड चाउण्डराय' शीर्षक मेरा लेख देखें। (भाग ६, किरण ४,)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजितसेन के पादमूल में समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग किया।[1] प्रारम्भ से ही गंगराज्य का जैनधर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। श्रवणबेळगोळ के शिलालेख नं० ५४ (६७) एवं गंगवंश के अन्यान्य दानपत्रों से निर्विवादरूप से यह सिद्ध है कि मुनिसिंहनन्दी ही गंगवंश के संस्थापक थे। इसे गोम्मटसारवृत्ति के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती भी स्वीकार करते हैं।

श्रीधराचार्य

यह वेलुवल नाडान्तर्गत नरिगुन्द के निवासी थे। इन्होंने अपने को 'विप्र-कुलोत्तम' बतलाया है। अभी तक तो इनका 'जातकतिलक' नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सका है, जो कि प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि जातक तिलक के अन्तिम पद्य से पता चलता है कि इन्होंने 'चन्द्रप्रभचरित' भी रचा था। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। कवि का कहना है कि विद्वानों ने मुझसे कहा कि 'अभी तक कन्नड में किसी ने ज्योतिष ग्रन्थ नहीं लिखा है, इसलिए तुम जातकतिलक अवश्य लिखो।' इस प्रकार विद्वानों की प्रेरणा से ही मैंने जातकतिलक की रचना की है। इससे सिद्ध होता है कि कन्नड में ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथ लिखने वालों में श्रीधराचार्य प्रथम हैं। इस बात की पुष्टि बाहुबलि (लगभग १२६- ई० की 'नागकुमार-कथा' से भी होती है। कन्नडकविचरिते के मान्य लेखक के मत से श्रीधराचार्य का काल ई० सन् १०४९ एवं शा० शक ९७१ है।

श्रीधराचार्य को गद्यपद्यविद्याधर और बुधजनमित्र ये दो उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने अपने को विधुविशदयशोनिधि, काव्यधर्मजिनधर्मगणितधर्ममहाम्भोनिधि, बुधमित्र, निजकुलाम्बुजाकरमित्र, रसभावसमन्वित, सुभग, अखिलवेदी आदि अनेक विशेषणों से संबोधित किया है। ऊपर कहा जा चुका है कि जातकतिलक एक ज्योतिष ग्रंथ है। यह कंद वृत्तों में लिखा गया है। इसमें २४ अधिकार हैं। यद्यपि कवि ने अपने ग्रन्थ की उत्कृष्टता कई पद्यों में बतलाई है तथापि स्थानाभाव के कारण उन पद्यों को यहाँ पर उद्धृत करना अपेक्षित नहीं है। श्रीधराचार्य ने ज्योतिष का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है "भवबद्ध शुभाशुभ कर्मविपाक का फल जानने के लिए ज्योतिर्ज्ञान अंधेरी कोठरी में रखी हुई वस्तुओं को स्पष्ट दिखाने वाले प्रदीप के समान है।'

---

१. विशेष जिज्ञासु 'सन्मति सन्देश' (दिल्ली), वर्ष १०, अंक ७, में प्रकाशित 'गंगनरेश मारसिंह का समाधिमरण' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातकतिलक एक सुन्दर कृति है। कवि ने विवेच्य विषयों को सरल शैली में सुन्दर ढंग से लिखा है। यह मैसूर राजकीय पुस्तकालय की ओर से प्रकाशित हो चुका है। ग्रंथ हिन्दी में अनुवाद करने योग्य है।[१]

दिवाकरनन्दि

इन्होंने उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की कन्नडवृत्ति लिखी है। इस बात का उल्लेख हमें नगर के ५७ वें अभिलेख में उपलब्ध होता है। दिवाकरनन्दि के गुरु भट्टारक चन्द्रकीर्ति थे। मालूम होता है कि दिवाकरनन्दि 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक बहुमूल्य उपाधि से विभूषित थे। नगर के ५७वें एवं ५८वें अभिलेखों में इनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। उपर्युक्त अभिलेखों के लेखक मल्लिनाथ इन्हीं के प्रशिष्य थे। दिवाकरनन्दि के शिष्य सकलचन्द्र और सकलचन्द्र के शिष्य मल्लिनाथ थे। मल्लिनाथ के पिता पट्टणस्वामी नोक्क भी दिवाकरनन्दि के ही शिष्य थे। उक्त शिलालेखों में पट्टणस्वामी नोक्क के द्वारा प्रदत्त दान का विस्तृत उल्लेख है।

उपर्युक्त शिलालेख चालुक्य शासक त्रैलोक्यमल्ल के शासनकाल में तथा वीर शांतार के समय में लिखे गये थे। ५८वें शिलालेख में उसका लेखनकाल भी अंकित है, यह शा० शक ९८४ (ई० सन् १०६२) में लिखा गया था। स्व० आर० नरसिंहाचार्य ने अपने 'कविचरिते' में दिवाकरनन्दि का जो समय निर्धारण किया है, वह इसी शिलालेख के आधार पर किया होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि दिवाकरनन्दि एक सुयोग्य विद्वान् थे। ये केवल कन्नड के ही विद्वान् नहीं थे, अपितु संस्कृत के भी विद्वान् थे। इन्होंने अपनी तत्त्वार्थवृत्ति का मंगलाचरण संस्कृत में निम्न प्रकार किया है—

'नत्वा जिनेश्वरं वीरं वक्ष्ये कर्णाटभाषया।
तत्त्वार्थसूत्रमूलार्थं मंदबुद्धचनुरोधनः॥

दिवाकरनन्दि की उक्त तत्त्वार्थवृत्ति के अन्त में एक गद्य है, जिससे ज्ञात होता है कि इनके गुरु केवल पूर्वोक्त भट्टारक चन्द्रकीर्ति ही नहीं थे, बल्कि पद्मनन्दि सिद्धान्तदेव भी थे। इस वृत्ति में वृत्तिकार दिवाकरनन्दि ने अपनी इस वृत्ति का लघुवृत्ति के नाम से ही उल्लेख किया है। साथ ही साथ इस गद्य में दिवाकरनन्दि ने अपने को 'आसाधितसमस्तसिद्धांतामृतपारावार'

---

१. विशेष जिज्ञासु 'जातकतिलक'—'जैन संदेश' (शोधांक २८), भाग-२७, सं० ४८, मथुरा–१९६४, में प्रकाशित मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बतलाया है। उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्याय हैं इसलिए वृत्ति में भी दस ही प्रकरण रखे गये हैं। वस्तुतः दिवाकरनन्दि विशुद्ध चरित्र एवं सद्गुणों के धारक, योगी श्रेष्ठ, जैनधर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धालु और देशीगण के भूषणरूप एक प्रौढ़ विद्वान् भी हैं।

शांतिनाथ

इन्होंने 'सुकुमारचरिते' नामक चम्पूकाव्य लिखा है। यह बात शिकारिपुर के १३६वें शिलालेख में भी अंकित है। शिलालेख शा० शक ९९० (कीलक संवत्सर) में लिखा गया है। कवि शान्तिनाथ भुवनैकमल्ल (ई० सन् १०६८-१०७६) के सामन्त लक्ष्म नृप के मन्त्री थे। इनके गुरु व्रति वर्धमान, पिता गोविन्दराज, अग्रज कन्नपार्थ, अनुज वाग्भूषण और रेवण थे। नृप लक्ष्म इनके स्वामी थे। इन्होंने अपने को दण्डनाथप्रवर, परमजिनपदाम्बोजिनीराजहंस, सरस्वतीमुखमुकुर, सहजकवि, चतुरकवि, निस्सहायकवि बताया है। ये इनकी उपाधियाँ मालूम होती है। शान्तिनाथ नृप लक्ष्म के मन्त्री ही नहीं थे, बनवसे के अर्थाधिकारी, कार्यधुरंधर और तद्राज्यसमुद्धारक भी थे। पूर्वोक्त शिलालेख के आधार से कवि शान्तिनाथ का काल ई० सन् १०६८ निश्चित किया गया है। शान्तिनाथ के आदेश से नृप लक्ष्म ने बलिग्राम के शान्तिनाथ जिनालय का शिलान्यास किया था। पूर्वोक्त शिकारिपुर के शिलालेख में कवि शान्तिनाथ की बड़ी स्तुति की गई है।

सुकुमारचरिते में १२ आश्वास हैं। तिर्यग्उपसर्गों का वर्णन करनेवाली भवावलियों से युक्त यह पौराणिक कथा मनोहर एवं मार्मिक है। विद्वानों की मान्यता है कि शान्तिनाथ ने किसी अनिर्दिष्ट प्राकृत मूल से वड्डाराधना में आगत 'सुकुमारस्वामिकथा' से ही इस ग्रन्थ की कथावस्तु ली होगी।

संस्कृत और कन्नड में उपलब्ध अन्यान्य सुकुमारचरित्र शान्तिनाथ के इस सुकुमारचरित्र के बाद की रचना हैं। इस काव्य में सूरदत्त तथा यशोभद्रा के पुत्र सुकुमार का चरित्र सुन्दर ढंग से वर्णित है। सुकुमार यशोभद्राचार्य के उपदेश से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर विरक्त हो जाता है तथा उक्त आचार्य से ही दीक्षा ग्रहण कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। विद्वानों का मत है कि शान्तिनाथ का यह काव्य महाकाव्य रन्न, पोन्न आदि के काव्यों से निम्न स्तर का नहीं है।

वस्तुतः शान्तिनाथ एक प्रौढ़ कवि थे। अपनी प्रतिज्ञानुसार वे इस काव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना से कृतकृत्य हुए हैं। कवि ने अपनी कृति में पारिभाषिक शब्दों की अपेक्षा सुलभ शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया है। काव्य का वर्णन हृदयंगम एवं सजीव है। पात्र-रचना में कवि ने अपनी कुशलता का अच्छा परिचय दिया है। इस काव्य का एक और वैशिष्ट्य है इसका कथानिरूपणक्रम। इसमें सन्देह नहीं है कि नयसेन सदृश कथालेखकों के लिए शान्तिनाथ मार्गदर्शक हैं। यद्यपि कवि शान्तिनाथ पर वड्डाराधने का प्रभाव रहा हो, इसकी बहुत कुछ सम्भावना है। 'सुकुमारचरिते' में वातावरण का निरूपण बड़ा ही स्वाभाविक है। यह काव्य शिवमोग्ग के कर्णाटकसंघ की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

नागचन्द

इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने देश, काल और वंश आदि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। परिणामतः इनके देश, काल और वंश आदि के बारे में इस समय निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। श्री आर० नरसिंहाचार्य, श्री दत्तात्रेय वेन्द्रे आदि कतिपय विद्वानों की राय है कि विजयपुर अर्थात् वर्तमान बीजापुर नागचन्द्र का जन्मस्थल हो सकता है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि कवि ने स्वयं लिखा है कि 'विजयपुर में श्री मल्लिनाथ-जिनालय का निर्माण कराकर मैंने मल्लिनाथ पुराण की रचना की है।'

परन्तु श्री गोविन्द पै मंजेश्वर इससे सहमत नहीं हैं। आप नागचन्द्र की कृतियों (पंपरामायण तथा मल्लिनाथपुराण) के कतिपय पद्यों के आधार पर बनवासि या इसकी पश्चिम सीमा पर अवस्थित समुद्रतीरवर्त्ती किसी स्थान को कवि का जन्मस्थल अनुमान करते हैं (देखें—अभिनव पंप में प्रकाशित उनका लेख)। गोविन्द पै का कहना है कि कोई भी जनश्रुति निराधार नहीं होती है। यदि यह बात यथार्थ है तो मानना पड़ेगा कि नागचन्द्र अपनी पूर्वावस्था में चालुक्य चक्रवर्ती के महामण्डलेश्वर होय्सल विष्णुवर्धन की राजधानी द्वारसमुद्र में जाकर कुछ समय तक रहे और वहाँ पर इन्होंने कवयित्री कंति को समस्यायें दी थीं। मल्लिनाथपुराण (आश्वास १, पद्य ४०) में प्रतिपादित जिनकथा को नागचन्द्र ने प्रायः विष्णुवर्धन (ई० सन् १११०-१११५) के आस्थान में ही रचा होगा।

जिस प्रकार इनके पूर्ववर्ती महाकवि रन्न प्रथमतः सायन्न के, बाद में महामण्डलेश्वर के और अंत में चालुक्य चक्रवर्ती के आस्थान में पहुँचे थे, उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार नागचन्द्र भी विष्णुवर्धन के आस्थान से बीजापुर जाकर वहाँ के चालुक्य युवराज मल्लिकार्जुन के आस्थान में रहे होंगे और लगभग ११२० ई० में बीजापुर का शिलालेख लिखा होगा। बीजापुर के शिलालेख के पद्य ६ में उल्लेखित मल्लिकार्जुन के प्रोत्साहन एवं सहायता से ही कवि नागचन्द्र ने विजयपुर (बीजापुर) में मल्लिदेव के सनाम मल्लिजिनेन्द्र का मन्दिर बनवाया होगा और वहीं पर 'मल्लिनाथपुराण' की रचना की होगी। सम्भवतः ग्रंथ समाप्त होने के पूर्व ही मल्लिकार्जुन स्वर्गवासी हो गया होगा और इसीलिए बाद में उसके अनुज तृतीय सोमेश्वर के आस्थान में रहकर कवि नागचन्द्र ने उपर्युक्त मल्लिनाथपुराण पूरा किया होगा।

मल्लिनाथपुराण के 'निजविभवोदयं सफलमायत' नामक पद्य से ज्ञात होता है कि कवि नागचन्द्र काफी संपन्न था। इनके ग्रंथों से ज्ञात होता है कि कवि को भारतीकर्णपूर, कवितामनोहर, साहित्यविद्याधर, चतुरकवि, जनास्थान-रत्नप्रदीप, साहित्य-सर्वज्ञ और सूक्तिमुक्तावतंस उपाधियाँ प्राप्त थीं। नागचन्द्र के गुरु मुनि बालचन्द्र थे। परन्तु बालचन्द्र नाम के कई व्यक्ति हुए हैं। इसलिए इनमें कवि नागचन्द्र के गुरु मुनि बालचन्द्र कौन से थे, यह कहना कठिन है। श्री गोविन्द पै मंजेश्वर का मत है कि श्रवणबेळगोळ के १५८वें शिलालेख में अंकित बालचन्द्र ही नागचन्द्र के गुरु होंगे। किन्तु इस शिलालेख के बहुत से अक्षर जहाँ-तहाँ घिस गये हैं जिससे मुनि बालचन्द्र के सम्बन्ध में विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं होता हैं। दुर्भाग्य से शिलालेख में लेखनकाल भी नहीं दिया गया है।

फिर भी श्री गोविन्द पै का यह सुनिश्चित मत है कि नागचन्द्र के द्वारा अपने मल्लिनाथपुराण (आश्वास १, पद्य २०) एवं पंपरामायण (आश्वास १, पद्य १९) में स्तुत स्वगुरु बालचन्द्र उपर्युक्त बालचन्द्र ही हैं (देखें, 'अभिनव पंप' में प्रकाशित गोविन्द पै का लेख)। कर्णपार्य (लगभग ११४० ई०) दुर्गसिंह (लगभग ११४५ ई०), पार्श्व (ई० सन् १२०५), जन्न (ई० सन् १२०९), मधुर (ई० सन् लगभग १३८५), मंगरस (ई० सन् १५०८) आदि मान्य कवियों ने नागचन्द्र की स्तुति की है। नागवर्म केशिराज आदि लक्षण ग्रंथकारों ने भी उदाहरण के रूप में नागचन्द्र के ग्रंथों के पद्यों को उद्धृत किया है।

जन्मस्थान आदि की तरह कवि नागचन्द्र के काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। 'कर्णाटककविचरिते' के विद्वान् लेखक श्री नरसिंहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्य का अनुमान है कि नागचन्द्र का समय लगभग ११०० ई० में रहा होगा (कर्णाटककविचरिते, पृष्ठ ९९)। श्री गोविन्द पै का अनुमान है कि कवि नागचन्द्र का जन्म लगभग ई० सन् १०९० में हुआ होगा। यह भी कहना है कि मल्लिनाथपुराण की रचना के समय कवि की अवस्था चालीस की और पंपरामायण की रचना के समय पचास की रही होगी। इस प्रकार उनका अनुमान है कि मल्लिनाथपुराण का रचनाकाल ई० सन् ११३० से पूर्व और पंपरामायण का रचनाकाल ई० सन् ११४० रहा होगा ('अभिनवपंप' में प्रकाशित उनका लेख देखें)। अतः उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मत से कवि नागचन्द्र का समय निस्सन्देह ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा होगा। नागचन्द्र के कालनिर्णय के लिए अपने 'कविचरिते' में आर० नरसिंहाचार्य ने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, उन पर कुछ अन्य प्रमाणों के साथ श्री गोविन्द पै ने अपने विमर्शात्मक लेख में विस्तार से चर्चा की है। इसमें संदेह नहीं है कि इस महत्त्वपूर्ण लेख में इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि देवचन्द्र (ई० सन् १८३८) के मत से 'जिनमुनितनय' और 'जिनाक्षर माला' भी नागचन्द्र की कृतियाँ हैं, परन्तु जिनमुनितनय के साहित्यिक प्रस्तुतीकरण को देखते हुए इसे नागचन्द्र की कृति मानना ठीक नहीं है क्योंकि नागचन्द्र की रचनाओं से इसका बिलकुल मेल नहीं बैठता है। मालूम होता है कि यह कृति परवर्ती किसी सामान्य कवि द्वारा रची गई है। आर० नरसिंहाचार्य को प्राप्त जिनमुनितनय की ताडपत्रीय प्रति के अंतिम पद्य में 'मुनिनूतनागचन्द्र' शब्द अंकित है जिससे ज्ञात होता है कि जिनमुनितनय के रचयिता ने अपना नाम अभिनव नागचन्द्र रख लिया था। परन्तु जिनमुनितनय की मुद्रित प्रति में उपर्युक्त 'कविनूतनागचन्द्र' के स्थान पर 'यतिविनूतनागचन्द्र' छपा हुआ है। मालूम होता है कि इसी से यह कृति नागचन्द्ररचित समझी गई है। जहाँ तक जिनाक्षरमाला का संबंध है, इस नाम की एक लघुकाय कृति पं० एच० शेषअय्यंगार ने संपादित कर मद्रास से प्रकाशित की है। इसके रचयिता महाकवि पोन्न हैं। संभवतः इसी नाम की दूसरी कृति नागचन्द्र द्वारा रची गई हो।

नागचन्द्र का दूसरा नाम अभिनव पंप था। इनके उपलब्ध दो ग्रंथों में पहला मल्लिनाथपुराण और दूसरा पंपरामायण है। पम्परामायण का अपरनाम रामचन्द्रचरितपुराण है। श्री गोविन्द पै, दत्तात्रेय बेन्द्रे आदि विद्वानों का मत है कि इनमें से पहले मल्लिनाथपुराण और बाद में पंप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain..Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रामायण की रचना की गयी थी। पहले ग्रंथ का ग्रंथप्रमाण गद्य-पद्य मिलाकर २०३१ हैं जबकि दूसरे ग्रन्थ में केवल २३४३ पद्य हैं। दोनों का बंध बहुत ही ललित एवं मनोहर है। दोनों ग्रंथों के आश्वासों के अन्त में निम्न गद्यांश लिखा हुआ मिलता है, "इदु (यह) परमजिनसमयकुमुदनीशरच्चन्द्रबालचन्द्रमुनीन्द्र-चरणनखकिरणचन्द्रिकाचकोरं भारतीकर्णपूरं श्रीमदभिनव-पंपविरचितमप्पः।

मल्लिनाथपुराण की कथा छोटी है। केवल रसपुष्टि एवं अनुषांगिक वर्णनों के कारण ग्रन्थ का प्रमाण बढ़ गया है। यद्यपि इसमें कल्पनास्वातन्त्र्य के लिए पर्याप्त गुञ्जाइश थी। मल्लिनाथ की अपेक्षा पंपरामायण बड़ी है। इसमें पात्रों का चरित्रचित्रण बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। ग्रंथ में लौकिक अनुभव का पुट भी यथेष्ट रूप में मिलता है। नागचन्द्र ने मल्लिनाथपुराण के एक-दो ही नहीं, बल्कि अनेकों महत्त्वपूर्ण सुन्दर पद्यों को पंपरामायण में ले लिया है। कवि आगम, अध्यात्म, अर्थशास्त्र, साहित्य आदि सभी विषयों में निष्णात थे। इसके गुरु मुनि बालचन्द्र भी सकलगुणसम्पन्न उच्चकोटि के विद्वानों में से थे। इसलिए शिष्य नागचन्द्र का तदनुरूप होना सर्वथा स्वाभाविक है। शांतरस कवि को अधिक प्रिय था। इसीलिए इसकी दोनों कृतियाँ शांतरसप्रधान हैं। इसमें निःश्रेयस पदप्राप्ति की लालसा के साथ-साथ गुरु का प्रभाव भी मुख्य हेतु हो सकता है। अपने श्रद्धेय गुरु पर नागचन्द्र की असीम भक्ति थी। इसमें संदेह नहीं है कि कवि के तन, मन और धन ये तीनों ही जिनेन्द्रदेव की सेवा के लिए ही अर्पित थे। इसीलिए जिनार्चना और जिनगुणवर्णन के साथ-साथ इसने विजयपुर में मल्लिनाथ-जिनालय का निर्माण कराकर अपने वैभव को सफल बनाया था। परमजिनभक्त, आचार्यपादपद्मोपजीवी नागचन्द्र अपने काव्य एवं सदाचरण के लिए अमर रहेंगे।

बेन्द्रे जी का अनुमान है कि महाकवि होने के पूर्व नागचन्द्र को शिलालेखों के कवि का सौभाग्य भी प्राप्त था क्योंकि विजयपुर के शिलालेख में ही नहीं अपितु श्रवणबेळगोळ के कई शिलालेखों में इनके बहुत से पद्य विद्यमान हैं। इसमें किंचित भी संदेह नहीं है कि जैन कवियों ने ही मुख्यतः शांतरस को अपनाया है। काव्याध्ययन का उद्देश्य रागद्वेषों का प्रचोदन नहीं है, प्रत्युत अनंत सुख की आधारभूत दर्शन विशुद्धि की प्राप्ति है। एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति कवियों से चक्रवर्ती के असीम वैभव या देवेन्द्र के स्वर्गीय सुख के वर्णन नहीं सुनना चाहता है, क्योंकि ये सब नश्वर हैं। वह चाहता है अक्षय सुख को पाने का सुगम एवं निष्कंटक उपाय बतलाने वाले महापुरुषों की सफल जीवनी जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके हृदय को सकंप एवं द्रवीभूत करके उसी के चरणों में तल्लीन कर सके। प्रतिभापुञ्ज महाकवि नागचन्द्र में यह गुण मौजूद था।

वर्णनीय चरित्र एक ही जन्म का हो या अनेक जन्मों का, यदि कवि उसमें एक क्रम निर्धारित करने में समर्थ होता है तो उसकी प्रतिभा प्रशस्त है। इसमें संदेह नहीं है कि नागचन्द्र ने मल्लिनाथ के उभय जन्मों के पावन चरित्र को बड़ी ही बुद्धिमत्ता से एक महाजन्म के पूर्वापर के रूप में चित्रित किया है। इसमें उत्तर जन्म सम्बंधी मधुर फलों के मुख्य बीज पूर्व जन्म के चरित्र में स्पष्ट झलकते हैं। कथावस्तु में अपूर्वता लाने में कवि समर्थ हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि कवि का रचना-कौशल सर्वथा प्रशंसनीय है। नागचन्द्र ने अपने मल्लिनाथपुराण में महाकवि पंप के द्वारा प्रतिपादित (१) भुवन (२) देश (३) पुर (४) राजवृत्त (५) अर्हद्विभव (६) चतुर्गति (७) तपोमार्ग और (८) फल इन आठ कथानकों को ही सहर्ष अपनाया है।

श्री वेन्द्रे के अनुसार, मल्लिनाथपुराण के २०३१ गद्य-पद्यों में से लगभग २३५० गद्य-पद्य देश, पुर राजवृत्त आदि में वर्णन के लिए ही रचे गये हैं। जनसाधारण की जीवनशैली को कवि ने विस्तारपूर्वक बहुत ही चित्ताकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसमें मानवसुख की चरम स्थिति के साथ ही साथ जैनेन्द्र पद की सर्वोत्कृष्टता का भी वर्णन है। नागचन्द्र अर्थान्तर न्यास का अधिक प्रेमी था, फलस्वरूप मल्लिनाथपुराण में इसकी बहुलता है।

पंपरामायण एक सरस महाकाव्य है। इसका आदर्श ईसा की सातवीं शताब्दी में आचार्य रविषेण द्वारा संस्कृत में रचित पद्मपुराण है। संस्कृत पद्मपुराण का आदर्श ई० सन् प्रथम शताब्दी में विमलसूरि द्वारा रचित प्राकृत 'पउमचरियम्' है। जैन परम्परागत रामचरित्र ही इस पंप-रामायण का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें नायक रामचन्द्र के चरित्र के अंगस्वरूप वासुदेव लक्ष्मण और प्रतिवासुदेव रावण का चरित्र, चक्रवर्ती, गणधर एवं कुलकरों के चरित्र तथा चतुर्गति, लोकस्वरूप और कालस्वरूप आदि विषयों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है (पंपरामायण, आश्वास १, पद्य ४१)।

रामचन्द्र, लक्ष्मण, रावण, सीता, नारद, हनुमान, बालि तथा सुग्रीव पंप-रामायण के प्रधान पात्र हैं। जीव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की साधना तपस्या है। तपस्या में प्रवृत्ति विरक्ति के द्वारा ही होती है। अतः पाठकों को इसमें इनकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरक्ति के अपूर्व दृश्य भी देखने को मिलेंगे। इसी प्रकार इसमें जन्मांतर की कथाओं के दृश्य भी वर्णित हैं। वैभवशाली बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सामान्य से सामान्य निमित्त पाकर किस प्रकार संसार से विरक्त होकर आत्म हितार्थ कठिन से कठिन तपस्या करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, ऐसी अद्भुत घटनाएँ भी पंपरामायण में प्रचुर परिमाण में मिलती हैं।

यहाँ पर वाल्मीकीय रामायण एवं पंपरामायण में पाये जानेवाले कुछ प्रमुख भेदों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। पंपरामायण में राम की माता अपराजिता और शत्रु की माता सुप्रभा बताई गई हैं। सुमित्रा के लक्ष्मण एकमात्र पुत्र थे। जैनपुराण के अनुसार राम विष्णु का अवतार नहीं हैं, अपितु बलदेव हैं और लक्ष्मण शेष के अवतार नहीं हैं, अपितु वासुदेव हैं। इसी प्रकार रावण प्रतिवासुदेव है। राम धर्मनायक, लक्ष्मण वीरनायक और रावण प्रति वासुदेव है। रावण का वध राम नहीं अपितु लक्ष्मण करते हैं। सीता भूमिजा नहीं, बल्कि जनक की पुत्री हैं। सीता को प्रभामंडल नामक भाई भी था। इसमें विश्वामित्र, परशुराम और मन्थरा की चर्चा ही नहीं है। सुग्रीव, बालि आदि बन्दर नहीं अपितु वानरवंशीय विद्याधर थे। इनके ध्वजों पर कपि का चिह्न होता था। रावण से इनका सम्बन्ध भी था। वरुण के युद्ध में हनुमान ने रावण की सहायता भी थी। यहाँ पर राम के द्वारा बालि के वध का उल्लेख ही नहीं है। इसी प्रकार पंप-रामायण में सेतुबंध का उल्लेख नहीं है। कपिध्वज विद्याधरी आकाशगामिनी विद्या के बल से समुद्र पार करते हैं। पंपरामायण के अनुसार राक्षस और वानर दोनों ही विद्याधरवंश के थे। हनुमान रावण की बहन के जामतृ थे। रावण के दुराचार से रुष्ट होकर ही हनुमान और विभीषण राम के साथ आकर मिल गये। रावण राक्षस नहीं था, किन्तु राक्षसवंश का था। उसके दश मस्तक भी नहीं थे। शंबुक रुद्र न होकर, रावण की बहन चन्द्रनखा का लड़का था। 'सूर्यहास' खड्ग के लिए तपस्या करते हुए उसे लक्ष्मण ने भ्रान्तिवश मारा था जो रावण द्वारा सीतापहरण का एकमात्र कारण बन गया। राम का वर्ण गौर और लक्ष्मण का श्याम था और लक्ष्मण ने ही रावण को मारा था, राम ने नहीं। राम उसी भव में मोक्ष गये हैं।[1]

---

१. विशेष के लिए 'जैन सन्देश' शोधांक १२ में प्रकाशित 'जैन रामायण के विविध रूप' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंपरामायण में सीता द्वारा अग्निप्रवेश की घटना राम-रावण युद्ध के बाद तथा अयोध्या जाने के पूर्व घटित नहीं होती है प्रत्युत लव-कुश के जन्म के बाद घटित होती है। वस्तुतः अग्निप्रवेश के बाद विरक्त हो, वह जिन-दीक्षा ही ले लेती है। विरक्ति का कारण एकमात्र उस पर लगाया गया मिथ्या लांछन ही था। लक्ष्मण का अद्भुत भ्रातृप्रेम, सीता का असीम पति प्रेम, वैभवशाली सुन्दर और शूरवीर होने पर भी परदाराभिकांक्षी रावण का सीता द्वारा तिरस्कार, अहिंसादि व्रतों का मार्मिक वर्णन, बन्दर, हाथी आदि पशुओं का धर्म पर अचल प्रेम, मुनि-आर्यिका आदि त्यागी-तपस्वियों के आदर्श चरित्रों का सजीव वर्णन आदि प्रसंग सामान्य जनता पर भी अपना गहरा प्रभाव डालते हैं।

पंपरामायण में विज्ञ पाठक रावण को मानवोचित दया, क्षमा, सौजन्य, गाम्भीर्य एवं औदार्य आदि महान् गुणों से युक्त पायेंगे। जैन रामायण में ही नहीं, अपितु वाल्मीकिरामायण में भी कई स्थानों पर रावण को 'महात्मा' शब्द से सम्बोधित किया गया है (सुन्दरकाण्ड, सर्ग ५,१०,११) इतना ही नहीं, वाल्मीकि रामायण से यह भी सिद्ध होता है कि रावण की राजधानी में घर-घर में वेदपाठी विद्वान् थे और प्रत्येक घर में हवनकुंड था। धर्मात्मा रावण के महलों में कभी कोई भी अशुभ कार्य नहीं किया जाता था, अपितु वेद-प्रतिपादित शुभ कर्म ही किये जाते थे (सुन्दरकाण्ड, सर्ग ६ तथा १८)।[1]

पंपरामायण के निम्नलिखित प्रकरणों का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है—(१) स्वयम्बर के उपरान्त सीता को देखने के कुतूहल से नारद मुनि रूप में आकाश मार्ग से मिथिला आते हैं और अवसर पाकर अन्तःपुर में प्रवेश कर जाते हैं। छद्मवेशी नारद को सीता अचानक देख लेती है और उनके विचित्र रूप से भयभीत हो, वह जोर से चिल्ला उठती है। इस दयनीय आवाज को सुनकर अन्तःपुर की रक्षिकाएँ दौड़ आती हैं। तब तक नारद अपने अनुचित व्यवहार के लिए स्वयं लज्जित होकर, वहाँ से वापिस चल पड़ते हैं। यह वर्णन स्वाभाविक सुन्दर एवं बहुत ही हृदयग्राही है। इसका अनुभव एक भुक्तभोगी ही कर सकता है। इस वर्णन में सत्य, सौन्दर्य एवं चातुर्य आदि सभी अन्तर्हित हैं (पंपरामायण, आश्वास ४, पद्य ८०-८८)।

---

१. "जैन सिद्धान्तभास्कर", भाग ६, किरण १ में प्रकाशित 'जैन रामायण का रावण' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) मालूम होता है कि नागचन्द्र उद्दण्ड घोड़ों की चाल से अच्छी तरह परिचित थे। साथ-ही-साथ ऐसे घोड़ों पर चढ़ना वह अधिक पसन्द करते थे। इसीलिए एतज्जन्य कवि का अनुभव सर्वथा श्लाघनीय है (पंपरामायण, आश्वास ४, पद्य १०५, २०६, २०८, १११, ११२, ११४, ११८ और १२०)

(३) सीता का पतिवियोगजन्य तथा राम का पत्नीवियोगजन्य असीम दुःख पंपरामायण में बहुत ही हृदयविदारक ढंग से वर्णित है। इस वर्णन को पढ़ने से वस्तुतः पाठकों की आँखें भर आती हैं और मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र एवं पतिव्रताशिरोमणि सीता के प्रति सहानुभूति पैदा होती है (पंपरामायण, आश्वास ७, पद्य १०७, १११, ११३, ११६, ११७ और ११८)।

(४) इसी प्रकार 'मल्लिनाथपुराण' में वसन्तोत्सव का वर्णन भी सर्वथा पठनीय है। इस वर्णन में खासकर मामर—मल्लिकालताओं का विवाहवर्णन एक कुतूहलोत्पादक वस्तु है (मल्लिनाथपुराण, आश्वास ६, पद्य ४०, ४३, ४४, ४५ और ४६)।

नागचन्द्र एक रसिक कवि था। साथ-ही-साथ इसमें अगाध पांडित्य भी मौजूद था। इन कृतियों में सर्वत्र कवि की अनुप्रासप्रियता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यमक के प्रयोग से इनका काव्यसौन्दर्य बढ़ गया है। सारांशतः नागचन्द्र के ग्रन्थों में अनुनासिक, दंत्य और अनुस्वार के आधिक्य से प्राप्त सौन्दर्य वस्तुतः दर्शनीय है। बारहवीं शताब्दी में कन्नड की भेरी को बजाने वाले प्रथम कवि अभिनवपंप के नाम से विख्यात नागचन्द्र ही हैं। महाकवि नागचन्द्र एक उद्दाम कवि हैं। उनके ग्रन्थों में क्षात्रधर्म की अपेक्षा भक्ति एवं वैराग्य का प्रवाह ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। कवि की कृतियाँ सर्वत्र शान्तरस से ओतप्रोत हैं। इसी रस के अनुरूप कवि की काव्यशैली भी है। महाकवि पंप और रन्न की अपेक्षा नागचन्द्र की शैली ललित और सरल है।

कंति

अभी तक इस कवयित्री का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं मिला है। केवल 'कंति हंपन समस्येगळु' नाम से इसके कुछ फुटकर पद्य अवश्य मिले हैं। द्वारसमुद्र के बल्लालराय की सभा में महाकवि अभिनवपंप द्वारा जो समस्याएँ रखी गई थीं, उन्हीं समस्याओं की पूर्ति इसने की थी। उपर्युक्त संग्रह में पूर्वोक्त सम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थाएँ तथा उनकी पूर्तियाँ संगृहीत हैं। कवि बाहुबलि (लगभग १५६० ई०) ने अपने 'नागकुमारचरित' में दोर(वल्लाल)-सभा की मंगललक्ष्मी, शुभ-गुणचरिता, अभिनववाग्देवी आदि सुन्दर विशेषणों द्वारा स्तुति की है। इससे ज्ञात होता है कि कंति द्वारसमुद्र के बल्लालराय की सभा में पण्डिता रही होगी। अभिनववाग्देवी इसकी उपाधि थी। इस कवयित्री के बारे में देवचन्द्र ने अपनी 'राजावली-कथे' में इस प्रकार लिखा है—

'दोरराय द्वारसमुद्र नामक एक विशाल जलाशय का निर्माण कराकर तथा धर्मचन्द्र नामक एक ब्राह्मण को अपना मन्त्री नियुक्तकर सुचारुरूप से वहाँ का राज्य-कार्य करता था। मन्त्रिपुत्र स्वयं अध्यापन-कार्य सम्हालता हुआ बालकों को छन्द, अलंकार, व्याकरण और काव्य आदि सभी विषयों को पढ़ाया करता था। अध्यापक मन्दबुद्धिवाले बालकों के मति-प्रकाशनार्थ 'ज्योतिष्मती' नामक बुद्धिवर्धक एक विशिष्ट तैल तैयार करके उसमें से मन्द-बुद्धिवाले बालकों को अर्ध बिन्दु के परिमाण से दिया करता था। तैलसेवन-विधि से अनभिज्ञ कंति ने प्रायः अधिक लाभ के लोभ से गुरुजी की अनुप-स्थिति में पात्रस्थ पूरे तैल को एक ही बार में पी डाला।

फलतः औषधजन्य असह्य गर्मी को न सहन कर तुरन्त वह दौड़कर कुएँ में गिर गई। वहाँ पर कंठप्रमाण पानी में अधिक समय तक रहने से जब तैल की गर्मी कम हुई और वह कुएँ में खड़ी होकर सुन्दर कविताएँ बनाने लगी तब उस अपूर्व घटना को देखकर सभी आश्चर्य में पड़ गए। वह विचित्र समाचार तुरन्त दोरराय के आस्थान (सभा मण्डप) में भी पहुंच गया। इस बात की वास्तविकता का पता लगाने के लिए राजा दोर ने अपने आस्थान के ख्यातिप्राप्त महाकवि अभिनवपम्प को भेजा। उभय भाषा कवि पम्प ने घटनास्थल पर पहुंचकर कंति से एक दो नहीं, सैकड़ों प्रश्न किये। कवयित्री कंति ने भी सभी प्रश्नों को समुचित उत्तर देकर सुयोग्य परीक्षक महाकवि को चकित कर दिया। बाद में महाकवि पम्प ने कंति को राजदरबार में पहुंचाया। दरबार में दोर ने इसकी कविता से प्रसन्न होकर कंति को अपने आस्थान की कवीश्वरी घोषित किया और कवयित्री को अपने आस्थान में ही रखा।

सम्भवतः कंति को 'अभिनव वाग्देवी' की उपाधि बल्लालराय दोर के द्वारा ही प्रदान की गई थी। यदि अभिनवपम्प द्वारा कंति को समस्याएं देने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की बात यथार्थ है तो कंति, पम्प की समसामयिक सिद्ध होती है। अभिनव-पम्प का समय लगभग ११०० ई० है। उपर्युक्त दोर भी द्वारसमुद्र का तत्कालीन शासक बल्लाल (ई० सन् ११००-११०६) ही होना चाहिए। मालूम होता है कि इसकी सभा में पंप, कंति आदि सुयोग्य कवि अवश्य मौजूद थे।

आज तक के अन्वेषण से कन्नड कवयित्रियों में कंति ही प्रथम कवयित्री है। कुछ फुटकर उल्लेखों से ज्ञात होता है कि महाकवि पंप और कंति में बराबर संवाद चलता रहा। साथ-ही-साथ यह भी कहा जाता है कि किसी प्रकरण में एक रोज पंप ने कंति के समक्ष यह प्रण कर लिया कि जो भी हो किसी दिन मैं तुम से अवश्य अपनी स्तुति करा लूँगा। इस जटिल समस्या को हल करने के लिए अभिनवपंप ने एक रोज कंति के पास अपनी मृत्यु की दुःखद खबर भेजी। इस खबर से कवयित्री कंति बहुत दुःखी हुई और दौड़ती हुई पंप के घर पहुँचकर 'कविराय, कविपितामह, कविकंठाभरण, कविशिखा पम्प' आदि पद्यों द्वारा कंति ने महाकवि पम्प की मुक्तकंठ से प्रशंसा की तब पम्प उठकर बाहर आया और प्रसन्न होकर कंति से कहा कि 'आज मेरा पूर्व प्रण पूरा हो गया।' कंति भी महाकवि को सामने पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। 'कंतिहंपनसमस्येगळु' नाम के जो पद्य इस समय उपलब्ध होते हैं, वे साहित्य की दृष्टि से भी सुन्दर हैं। कवयित्री कंति के सम्बन्ध में इससे अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

नयसेन

इन्होंने 'धर्मामृत' की रचना की है। नागवर्म (लगभग ११४५ ई०) ने अपने 'भाषाभूषण' के 'दीर्घोक्तिर्नयसेनस्य' नामक सूत्र (७२) में उपर्युक्त नयसेन के मतानुसार सम्बोधन में दीर्घ को स्वीकार किया है। इससे सिद्ध होता है कि नयसेन ने एक कन्नड व्याकरण भी रचा था। पर अभीतक उसका पता नहीं चला है। कवि की कृतियों में एकमात्र धर्मामृत ही उपलब्ध है। श्री नरसिंहाचार्य के अनुसार नयसेन ने इस धर्मामृत को वर्तमान धारवार जिलान्तर्गत मुळगुन्द में रचा था।

श्री आर० नरसिंहाचार्य ने अपने 'कविचरिते' में 'गिरिशिखिवायुमार्ग-शशिसंख्ये' नामक धर्मामृत के इस असमग्र पद्य के आधार पर इस ग्रंथ का रचनाकाल शा० श० १०३७ बतलाया है। परन्तु उन्होंने शंका प्रकट की है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि उक्त पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त नन्दन संवत्सर १०३७ में न आकर १०३४ में आता है। इससे वह अनुमान करते हैं कि 'प्रायः जैनमतावलंबी गिरि शब्द से ४ का अंक लेते हैं और यदि मेरा यह अनुमान ठीक है तो धर्मामृत ई० सन् १०११ में रचा गया था।' परन्तु मेरी जानकारी में गिरि शब्द से ४ का अर्थ लेना जैनधर्म को भी मान्य नहीं है। इसलिए उपर्युक्त अंतर का कारण और भी कुछ होना चाहिए। इस कारण को ढूँढना परमावश्यक है।

आश्वास के आद्यन्त के पद्यों से मालूम होता है कि नयसेन को 'सुकवि-निकरपिकमाकन्द' और 'सुकविजनमनःपद्मिनीराजहंस' की उपाधियाँ प्राप्त थीं। इसके अतिरिक्त आश्वासों के अंत के गद्यों में इन्होंने अपने को दिगम्बर-दास नूतनकविताविलास भी बतलाया है (कर्णाटक कविचरिते, प्रथम भाग, पृष्ठ २२८)। स्व० डा० शामशास्त्री और जी० वेंकटसुब्बय्य की राय से 'वात्सल्य रत्नाकर' और नूतनकविताविलास भी कवि की उपाधियाँ थीं (नयसेन, पृष्ठ ६ और धर्मामृत का उत्तरार्द्ध)। वेंकटसुब्बय्य का यह भी कहना है कि 'नयसेन ने अपने वंश, माता-पिता, आश्रयदाता अदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। इसी प्रकार इन्होंने अपने गुरु का स्मरण तो अवश्य किया है, परन्तु स्पष्ट नाम लेकर नहीं, अपितु त्रैविद्य चूड़ामणि, त्रैविद्यचक्रेश्वर, त्रैविद्यलक्ष्मीपति और त्रैविद्यचक्राधिप आदि उपाधिसूचक शब्दों के द्वारा ही किया' है (कविचरिते, प्रथम भाग, पृष्ठ २२८)।

कवि ने धर्मामृत में अपने वंश, माता-पिता, आश्रयदाता आदि का नाम इसलिए नहीं लिखा होगा कि धर्मामृत के रचनाकाल के समय वह मुनि हो गया था। क्योंकि इन्होंने अपनी कृति में नयसेनदेव और नयसेनमुनीन्द्र आदि शब्दों के द्वारा ही अपने को स्पष्ट मुनि सूचित किया है। वस्तुतः नयसेन मुनियों का नाम है, न कि गृहस्थों का। मुनि अवस्था में कवि अपने पूर्ववंश माता-पिता, आश्रयदाता आदि के बारे में कुछ भी नहीं लिख सकता था। यद्यपि अपनी गुरुपरम्परा के विषय में वह बहुत कुछ लिख सकता था। इनके इस तरह मौन रहने का कारण अज्ञात है। फिर भी धर्मामृत के 'गुरु विद्याब्धिनरेन्द्रसेनगुरुपं" नामक पद्य के द्वारा 'त्रैविद्यचक्रेश्वर' मुनि नरेन्द्रसेन को कवि ने अपना गुरु स्पष्ट सूचित किया है।

नाम के आधार पर नरेन्द्रसेन तथा नयसेन ये दोनों ही गुरु-शिष्य दिगम्बर-राम्नाय के उसी सुप्रसिद्ध सेनगण के मुनि सिद्ध होते हैं, जिसमें प्रातः स्मरणीय आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्रादि महान् आचार्य हो चुके हैं। इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिलसिले में एक बात और रह जाती है, वह यह है कि यदि नयसेन ने 'धर्मामृत' को अपनी मुनि अवस्था में मुळगुन्द में रचा है, तो फिर मुळगुन्द को कवि का जन्मस्थल मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि दिगम्बर मुनि किसी भी स्थान पर दीर्घकाल तक नहीं ठहर सकते हैं। वे सदैव विहार करते रहते हैं। केवल चातुर्मास में शास्त्रोक्तरीत्या चातुर्मास की समाप्ति तक एक स्थान पर ठहरते हैं। ऐसी अवस्था में मुनि नयसेन मुळगुन्द के निवासी नहीं, प्रवासी ही रहे होंगे।

धर्मामृत की रचना इन्होंने मुळगुन्द में ही की थी अर्थात् उपर्युक्त ग्रंथ के समाप्ति काल में नयसेन मुळगुन्द में अवश्य रहे। नयसेन के पूर्व ही कन्नड साहित्य में कथा-साहित्य का जन्म हो चुका था, वड्डाराधना इसका प्रबल प्रमाण है। वड्डाराधना के बाद नयसेन के कालतक का दूसरा कोई इस प्रकार का कथाग्रंथ कन्नड साहित्य में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसी दृष्टि से जी० वेंकटसुब्बय्य का यह कथन ठीक है कि जनसामान्य की साहित्यरचना में नयसेन ही पथप्रदर्शक रहा। इसमें सन्देह नहीं है कि नयसेन इस बात को अच्छी तरह जानता था कि धर्म के प्रसार-प्रचार में ऐसी कथाएँ अत्यधिक उपयोगी होती हैं, क्योंकि प्रत्येक मानव जन्म से ही कथा सुनने का आदी होता है। बूढ़ी नानी की विचित्र कथाओं से ही बच्चों का विद्याभ्यास आरंभ होता है। बच्चों को कथा सुनाने में नानी को भी कम दिलचस्पी नहीं होती। इस प्रकार जैसे-जैसे कथा सुनने और सुनाने की अभिरुचि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही कथा साहित्य का भण्डार भरता जाता है।

कन्नड में कथा साहित्य का जन्म कब हुआ यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कन्नड के अन्यान्य अंगों की तरह कथा साहित्य के जन्मदाता भी जैन कवि ही हैं। कन्नड कथा साहित्य के आज तक के उपलब्ध ग्रंथों में जैन ग्रंथ वड्डाराधना ही सबसे प्राचीन है।

जी० वेंकटसुब्बय्य के इस अभिप्राय को मैं भी स्वीकार करता हूँ कि प्रारंभ में कन्नड कवियों ने पुराणों में संस्कृत महाकाव्यों की ही शैली को अपनाकर अपने ग्रंथों को जनसाधारण की अपेक्षा विद्वत्भोग्य ही अधिक बनाया है। दीर्घ-समास, श्लेष आदि क्लिष्ट अलंकार, अष्टादश वर्णन, कठिन भाषा और धर्म को प्रतिपादित करनेवाली प्रौढ़ शैली आदि के कारण ये पुराण सामान्य जनता की जिज्ञासा को तृप्त नहीं कर सके। इस विचार को स्वीकार करने में कवियों को पर्याप्त समय लग गया। प्रायः कवियों ने १२वीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शताब्दी के पूर्वार्ध में इस ओर लक्ष्य किया। यही कारण है कि इसका सारा श्रेय नयसेन को दिया जाता है।

यद्यपि जी० वेंकटसुब्बय्य की इस बात से मैं सहमत नहीं हूँ कि जैनों का सारा कथा साहित्य वैदिक और बौद्ध कथा साहित्य का रूपान्तर है। इस सम्बन्ध में उनसे इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि निष्पक्ष दृष्टि से सारे जैन कथा साहित्य का एक बार बारीकी से अध्ययन कर डालें।[१] किसी भी विषय के केवल सतही अध्ययन के आधार पर अपना मत दे देना ठीक नहीं है।

नयसेन को कन्नड में संस्कृत के दीर्घ समासों वाली पुरानी प्रौढ़ शैली का अनुकरण पसन्द नहीं था। इसीलिए इन्होंने अपने एक पद्य में ऐसे पुराने कवियों का खुले शब्दों में मजाक भी किया है। कथन है कि 'संस्कृत में लिखो या शुद्ध कन्नड में, परन्तु कन्नड में संस्कृत के दीर्घ समासों को देकर, शैली को गहन मत बनाओ। इससे तैल और घी के मिलावट की तरह दोनों में कोई भी भोगयोग्य नहीं होगा।' यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नयसेन कन्नड में संस्कृत शब्दों को अपनाने का ही निषेध करते थे, उपर्युक्त पद्य में ही तैल और घृत इन संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी किया है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि संस्कृत के सुलभ शब्दों को कन्नड में लेने से कोई हानि नहीं है। हाँ, कठिन शब्दों के प्रयोग से कवि के आशय को जानने में जन-साधारण को बड़ी दिक्कत होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कोई भी ग्रंथ सुलभ शैली में लिखे जाने पर ही लोकमान्य हो सकता है।

नयसेन कृत धर्मामृत में कुल १४ आश्वास हैं। इन आश्वासों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, उसके आठ अंग तथा अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों का निरतिचार अनुष्ठान करके सद्गति को प्राप्त करनेवाले महात्माओं की पवित्र कथाएँ सुन्दर ढंग से निरूपित हैं। ग्रंथ की शैली सरल स्वाभाविक है। कवि सरल शैली का ही पक्षपाती है। इसमें प्रसिद्ध वृत्त ही अधिक हैं, अप्रसिद्ध वृत्त बहुत कम हैं। इसी प्रकार इसमें कन्दों (छन्द विशेष) की भी अधिकता है। विलक्षणता इनके गद्य में ही दृष्टिगोचर होती है। कन्नड चम्पू ग्रंथों में आनेवाले गद्य अधिक मात्रा में कादम्बरी, हर्षचरित आदि की शैली के हैं। परन्तु इस शैली में और नयसेन की शैली में बहुत अन्तर है। नयसेन की शैली में खोजने पर भी प्राचीन

---

१. इस सम्बन्ध में 'उपायन' आदि अभिनन्दन ग्रंथों में प्रकाशित 'जैन कथा साहित्य' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवियों के प्रिय परिसंख्या, विरोधाभास, श्लेष, अत्युक्ति आदि अलंकार नहीं मिलते हैं। कहीं भी देखें, सर्वत्र उपमा, मालोपमा, दैनंदिन अनुभव के प्रासंगिक दृश्यों का सादृश्य और लोकोक्तियाँ आदि ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए पण्डितों को यह ग्रंथ चमत्काररहित और नीरस प्रतीत हो सकता है, परन्तु सामान्य जनता इसी तरह के ग्रंथों को अधिक पसन्द करती है। उसे चमत्कारिता और अलंकारवैचित्र्य आदि पसंद नहीं होते हैं। कन्नड शब्दों के प्रयोग में भी नयसेन ने व्याकरणसम्मत एवं पूर्वकवियों के द्वारा प्रयुक्त शुद्ध प्राचीन कन्नड को न अपनाकर अपने काल की नवीन कन्नड में ही ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा की है। हर्ष की बात है कि कवि ने अपनी इस प्रतिज्ञा को अंत तक निभाया है। हाँ, प्रतिज्ञानुसार धर्मामृत में तत्कालीन कन्नड के साथ ही साथ गद्यकालीन कन्नड भी उपलब्ध है।

जैनों के अनुयोग-चतुष्टय के अन्तर्गत प्रथमानुयोग सम्बन्धी पुराण, काव्य तथा चरित्र आदि ग्रंथों का एकमात्र आशय मानव को दुराचार से हटाकर सदाचार में लगाना है। इसलिए इस अनुयोग से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक ग्रंथ में पाठकों को हिंसा आदि दुराचार से होनेवाली हानि तथा अहिंसा आदि सदाचार से होनेवाली उपलब्धियों को सुन्दर ढंग से दर्शाया गया है। जिस प्रकरण में जिसकी प्रधानता है, उसमें उसी की प्रशंसा की गयी है। 'जिसकी शादी है उसका गीत' की लोकोक्ति यहाँ चरितार्थ हुई है।

इसमें सन्देह नहीं है कि महापुरुषों के चरित्रश्रवण से थोड़े समय के लिए ही सही, मन में पापभीति एवं संसार से विरक्ति अवश्य होती है। वस्तुतः मन की पवित्रता ही आत्मकल्याण की जड़ है। इसीलिए कहा गया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'। संपूर्ण रामायण की कथा को सुनने के बाद एक सामान्य व्यक्ति भी इतना अवश्य जान जाता है कि रावण की तरह न चलकर राम की तरह चलना चाहिए। रामायण सुनने का यही फल है।

अस्तु, नयसेन का धर्मामृत भी प्रथमानुयोग संबंधी ग्रंथ है। इसका भी उद्देश्य वही है जो प्रथमानुयोगसंबंधी और ग्रंथों का होता है। श्री आर० नरसिंहाचार्य के शब्दों में नयसेन का यह ग्रंथ मृदुमधुरपदगुंफित, नीतिश्लोकपुंजरंजित ललित कृति है। इसमें सन्देह नहीं है कि धर्मामृत के रचयिता नयसेन एक प्रौढ़ कवि हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजादित्य

इन्होंने व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, लीलावति, चित्रहसुगे, जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण आदि गणित ग्रंथों की रचना की है। इनके ग्रंथों से विदित होता है कि इनके भास्कर, वाचवाचय्य, वाचिराज आदि अनेक नाम थे। साथ-ही-साथ इन्हें गणितविलास, ओजेवेडंग, पद्यविद्याधर आदि उपाधियाँ प्राप्त थीं। कुंडिमंडलान्तर्गत पुविनबागे इनकी जन्मभूमि थी। राजादित्य की पत्नी का नाम कनकमाला था। कवि ने अपने को 'कवीश्वरनिकरसभायोग्य' कहा है। इससे मालूम होता है कि यह दरबारी पण्डित रहा होगा। कवि ने शुभचन्द्र को अपना गुरु बतलाया है। राजादित्य ने अपनी रचना में विष्णुनृपाल का नामोल्लेख किया है। अन्यान्य आधारों से यह सिद्ध होता है कि होय्सल राजा विष्णुवर्धन ने लगभग ई० सन् ११११ से ११४२ तक राज्य किया था। सम्भवतः कविराजादित्य इसी विष्णुवर्धन का समकालीन था।

श्रवणबेळगोळ के ११७वें अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक शुभचन्द्र ११२३ में स्वर्गवासी हुए थे। यही कवि के गुरु मालूम होते हैं। यदि यह बात ठीक है तो राजादित्य विष्णुवर्धन का आस्थानपण्डित होकर लगभग ११२० में जीवित रहे होंगे। राजादित्य ने अपने पाण्डित्य एवं गुणों को समस्तविद्या-चतुरानन, विबुधाश्रितकल्पमहीरुह, आश्रितकल्पमहीज, विश्रुतभुवनकीर्ति, शिष्टेष्ट-जनैकाश्रय, अमलचरित्र, अनुरूप, सत्यवाक्य, परहितचरित, सुस्थिर, भोगी, गंभीर, उदार, सच्चरित्र, अखिलविद्याविद्, जनतासंस्तुत्य, उर्वीश्वर निकरसभासेव्य आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। इनकी रचनाओं में व्यवहार-गणित एक गद्यपद्यात्मक कृति है। इसमें सूत्रों को पद्यरूप में लिखकर टीका तथा उदाहरण दिये गये हैं। ग्रंथ आठ अधिकारों में विभक्त है। प्रत्येक अधि-कार को हार संज्ञा दी गयी है। इसमें कवि ने स्वयं कहा है कि 'इस ग्रंथ को मैंने सिर्फ पाँच दिनों में लिखा है।' साथ ही साथ इन्होंने अपने ग्रंथ की पर्याप्त प्रशंसा भी की है।

राजादित्य के व्यवहारगणित में सहजत्रयराशि, व्यस्तत्रयराशि, सहजपंच-राशि, व्यस्तपंचराशि, सहजसप्तराशि, व्यस्तसप्तराशि, सहजनवराशि, व्यस्त-नवराशि आदि कई विषय हैं। श्री आर० नरसिंहाचार्य के मत से कन्नड में गणितशास्त्र को लिखनेवाले कवियों में राजादित्य ही प्रथम कवि हैं। इन्होंने गणितशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों का अपने ग्रंथों में संग्रह किया है। जनता को सुलभता से समझाने के लिए गणितशास्त्र को पद्यरूप में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखना बहुत कठिन है, फिर भी इन्होंने सूत्रों एवं उदाहरणों को बहुत ही ललित पद्यों में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। इन पद्यों से यह बात स्पष्ट है कि वे केवल गणितशास्त्र के मर्मज्ञ ही नहीं थे, बल्कि एक प्रौढ़ कवि भी थे। यह ज्ञात नहीं है कि राजादित्य के इन ग्रंथों का आदर्श कौन-सा ग्रंथ था।

राजादित्य का दूसरा ग्रंथ क्षेत्रगणित और तीसरा व्यवहाररत्न है। व्यवहाररत्न में कुल पाँच अधिकार हैं। कवि का चौथा ग्रंथ जैनगणितसूत्रोदाहरण है। इसमें प्रश्न देकर उत्तर पाने का विधान बतलाया है। राजादित्य का पाँचवा ग्रंथ चित्रहसुगे है। यह सूत्रटीकारूप है। इनका छठवां ग्रंथ लीलावति है, जो पद्यरूप है। इसमें गणितीय समस्याओं को उदाहरण सहित समझाया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि राजादित्य एक अच्छे गणितज्ञ थे। संभव है कि विद्वानों की दृष्टि से ओझल इनका गणितशास्त्र सम्बन्धी अन्य भी कोई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रहा हो।

कीर्तिवर्म

इन्होंने 'गोवैद्य' नामक ग्रन्थ लिखा है। इनके पिता त्रैलोक्यमल्लाधिप, अग्रज विक्रमांक नरेन्द्र और गुरु देवचन्द्र मुनि थे। इनके लगभग समकालीन कवि ब्रह्मशिव ने भी अपनी 'समयपरीक्षा' में उपर्युक्त बातों का समर्थन किया है बल्कि ब्रह्मशिव के कथनानुसार कवि के पिता त्रैलोक्यमल्लाधिप चालुक्यवंशी सिद्ध होते हैं। चालुक्य वंश में त्रैलोक्यमल्ल ने ई० सन् १०४२ से १०६८ तक तथा उनके पुत्र विक्रमादित्य ने ई० सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य किया था। यही विक्रमादित्य कवि के बड़े भाई होंगे। ऐसी अवस्था में कीर्तिवर्म का समय ई० सन् ११२५ मानना अयुक्तिसंगत नहीं है। यही मत श्री आर० नरसिंहाचार्य का भी है।

विक्रमादित्य के दो भाई थे। एक जयसिंह (तृतीय) और दूसरे विष्णुवर्धनविजयादित्य। यह ज्ञात नहीं है कि कीर्तिवर्म इन्हीं दो में से एक था या तीसरे। मालूम होता है कि त्रैलोक्यमल्ल की केतलदेवी नामक एक जैनधर्मानुयायिनी रानी भी थी और उसने अपनी ओर से कुछ जिनालय भी बनवाये थे।[1] संभव है कि कवि उसी का पुत्र हो। श्री आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि श्रवणबेळगोळस्थ ६४वें अभिलेख (११६८ ई०) में प्रतिपादित गुरुपरम्परा

---

१. Antiquity, Vol. XIX, P. 268.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में राघवपाण्डवीय के रचयिता श्रुतकीर्ति के समकालीन किसी देवचन्द्र की भी स्तुति की गई। यही देवचन्द्र कवि के गुरु रहे होंगे। कीर्तिवर्म ने अपने सम्बन्ध में कविकीर्तिचन्द्र, कन्दर्पमूर्ति, सम्यक्त्वरत्नाकर, बुधभव्यबान्धव, वैद्यरत्न, कविताब्धिचन्द्रम्, कीर्तिविलास आदि विशेषणों का उल्लेख किया है।

वस्तुतः यह एक उल्लेखनीय बात है कि जैन कवियों ने प्रत्येक विषय पर अपनी कलम चलाई है। इन कवियों ने केवल मानव हित के लिए ही नहीं, पशु-पक्षियों के मंगल के लिए भी बहुत कुछ किया है। वैसे अहिंसा-प्रधान जैनधर्म के अनुयायी के लिए यह कोई नई बात नहीं है। जैन तीर्थंकरों की समवसरणसभा में भी किसी भेद-भाव के बिना प्राणीमात्र को प्रवेश करने का एवं उनके कल्याणकारी उपदेश को सुनने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। वस्तुतः जिस धर्म में इस प्रकार की उदारता नहीं है, वह विश्वधर्म कहलाने का दावा नहीं कर सकता। इसलिए कीर्तिवर्म का यह प्रयास वास्तव में स्तुत्य ही नहीं, अनुकरणीय भी है। संस्कृत में 'मृगपक्षिशास्त्र' नामक एक और जैनग्रंथ है जो कि अपने विषय की एक अमूल्य कृति है। इस ग्रंथ की प्रशंसा केवल पौर्वात्य विद्वानों ने ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से की है। इस समय यह ग्रंथ अप्राप्य है।

कीर्तिवर्म के गोवैद्य में गोव्याधियों की औषध, मंत्र और यंत्र आदि विस्तार से बतलाये गये हैं। यह ग्रंथ प्रकाशनीय है। इसमें सन्देह नहीं है कि कीर्तिवर्म का प्रयास प्रशंसनीय है।[1]

ब्रह्मशिव

इन्होंने समय परीक्षा एवं त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र की रचना की है। इनका गोत्र वत्स, जन्मस्थल पोट्टणगेरे और पिता सिंगराज हैं। कवि ने अपने को अग्गल का मित्र बतलाया है। किंतु यह ज्ञात नहीं है कि यह अग्गल कौन से थे ? कम से कम ये चन्द्रप्रभपुराण के रचयिता अग्गलदेव (११८९) तो नहीं ही हैं। ब्रह्मशिव के गुरु मुनि वीरनन्दि हैं। समयपरीक्षा के एक पद्य से कवि सौर, कौलोत्तर आदि सम्प्रदायों तथा वेद और स्मृति आदि धर्म ग्रन्थों का विशेषज्ञ मालूम होता है। इन्होंने उपर्युक्त धर्मग्रंथों को सारहीन ठहराया है। इनके एक पद्य से यह भी ज्ञात होता है कि पहले यह शैव थे। उसे सारहीन अनुभव कर, बाद में इन्होंने जैनधर्म को स्वीकार किया था। इसकी पुष्टि कवि

१. विशेष जिज्ञासु 'लोकोपयोगी जैन कन्नड ग्रंथ' शीर्षक मेरा लेख देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के नाम से भी होती है। त्रैलोक्य चूड़ामणिस्तोत्र के अंतिम पद्य से सिद्ध होता है कि राजसम्मान के साथ-साथ इन्हें 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि भी प्राप्त थी। ब्रह्मशिव ने अपनी समय परीक्षा का आरम्भ चालुक्य त्रैलोक्यमल्ल के पुत्र कीर्तिवर्म की स्तुति से किया है। इससे ब्रह्मशिव कीर्तिवर्म का समकालीन (ई० सन् ११२५) मालूम होता है। इनके गुरु मुनि वीरनन्दि ई० सन् ११९५ में स्वर्गस्थ मेघचन्द्र-त्रैविद्य के शिष्य विदित होते हैं।

ये वीरनन्दि वे ही हैं, जिन्होंने शक संवत् १०७६ (ई० सन् ११५३) में स्वकृत आचारसार की एक कन्नड व्याख्या लिखी थी (कन्नडकविचरिते, पृष्ठ १६८)। यद्यपि श्रवणबेळगोळ के उपर्युक्त शिलालेख में आचार्य वीरनन्दि का उल्लेख मेघचन्द्र के 'आत्मजात' के रूप में हुआ है, श्री आर० नरसिंहाचार्य ने अपने 'कविचरिते' में आत्मजात का अर्थ पुत्र किया है, किन्तु यहाँ पर आत्मजात शब्द का अर्थ पुत्र न करके शिष्य करना ही सर्वथा उचित है, क्योंकि मुनि अवस्था में किसी के भी साथ पुत्र, पौत्रादि पूर्व का सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा आगमविरुद्ध है। जब वे एक बार सब कुछ त्यागकर एकान्ततः अकिंचन बन गये, उनके साथ पुत्रादि का पूर्व सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है। वस्तुतः शिष्य के पुत्रतुल्य होने के कारण आलंकारिक शब्दों में उसे आत्मजात, आत्मज, तनुज आदि कहा जाता है।

केशिराज ने अपने 'शब्दमणिदर्पण' के ७५वें सूत्र के नीचे ब्रह्मशिव के एक पद्य के अंतिम भाग को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। कवि ने जैनमार्गनिश्चितचित्त, जिनसमयसुधार्णव-धर्मचन्द्र, जिनधर्मामृतवार्धिवर्धन-शशांक, तीव्रमिथ्यात्ववंधनचण्डांशु आदि शब्दों द्वारा अपने गुणों को प्रकट किया है।

समयपरीक्षा में धर्म को आप्तागमधर्म और अनाप्तागमधर्म इन दो भागों में विभक्त किया गया है। कवि ने इसमें सौर, शैव, वैष्णव आदि धर्मों को अमान्य तथा सदोष ठहराकर जैन धर्म को सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। ग्रंथ प्रारंभ से अंत तक कंद पद्यों में ही रचा गया है। यह पन्द्रह अधिकारों में विभक्त है। ग्रन्थ का बंध सरल एवं ललित है। कन्नड साहित्य के मर्मज्ञ इस प्रकार की समीक्षाग्रंथों को लिखनेवाले कन्नड कवियों में ब्रह्मशिव को प्रथम कवि मानते हैं।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस बात को अवश्य स्वीकार करेगा कि हर एक लेखक पर देश के तत्कालीन वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है, इसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई रोक नहीं सकता। इसलिए सर्वप्रथम ब्रह्मशिवकालीन वातावरण का अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक है। वस्तुतः यह युग खण्डन-मण्डन का युग था। कर्णाटक में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण देश में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्तियाँ चल रही थीं अतः अन्य मतों का खण्डन करके ब्रह्मशिव ने कोई अनुचित काम नहीं किया। पुनः कोई भी धर्म अपनी सत्ता को तब ही कायम रख सकता है जब कि वह देश के तत्कालीन वातावरण के अनुकूल अपने बाह्यरूप में कुछ-न-कुछ परिवर्तन स्वीकार करेगा। इसके लिए धार्मिक इतिहास में एक-दो नहीं सैकड़ों दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर आचार्य जिनसेन ने अपने काल में जैन धर्म के बाह्य रूप में बहुत कुछ परिवर्तन कर डाला था।

इसका एकमात्र कारण देश का क्षुब्ध वातावरण ही था। वास्तव में अगर वे उस समय रूढ़िवादी बने रहते तो पता नहीं कर्णाटक में जैन धर्म की क्या स्थिति होती? आचार्य जिनसेन ने उस समय बड़ी ही दूरदर्शिता से काम लिया, अन्यथा बड़ा अनर्थ हो जाता। जैनाचार्यों में परस्पर दिखाई देनेवाले मान्यता-भेद का मूलकारण भी देश का तत्कालीन वातावरण ही है। निष्पक्ष जैनेतर विद्वानों की भी राय है कि समयपरीक्षा से तत्कालीन समाज की परिस्थिति का बोध होता है।

ब्रह्मशिव की दूसरी कृति त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र है। इसमें छब्बीस (२६) वृत्त हैं। इसका अपरनाम छत्तीसरत्नमाला भी है। प्रत्येक पद्य त्रैलोक्य चूडामणि शब्द से समाप्त होता है। इसमें ब्रह्मशिव ने अन्य मतों की मान्यताओं का खुले शब्दों में खण्डन किया है। वैसे समालोचना कोई बुरी चीज नहीं है, फिर भी उसमें कड़े शब्दों का उपयोग न करके सौम्य शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। किसी भी बात को कटु शब्दों की अपेक्षा मीठे शब्दों के द्वारा समझाना अधिक लाभदायी होता है। बल्कि कटु शब्दों के प्रयोग से कभी-कभी बड़ा अनर्थ भी हो जाता है। समालोचना का भी एक स्तर होना चाहिए।

कर्णपार्य

इन्होंने नेमिनाथपुराण की रचना की है। कण्णप, कण्णमय्य आदि इनके कई नाम थे। कर्णपार्य को परमजिनमतक्षीरवाराशिचन्द्र, सम्यक्त्वरत्नाकर, भुवनैकभूषण, गांभीर्यरत्नाकर, भव्यवनजवनमार्तण्ड आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने अपनी रचना में कहीं भी अपना काल नहीं बतलाया है। इसीलिए कर्णपार्य के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आर० नरसिंहा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्य के मत से कर्णपार्य का काल ई० सन् ११४०, डा० वेंकटसुब्बय्य और एम० गोविन्द पै के अनुसार ई० सन् ११७४ और एच० शेषअय्यंगार के मत से ई० सन् ११३० से ११३५ है। कुछ भी हो, यह सर्वसम्मत है कि कर्णपार्य १२वीं शताब्दी के कवि हैं।

नेमिनाथपुराण के रचयिता कर्णपार्य के श्रद्धेय गुरु मलधारी देव के शिष्य कल्याणकीर्ति हैं। श्री एच. शेषअय्यंगार के मत से श्रवणबेळगोळस्थ शिलालेख संख्या ६९ में अंकित मलधारी हेमचन्द्र के अथवा इनके सधर्मा माघनंदि के शिष्य कल्याणकीर्ति ही कर्णपार्य के गुरु हैं। गुरु कल्याणकीर्ति के बाद कर्णपार्य के द्वारा संस्तुत बालचन्द्र, शुभचन्द्र आदि कल्याणकीर्ति के ही सधर्मा मालूम होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त अभिलेख में मूलसंघ के देशीयगण की वक्रगच्छीय शाखा बालचन्द्र के साथ-साथ शुभकीर्ति आदि और भी कई व्यक्ति मलदेव के सधर्मा कहे गये हैं। यद्यपि पूर्वोक्त शिलालेख में उसके लेखनकाल और उसमें वर्णित गुरुपरम्परा का काल नहीं दिया गया है।

आर० नरसिंहाचार्य ने चन्नरायपट्टण के १६८वें शिलालेख के आधार पर गोपनंदि के शिष्य मलधारी देव और उनके सधर्मा कल्याणकीर्ति के नामोल्लेख करनेवाले श्रवणबेळगोळ के उपर्युक्त शिलालेख का काल ई० सन् ११०० निर्धारित किया है। उनका कहना है कि श्रवणबेळगोळ के वक्त शिलालेख में प्रतिपादित मलधारी देव के गुरु गोपनन्दि को ई० सन् १०९४ में विक्रमादित्य के पुत्र यरयंग द्वारा एक दान किया गया था। इसीलिए शिलालेखान्तर्गत गोपनंदि, उनके शिष्य मलधारी देव और तत्सधर्मा कल्याणकीर्ति का काल ई० सन् ११०० होना चाहिए।

परन्तु श्री एच० शेष अय्यंगार श्री आर० नरसिंहाचार्य के इस मत से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि विक्रमादित्य के पुत्र यरयंग से दान ग्रहण करने वाले गोपनंदि से उनके शिष्य मलधारी देव का काल बिना प्रबल आधार के केवल ६ वर्ष पीछे निर्धारित करना ठीक नहीं कहा जा सकता। बल्कि चन्नरायपट्टण तालुक तगडूर के नं० १९८ (ई० सन् ११३०) के शिलालेख में प्रतिपादित कल्याणकीर्ति और श्रवणबेळगोळ के शिलालेख में अंकित कर्णपार्य के गुरु कल्याणकीर्ति ये दोनों एक ही हैं। ऐसी अवस्था में कल्याणकीर्ति का काल ई० सन् ११३० के बाद ही मानना समुचित है। बल्कि तगडूर के उपर्युक्त शिलालेख में ई० सन् ११११ से ११४१ तक राज्य करनेवाले होय्सल विष्णुवर्धन के पादपद्मोपजीवी दंडनायक मरियाने एवं भरत का उल्लेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाया जाता है। अतः तगडूर का यह शिलालेख ई० सन् १११९ से ११४१ के मध्य अर्थात् ११३० में लिखा गया था, यह मानना उचित ही है।

कवि कर्णपार्य ने अपने गुरु कल्याणकीर्ति की बड़ी प्रशंसा की है। इससे सिद्ध होता है कि मुनि कल्याणकीर्ति वस्तुतः एक असाधारण व्यक्ति थे। वे चरित्र से ही नहीं, किन्तु ज्ञान और गुणों से भी सम्पन्न थे। इसीलिए निखिल-विद्वत्समाज उनके समक्ष नतमस्तक था। चारों ओर उनकी निर्मल कीर्ति फैली हुई थी। अमल, स्वच्छ तथा अनिन्द्य विशेषण ही उनकी उज्ज्वलता को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि कर्णपार्य ने मुनि कल्याणकीर्ति को नेमिनाथपुराण के प्रत्येक आश्वास के अंतिम पद्य में 'साश्चर्यचारित्र चक्रवर्ती' के रूप में सादर स्मरण किया है। इसीलिए तो ये 'सद्भव्यसंसेव्य' माने गये थे। श्रवणवेळ-गोळ के शिलालेख में भी कल्याणकीर्ति की बड़ी प्रशंसा मिलती है। वास्तव में कर्णपार्य जैसे राजमान्य एवं लोकमान्य सुकवि के गुरु सामान्य विद्वान् कैसे हो सकते थे?

अब कवि कर्णपार्य के आश्रयदाता को लीजिए। राजा विजयादित्य का मंत्री लक्ष्म या लक्ष्मण ही कर्णपार्य का आश्रयदाता माना जाता है। कर्णपार्य ने अपने नेमिनाथपुराण में पिता गण्डरादित्य, पुत्र विजयादित्य एवं विजया-दित्य की रानी पोन्नलदेवी की बड़ी प्रशंसा की है। बल्कि कवि ने पोन्नलदेवी को विविध कलाओं की प्रवीणता में सरस्वती, रूप में रति, सौंदर्य में हेमवती, दर्शनविशुद्धि में रेवती और पतिभक्ति में अरुन्धती बतलाया है। इसी प्रकार कर्णपार्य ने अपने आश्रयदाता लक्ष्मण की भी बहुत प्रशंसा की है। इसी प्रसंग में कवि कर्णपार्य ने लक्ष्मण के अनुज वर्धमान और शांत तथा शांत के पिता गोवर्धन या गोपण का भी उल्लेख किया है। इस उल्लेख में कवि ने वर्धमान को अखिलाशावर्तितकीर्ति, मकरध्वजमूर्ति और उर्वीनुतगुणविधान और शांत को अखिलविद्याकांत उर्वीजनसेव्य आदि विशेषणों के साथ स्मरण किया है। शान्त के श्रद्धेय पिता गोपण को कवि ने दर्शन प्रतिमा से लेकर परिग्रहत्याग तक की प्रतिमाओं को पालनेवाला श्रावकोत्तम बतलाया है। इसी प्रकार ग्रंथांत में अपने आराध्य देव नेमिनाथ के साथ-साथ उसने लक्ष्मण के अनुज वर्धमान और शांत और शांत के पूज्य पिता गोपण की भी प्रशंसा की है। यद्यपि ग्रंथारम्भ में लक्ष्मण की पत्नी के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है किंतु यहाँ पर उसकी काफी प्रशंसा की गई है। उसे जिन पूजा में शची, चतुर्विध दान में अत्तिमब्बे और जिनभक्ति में शांतलादेवी बताया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया है। उसे शीलरत्नमण्डिता, शिष्टजनकल्पलता आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है।

श्री आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि राजा गण्डरादित्य, लक्ष्मण, लक्ष्मीधर, वर्धमान और शांत इस प्रकार पाँच लड़के थे। कवि कर्णपार्य का आश्रयदाता लक्ष्म अथवा लक्ष्मण विजयादित्य का सहोदर लक्ष्मण ही है। परंतु डा० वेंकटसुब्बय्य श्री नरसिंहाचार्य के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि गण्डरादित्य और लक्ष्मण का पिता गोवर्धन (गोपण) भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। गण्डरादित्य को विजयादित्य नामक एक ही लड़का था। कर्णपार्य का आश्रयदाता लक्ष्मण केवल उसका मंत्री था। इसके दो भाई थे वर्धमान और शांत। वेंकटसुब्बय्य का यह कथन कर्णपार्य के नेमिपुराण के कथन से बिल्कुल मेल खाता है। इसलिए मुझे भी यही कथन समुचित लगता है। वेंकटसुब्बय्य का यह मत कि विजयादित्य का कोई सहोदर भाई नहीं था, ई० सन् ११६५ के एक्सांबि के अभिलेख से मेल नहीं खाता है क्योंकि उसमें स्पष्ट लिखा है कि विजयादित्य गण्डरादित्य का ज्येष्ठ पुत्र था।[1] साथ ही साथ कवि कर्णपार्य के द्वारा प्रयुक्त रूपनारायण उपाधि[2] से भी मानना होगा कि इसका आश्रयदाता लक्ष्मण राजवंशीय अवश्य था क्योंकि कवि ने गण्डरादित्य तथा विजयादित्य के लिए भी इसी उपाधि का प्रयोग किया है।

नेमिनाथपुराण के सम्पादक एच० शेषअय्यंगार ने इसकी प्रस्तावना में अन्यान्य स्थलों के कई शिलालेखों का हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि उन शिलालेखों में प्रतिपादित राजा विजयादित्य और कवि कर्णपार्य द्वारा नेमिनाथ पुराण में उल्लिखित विजयादित्य ये दोनों अभिन्न हैं। इस विजयादित्य का काल ई० सन् ११४३ से ११६४ तक होना चाहिए। अब तक हमने कर्णपार्य के काल के सम्बन्ध में विचार किया। अब देखना यह है कि कर्णपार्य का जन्म-स्थल कौन-सा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसने अपनी कृति में कहीं भी अपने जन्मस्थल, वंश और माता-पिता आदि का उल्लेख नहीं किया है। ऐसी अवस्था में कवि के जन्मस्थल, वंश आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

नेमिनाथ के समवसरण के वर्णन में तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा धर्मप्रचारार्थ

---

१. मैसूर आर्कोलाजिकल रिपोर्ट—१९१६, पृष्ठ ४८-५०।
२. नेमिनाथपुराण, आश्वास १, पद्य ३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विहार किए गए देशों में सर्वप्रथम करहाट (कोल्हापुर) का नाम आया है (आश्वास १३, पद्य १०३) कर्णपार्य को करहाट के शिलाहार वंशी राजा विजयादित्य के मन्त्री लक्ष्म या लक्ष्मण का संरक्षण प्राप्त था। इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि कोल्हापुर ही कर्णपार्य का जन्मस्थल होगा। पर बलिष्ठ प्रमाणों के अभाव में यह मानना समुचित नहीं है कि कोल्हापुर ही कवि का जन्मस्थल है, क्योंकि समवसरण के विवरण में कवि ने सर्वप्रथम करहाट का नाम जो लिया है, उसका और भी कोई अदृष्ट कारण हो सकता है। अतः उसके वंश, माता-पितादि के सम्बन्ध में इस समय कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अब कर्णपार्य के अमरकाव्य नेमिनाथ-पुराण के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इस पुराण में देशनिवेशवर्णन, पुण्डरीकिणी नगर का ऐश्वर्य-वर्णन, राज्यवैभववर्णन और देवगतिवर्णन (आश्वास १) चित्ताकर्षक हैं। इसी प्रकार भगवान् नेमिनाथ के गर्भावतरण एवं जन्माभिषेक (आश्वास ८) वैराग्य, दान, तप, केवलज्ञानोत्पत्ति एवं समवसरण वर्णन (आश्वास १३) और निर्वाण का वर्णन भी मार्मिक है। साथ ही प्रद्युम्नकुमार, पाण्डव एवं बलदेव की तपस्या का वर्णन (आश्वास १४) भी विशेष चित्ताकर्षक हैं। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है जैन काव्य एवं पुराणों का प्रधान रस शान्त रस है। परन्तु यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि आस्वादकों को एक ही रस से सन्तोष नहीं हो सकता। इसीलिए शान्तरस के साथ-साथ जैनपुराणों एवं काव्यों में शृंगारादि शेष रस भी यथास्थान प्रकरणानुकूल उचित मात्रा में निबद्ध कर दिए गए है। महाकवि नागचन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार सिद्धरस से लौह सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार शान्तरस के सम्पर्क से पाप प्रवृत्ति के जनक शृंगारादि रस भी पुण्य का कारण बन जाते हैं। प्रस्तुत काव्य में भी शान्तरस एवं उसका स्थायीभाव निर्वेद विशेष रूप से वर्णित है। प्रथम आश्वास में नागदत्त इभकेतु और प्रीतिमति-चिन्तागति के वैराग्य प्रसंगों में तथा द्वितीय आश्वास में अर्हद्दास अमितगामी अमिततेज और सुप्रतिष्ठ के वैराग्य प्रसंगों में शान्तरस, तृतीय आश्वास में शान्तनु और पाण्डु-कुन्ति के प्रसंगों में शृंगाररस, सुप्रतिष्ठ के उपसर्ग में करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। चतुर्थ तथा पंचम आश्वास में श्मशान के वर्णन में बीभत्स-रस, विवाहों के प्रसंगों में शृंगाररस तथा षष्ठ आश्वास में कंस के चरित्र में मात्सर्यादि भावों के साथ-साथ वीररस की सृष्टि की गई है। सप्तम आश्वास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हास्य, वीर और शृंगार के साथ-साथ अद्भुतरस का प्रयोग हुआ है। नेमिनाथ के गर्भावतरण तथा जन्माभिषेक आदि में भक्ति के साथ अद्भुतरस पाया जाता है। नवम आश्वास से लेकर द्वादश आश्वास तक कौरव और पाण्डवों के चरित्र में मात्सर्यादि भावों के साथ रौद्ररस की तथा बलदेव, वासुदेव, जरासंध और कौरव एवं पाण्डवों के युद्ध प्रसंग में वीररस की प्रधानता है। द्वादश आश्वास के अन्त में वीर तथा रौद्ररस, त्रयोदश आश्वास के आदि में शृंगाररस और अन्त में शुद्ध शान्तरस तथा चतुर्दश आश्वास के प्रारम्भ में शान्त, बलदेव के प्रलाप प्रसंग में करुण एवं अन्त में स्वच्छ शान्त रस का वर्णन प्राप्त होता है।

कर्णपार्य 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' इस पूर्व परम्परा के पक्के अनुयायी थे। इसीलिए कथाभाग तथा रस की ओर इनका जितना लक्ष्य था, उतना वर्णन और अलंकार की ओर नहीं था। इनके काव्य में वर्णन और अलंकार बहुत कम हैं। कवि के अधिकांश पद्यों में ह्यत्यनुप्रास नामक शब्दालंकार ही दृष्टिगोचर होता है (आश्वास ६, पद्य ३४; आश्वास ७, पद्य १३१; आश्वास ८, पद्य १३०; आश्वास ११, पद्य ९९; आश्वास १२, पद्य ११८, १२७, १५६)।

इस पुराण में उपमा, दृष्टान्त, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के उदाहरण सीमित मात्रा में ही मिलते हैं। अलंकारों में कर्णपार्य को उपमालंकार अधिक प्रिय था। इसके लिए आश्वास १०, ११ और १२ विशेष उल्लेखनीय हैं।

कर्णपार्य की शैली में विशेषतः पांचाली तथा वैदर्भी रीति ही दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि कहीं-कहीं वीर, बीभत्स और रौद्र रस के अनुकूल गौड़ी रीति भी मिलती है (आश्वास १२, पद्य २७३ आदि)। स्वतन्त्र रचनाकार होते हुए भी कर्णपार्य ने प्राचीन संस्कृत एवं कन्नड कवियों के भावों को भी यथावसर ग्रहण किया है। प्रतिपाद्य विषय को सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए इन्होंने संस्कृत के व्यावहारिक वाक्यों एवं कहावतों को जोड़कर विषय को सुन्दर बनाया है। कवि कर्णपार्य ने प्राचीन व्याकरण के नियमों का पालन अवश्य किया है, फिर भी अनेक स्थानों पर इन्होंने कन्नड के नूतन रूपों को भी अपनाया है।

अन्यान्य जैन कवियों की तरह इन्होंने भी वैदिक पुराणों में वर्णित त्रिमूर्ति, समुद्रमन्थन, समुद्रमन्थन से लक्ष्मी की उत्पत्ति आदि वैदिक बातों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टान्त रूप में ले लिया है। नेमिनाथपुराण की कथावस्तु में केवल नेमिनाथ का चरित्र जैन परम्परा के अनुसार वर्णित है। शेष बलदेव-वासुदेव का चरित्र वैदिक भागवत कथा से, कौरव-पाण्डवों का चरित्र वैदिक महाभारत की कथा से न्यूनाधिक मिलता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि जहाँ वैदिक पुराण में देवकी के विवाह के पूर्व वसुदेव के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती है, वहाँ नेमिनाथपुराण में इस प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। विस्तार के भय से वह यहाँ पर नहीं दिया जा रहा है। दोड्डय्य (लगभग ई० सन् १५५०), मँगरस (ई० सन् १५०८) आदि कवियों ने अपनी कृतियों में कर्णपार्य की 'वीरेशचरित्र' नामक और एक कृति का उल्लेख किया है। किन्तु वह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

सोमनाथ

इन्होंने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ कन्नड में लिखा है। मालूम होता है कि इन्हें 'विचित्रकवि' नामक उपाधि प्राप्त थी। सोमनाथ ने अपनी रचना में लिखा है कि मेरे इस ग्रंथ का संशोधन सुमनोबाण तथा अभयचन्द्र सिद्धान्ती ने किया है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि सोमनाथ सुमनोबाण का समकालीन था। सुमनोबाण का काल लगभग ई० सन् ११५० है। सोमनाथ के इस काल की पुष्टि श्रवणबेळगोळ के लगभग ११२५ ई० के शिलालेख नं० ३८४ से भी होती है। लेख में गंगराज के पुत्र बोप्प के गुरु माधवचन्द्र का उल्लेख है। इन्हीं माधवचन्द्र की स्तुति सोमनाथ ने अपने ग्रंथ में की है। इसलिए श्री आर० नरसिंहाचार्य के मतानुसार सोमनाथ का काल लगभग ११४० ई० है। सोमनाथ का कल्याणकारक वैद्यक ग्रंथ आचार्य पूज्यपादकृत कल्याणकारक नाम के संस्कृत वैद्यक ग्रंथ का ही कन्नड अनुवाद है। सोमनाथ ने वाग्भट, चरक आदि के वैद्यक ग्रंथों से पूज्यपाद के 'कल्याणकारक' को श्रेष्ठ बतलाया है। साथ ही साथ इसमें यह भी लिखा है कि कल्याणकारक की चिकित्सापद्धति में मद्य, मांस तथा मधु निषिद्ध हैं। ग्रंथ के प्रारम्भ में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और सरस्वती के साथ माधवचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अभयचन्द्र कनकचन्द्र पण्डितदेव की भी स्तुति की गई है।

कवि सोमनाथ के द्वारा संस्तुत उपर्युक्त माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और कनकचन्द्र ये तीनों समकालीन थे। इनमें से माधवचन्द्र त्रिलोकसार के टीकाकार, अभयचन्द्र गोम्मटसार की मंदप्रबोधिका टीका के रचयिता और कनकनन्दि गोम्मटसार की रचना में सहायक प्रतीत होते हैं। यदि मेरा यह अनुमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थ है तो इन आचार्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें जानने योग्य हैं। त्रिलोकसार के टीकाकार माधवचन्द्र आचार्य नेमिचन्द्र के शिष्य मालूम होते हैं। मूल ग्रंथ में भी इनकी कई गाथाएँ सम्मिलित हैं। बल्कि संस्कृत टीका की उत्थानिका से ज्ञात होता है कि गोम्मटसार में भी इनकी कई गाथायें समाविष्ट की गयी हैं। संस्कृत गद्यमय क्षपणसार भी जो कि लब्धिसार में शामिल है, इन्हीं माधवचन्द्र की रचना है। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र के गोम्मठसार की रचना में केवल माधवचन्द्र का ही नहीं अपितु आचार्य कनकनन्दि का भी सहयोग रहा है।

स्व० नाथूरामजी प्रेमी के मतानुसार गंगनरेश राचमल के महामंत्री चाउण्डराय, सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र वीरनन्दि, इन्द्रनंदि, कनकनंदि और माधवचन्द्र इन सब का काल विक्रम संवत् ९२ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।[1] ऐसी अवस्था में नरसिंहाचार्य द्वारा अनुमित सोमनाथ के काल में और प्रेमी जी द्वारा अनुमित काल में थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य पड़ेगा। इसका यही समाधान है कि उपर्युक्त दोनों काल केवल अनुमानित हैं। इसलिए सोमनाथ के काल में थोड़ा-बहुत घटाने-बढ़ाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। कीर्तिवर्म (ई० सन् ११२५) के गोवैद्य को छोड़कर आज तक के उपलब्ध सभी कन्नड वैद्यक ग्रंथों में कन्नड कल्याणकारक प्राचीन एवं प्रकाशनीय है।

वृत्तविलास

इन्होंने धर्मपरीक्षा लिखी है। प्राक्काव्यमालिका में प्रकाशित शास्त्रसार के कुछ अंशों से पता लगता है कि इन्होंने शास्त्रसार नामक एक अन्य ग्रंथ भी रचा है। कवि ने अपनी रचना में अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। अतः कवि के कालनिर्णय का आधार उनके द्वारा स्तुत गुरुपरम्परा ही है। इस गुरुपरम्परा में उन्होंने व्रती शुभकीर्ति, सिद्धांती माधवनंदि, यति भानुकीर्ति, धर्मभूषण, अमरकीर्ति, वागीश्वर और अभयसूरि नाम गिनाये हैं। श्री आर० नरसिंहाचार्य ने उपर्युक्त आचार्यों के काल के आधार पर वृत्तविलास का काल ई० सन् ११६० निर्धारित किया है। कवि के सम्बन्ध में विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं है। वृत्तविलास के श्रद्धेय गुरु अमरकीर्ति हैं। आचार्य अमितगतिकृत धर्मपरीक्षा को ही वृत्तविलास ने कन्नड भाषा भाषियों

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३००।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के हितार्थ कन्नड में लिखा है। इस बात को कवि ने अपनी रचना में स्वयं स्वीकार किया है।

धर्मपरीक्षा चम्पू ग्रंथ हैं। इसमें दश आश्वास हैं। ग्रंथ की शैली सुगम एवं ललित है। कथा कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक है। फिर भी कुछ समय के उपरांत वृत्तविलास की यह धर्मपरीक्षा नामककृति सामान्य जनता को कठिन लगने लगी। इसलिये स्थानीय श्रावकों ने श्रवणबेळगोळ के तत्कालीन मठाधीश चारुकीर्ति जी से इसकी कन्नड व्याख्या तैयार करने के लिए प्रार्थना की। इस कार्य के लिए चारुकीर्ति जी ने चंद्रसागर जी को आज्ञा दी। तद्नुसार चंद्रसागरजी ने शा० श० १७७० में सुलभ कन्नड गद्य में धर्मपरीक्षा को रूपांतरित किया। चंद्रसागर जी की धर्मपरीक्षा में भी दश अध्याय हैं। इस प्रकार कन्नड में अभी तक धर्मपरीक्षा सम्बन्धी ये ही दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओं में इसी विषय को निरूपित करनेवाले धर्मपरीक्षा नाम के कई ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। उनमें निम्नलिखित ग्रंथ प्रमुख हैं—

जयराम नामक कवि ने गाथाप्रबंध में एक 'धर्मपरीक्षा' की रचना की थी। वह प्रायः प्राकृत भाषा में रही होगी। किंतु इस धर्मपरीक्षा की कोई भी प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इसी के आधार पर हरिषेण ने भी अपभ्रंश भाषा में धर्मपरीक्षा नामक ग्रंथ लिखा था। ये हरिषेण मेवाड़देश-वासी गोवर्धन एवं उनकी धर्मपत्नी गुणवती के पुत्र थे। हरिषेण कार्यवश चित्रकूट से अचलपुर गये और वहाँ पर उन्होंने छंद, अलंकार आदि का अध्ययन कर वि० सं० १०४४ में अपभ्रंश धर्मपरीक्षा की रचना की। हरिषेण के गुरु सिद्धसेन थे और उन्हीं की कृपा से यह धर्मपरीक्षा लिखी गयी थी। इसमें संदेह नहीं है कि जयराम हरिषेण के पहले हुए हैं। इसी के बाद माधवसेन के शिष्य आचार्य अमितगति ने वि० सं० १०७० में संस्कृत धर्म-परीक्षा की रचना की। अमितगति की धर्मपरीक्षा हरिषेण की धर्मपरीक्षा से २६ वर्ष बाद की रचना है।

जयराम की धर्मपरीक्षा की कोई प्रति नहीं मिली है। हरिषेण की धर्म-परीक्षा भी अभी हस्तलिखित अवस्था में ही है। परंतु अमितगति की धर्म-परीक्षा मुद्रित हो चुकी है, मात्र यही नही, इसका सार हिंदी, मराठी आदि भाषाओं में भी प्रकाशित हो चुका है। अमितगति का अनुकरण करते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उनके ग्रंथ से बहुत से अंशों को हू-ब-हू लेकर वि० सं० १६४५ में कवि पद्मसागर ने भी एक धर्मपरीक्षा की रचना की थी, जो कि मुद्रित हो चुकी है।[1] वृत्तविलास की धर्मपरीक्षा के अभ्यासियों को अमितगति की धर्मपरीक्षा का परिचय देना आवश्यक है, क्योंकि वृत्तविलास ने अमितगति के ग्रंथ के आधार पर ही अपने ग्रंथ की रचना की है। अमितगति एक प्रौढ़ कवि थे। संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे आशुकवि भी थे। संस्कृत में उन्होंने कई ग्रंथ रचे हैं। डा० उपाध्ये का अनुमान है कि जयराम के प्राकृत ग्रंथ का अनुकरण करके ही अमितगति ने अपनी संस्कृत धर्मपरीक्षा को रचा होगा।

धर्मपरीक्षा की रचना-प्रक्रिया का पूर्णरूपेण अनुकरण करनेवाला एक ग्रंथ और है। उसका नाम धूर्ताख्यान है। यह ग्रंथ मुद्रित हो चुका है। धूर्ताख्यान प्राकृत भाषा का एक लघुकाय ग्रन्थ है। उसके रचयिता हरिभद्र हैं हरिभद्र एक महान् कवि हैं। उनका काल ७वीं शताब्दी है। उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। हरिभद्र एक विचक्षण कवि ही नहीं थे अपितु अप्रतिम नैयायिक तथा कुशल कथाकार भी थे। हरिभद्र ने एक ही तरह की विविध कथाओं का वैदिक पुराणों से संग्रह कर उन कथाओं की असंबद्धता को स्पष्ट किया है। असंबद्ध कथाओं एवं उन पर विश्वास करनेवालों के अंधविश्वास का उपहासात्मक विवरण हरिभद्र ने अपनी इस रचना में बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है।

भारतीय वाङ्मय में पूर्णतया उपहासपरक कृतियाँ दुर्लभ ही हैं। नाटकों एवं धर्मग्रंथों में भी कहीं-कहीं उपहासात्मक प्रसंग पाये जाते हैं, किन्तु धूर्ताख्यान सदृश शुद्ध, बौद्धिक एवं उपहासपरक ग्रंथ प्राचीन भारतीय वाङ्मय में दूसरा नहीं है। धर्माभिनिवेश को छोड़कर प्राचीन वाङ्मय के अभ्यासियों के लिए यह एक दुर्लभ रत्न है।[2] धूर्ताख्यान की भाषा सुगम एवं प्राचीन है। वृत्तविलास की धर्मपरीक्षा की पृष्ठभूमि को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अमितगति की धर्मपरीक्षा तथा हरिभद्र के धूर्ताख्यान का परिशीलन आवश्यक है।

वृत्तविलास की धर्मपरीक्षा का प्रारंभ इस प्रकार होता है—मनोवेग

---

१. 'प्रबुद्ध कर्णाटक' रजतजयंती अंक में प्रकाशित डा० ए० एन० उपाध्ये का धर्मपरीक्षा सम्बन्धी लेख देखें।

२. एदतर्थं प्रबुद्ध कर्णाटक रजत जयंती अंक देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पवनवेग नाम के दो राजकुमार पाटलीपुर जाकर वहाँ के ब्रह्मालयस्थ नगाड़े को बजाकर वहाँ रखे हुए सिंहासन पर बैठ जाते हैं। इसके बाद ब्राह्मण विद्वानों द्वारा उन्हें यह ज्ञात होता है कि जो विद्वान् इस नगाड़े को बजाकर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करते हैं, वे ही इस सिंहासन पर बैठने के अधिकारी होते हैं। अतः बतलाइए कि आपलोग किस विषय के विशेषज्ञ हैं। इस बात को सुनकर राजकुमारों ने जवाब दिया कि 'हम विद्वान् नहीं हैं। किन्तु यों ही आकर इस सिंहासन पर बैठे हैं। इतना कहकर वे सिंहासन से उठकर नीचे बैठ जाते हैं।' बाद में उन राजकुमारों ने ब्राह्मण विद्वानों को जैन धर्म का स्वरूप समझाया और उनके धर्म का अनेक प्रकार से निराकरण कर जयपत्र प्राप्त किया।

नागवर्म (प्रथम)

उन्होंने छन्दोंबुधि एवं कर्णाटक कादम्बरी की रचना की है। उन्हें वीर-मार्तण्ड चाउण्डराय का संरक्षण प्राप्त था। वे आचार्य अजितसेन के शिष्य थे। आर० नरसिंहचार्य के मत से इनका समय लगभग ९९० ई० है।

महाकवि पम्प तथा पोन्न की तरह यह भी वेंगिविषय के निवासी थे। नागवर्म के पिता वैण्णमय्य वैदिक ब्राह्मण थे यद्यपि नागवर्म जैनधर्म के अनुयायी हो गये थे। पम्प एवं पोन्न की तरह इन्होंने किसी धार्मिक ग्रन्थ की रचना नहीं की है। इन्होंने अपने को युद्धवीर और सत्कवि कहा है। कन्नड साहित्य में कादम्बरीसदृश उत्कृष्ट रचना दूसरी नहीं मिलती है। बाणभट्ट की संस्कृत में रचित कादम्बरी काव्यमय गद्य में है और वह अनेक स्थलों पर दुर्बोध बनी हुई है/ऐसी महाकृति को चम्पूरूप में कन्नड में लिखनेवाले नागवर्म वास्तव में अभिनन्दनीय हैं। नागवर्म का यह ग्रंथ संस्कृत में रचित कादम्बरी का मात्र कन्नड अनुवाद नहीं है। इसमें अनेक वर्णन छोड़ भी दिये गये हैं। फिर भी मूल के सौन्दर्य की रक्षा करते हुए नागवर्म ने इसे अपने ही ढंग से एक स्वतंत्र कृति का रूप प्रदान किया है। कवि की भाषा सुगम एवं सशक्त और कथा-निरूपण प्रवाहमय है। नागवर्म की दूसरी कृति छन्दोंबुधि छन्दशास्त्र से सम्बन्धित एक सुन्दर कृति है।

नागवर्म (द्वितीय)

इन्होंने काव्यावलोकन, कर्णाटकभाषाभूषण, वस्तुकोश और अभिधान-रत्नमाला नामक ग्रंथों की रचना की है। ये सभी ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कन्नड भाषा के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी लक्षण ग्रन्थ हैं। विद्वानों की राय में इनका समय लगभग ११४५ ई० है। नागवर्म के नाकिग और नाकि नाम भी थे।[1] यह जैन ब्राह्मण थे।[2] इनके पिता का नाम दामोदर था।[3] इन्हें अभिनव शर्ववर्म कविकर्णपूर कविता गुणोदय और कवि कंठाभरण नामक उपाधियाँ प्राप्त थीं।[4]

आचण्ण, जन्न, साळव और देवोत्तम आदि कवियों ने भी इनकी स्तुति की है। महाकवि जन्न (ई. सन् १२०९) के कथनानुसार इनका एक ग्रंथ जिनपुराण भी था। परंतु अभी तक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है। कवि ने अपनी रचनाओं में अपने को एक असाधारण पंडित तथा अनेक राजसभाओं में प्रतिष्ठा अर्जित करने वाला बताया है। नागवर्म ने अपने निवासस्थान एवं समय आदि के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है।

कन्नड लक्षण ग्रंथ रचनेवालों में नागवर्म (द्वितीय) नायक मणि तुल्य हैं। इन्होंने कन्नड भाषा से सम्बंधित सभी क्षेत्रों की अनुपम सेवा की है। कवि का काव्यावलोक नामक प्रथम ग्रंथ अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रंथ नृपतुंग के कविराजमार्ग से अधिक परिपूर्ण है। इसमें सूत्रों को कंद पद्यों में देकर पूर्व कवियों के ग्रंथों से उदाहरण दिये गये हैं। यह ग्रंथ निम्नलिखित पाँच अधिकरणों में विभक्त है—

(१) शब्दस्मृति नामक प्रथम अधिकरण में संधिप्रकरण, नामप्रकरण, समासप्रकरण, तद्धितप्रकरण और आख्यानप्रकरण नामक पाँच प्रकरणों में कन्नड भाषा के व्याकरण का शास्त्रीय एवं लालित्यपूर्ण निरूपण है। कन्नड व्याकरण के लिए शब्दस्मृति प्रथम रचना है।

(२) काव्यमलव्यावृत्ति नामक द्वितीय अधिकरण के पदपदार्थसंधिदोषविनिश्चय और वाक्यवाक्यार्थदोषानुकीर्तन नामक दो प्रकरणों में पद और वाक्यों की रचना में होनेवाले दोषों को बताया गया है।

(३) गुणविवेकाधिकरण नामक तृतीय अधिकरण व मार्गविभागदर्शन,

---

१. अभिधानवस्तुकोश, पद्य ३६।
२. काव्यावलोकन की प्रशस्ति।
३. कर्णाटककविचरिते, भाग १, पृष्ठ १४४।
४. काव्यावलोकन और वस्तुकोश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दालंकारनिर्णय और अर्थालंकारनिर्णय नामक तीन प्रकरणों में समसंश्लिष्ट आदि दश गुणों एवं शब्दालंकारों का अनुक्रम से विवेचन है।

(४) रीतिक्रमरसनिरूपणाधिकरण नामक चतुर्थ अधिकरण में रीतिप्रकरण और रसप्रकरण नामक दो प्रकरण हैं।

(५) कविसमयाधिकरण नामक पञ्चम अधिकरण में असदाख्याति, सद्-कीर्तन, नियम, अर्थ और ऐक्य नामक पाँच प्रकरण हैं। यहाँ इन सबका विस्तृत वर्णन करना सम्भव नहीं है। नागवर्म के मत से कृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं— पद्यमय, गद्यमय और मिश्रित। कथा अथवा आख्यायिका गद्यमय एवं सर्गबंध काव्य पद्यमय तथा चंपू गद्यपद्यमिश्रित होता है। नागवर्म (द्वितीय) ने अपने काव्यावलोकन की रचना में प्रसिद्ध संस्कृत लाक्षणिक वामन, रुद्रट, भामह और दण्डी का अनुकरण किया है। कवि का दूसरा ग्रंथ कर्णाटक भाषा-भूषण हैं। यह संस्कृत भाषा में रचित कन्नड व्याकरण ग्रंथ है। सम्भवतः कन्नड से अनभिज्ञ संस्कृत विद्वानों को कन्नड भाषा के सामर्थ्य एवं सौन्दर्य का परिचय देने के लिए नागवर्म ने यह प्रयास किया होगा। आगे चलकर भट्टारक अकलंक (ई० सन् १६०४) ने भी शब्दानुशासन नामक एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। भाषाभूषण में संज्ञा, संधि, विभक्ति, कारक, शब्दरीति, समास, तद्धित, आख्याननियम, अव्ययनिरूपण और निपातनिरूपण नामक दस परिच्छेद हैं।

नागवर्म का तीसरा ग्रंथ अभिधानवस्तुकोश है। यह कन्द वृत्तों में रचित संस्कृत-कन्नड कोश है। कन्नड में उपलब्ध वृहद् कोशों में यह प्रथम कोश है। एकार्थकांड, नानार्थकांड और सामान्यकांड, इस प्रकार इस कोश में तीन विभाग हैं। इसमें प्राचीन कन्नड कवियों के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत पदों का कन्नड में अर्थ दिया गया है। इसमें कवि ने वररुचि, हलायुध आदि की कृतियों से सहायता ली है। इनका चौथा ग्रंथ अभिधानरत्नमालाटीका है। इसमें हलायुधकृत अभिधानरत्नमाला नामक संस्कृत कोश के संस्कृत शब्दों के समानार्थक कन्नड शब्द दिये गये हैं। इस टीका में टीकाकार नागवर्म ने हलायुध के विभागक्रम का ही अनुसरण किया है। कन्नड काव्यों में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों के अर्थ को जानने के लिए यह टीका विशेष उपयोगी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. चम्पूयुग

नेमिचन्द्र

इस युग में परम्परागत चम्पूशैली का अधिक अनुसरण होने लगा था। किन्तु जहाँ पम्पयुग के चम्पूकाव्य में वीररस की व्यंजना प्रधान थी, वहाँ इस युग की रचनाओं में शृंगाररस की अभिव्यक्ति अधिक होने लगी थी। पम्प-युग के महाकाव्य के आदर्श का अनुकरण करनेवाले कवियों में नेमिचन्द्र का नाम सबसे पहले आता है। श्रेष्ठ चम्पू महाकवियों की पंक्ति में नेमिचन्द्र भी एक हैं। कर्णपार्य का आश्रयदाता सामंत रट्ट राजा लक्ष्मणदेव ही नेमिचन्द्र का भी आश्रयदाता है। कवि का कहना है कि वीरवल्लाल (ई० सन् ११७३-१२२०) के प्रधान पद्मनाभ ने इस नेमिनाथपुराण को रचवाया है। इस आधार पर नेमिचन्द्र का समय लगभग ११७० ई० है। इन्हें कविराजकुंजर, साहित्यविद्याधर, सुकविकंठाभरण, भारतीचित्तचोर, चतुर्भाषाकवि चक्रवर्ती, वाग्वल्लकी वैणिक आदि उपाधियाँ प्राप्त थीं। आश्चर्य यह है कि जहाँ नेमि-चन्द्र ने अपने पूर्व कवियों का स्मरण करते हुए किसी भी कन्नड कवि का उल्लेख नहीं किया है, वहीं जन्न, पार्श्व, मधुर, मंगरस आदि कन्नड कवियों ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है।

शृंगाररस के वर्णन में नेमिचन्द्र सिद्धहस्त हैं। वस्तुतः इनके कविता सामर्थ्य में स्वाभाविकता है। असाधारण शब्दसंपत्ति एवं प्रवाहमय गंभीर शैली ने इनकी रचनाओं को विशेष रूप से हृदयस्पर्शी बना दिया है। नेमिचन्द्र ने नेमिनाथपुराण नामक धार्मिक काव्य की और लीलावति नामक लौकिक काव्य की रचना की है। लीलावति इनकी पहली रचना है। यह काव्य शृंगाररसप्रधान है। नेमिनाथपुराण लीलावति की अपेक्षा वृहद्काय और एक सफल रचना है। १४वीं शताब्दी के अंत में होनेवाले कवि मधुर ने नेमिचन्द्र की कविकर्मकुशलता के सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह कोई गर्वोक्ति नहीं है अपितु सर्वानुमोदित तथ्य है कि लौकिक एवं धार्मिक रचनाओं के लिए कन्नड कवियों में नेमिचन्द्र तथा जन्न उल्लेखनीय हैं। ये दोनों कन्नड की कृतियों के लिए सीमापुरुष माने जा सकते हैं।"

लीलावति कन्नड साहित्य की प्रथम शृंगारिक रचना है। इसकी कथा-वस्तु सुबंधुरचित वासवदत्ता पर आधारित प्रतीत होती है। बनवासि का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजकुमार कंदर्पदेव स्वप्न में किसी सुन्दरी को देखता है और उसकी खोज में अपने साथी मकरंद के साथ निकल पड़ता है। स्वप्न में गोचर हुई वह सुन्दरी कुसुमपुर के नरेश शृंगारशेखर की कन्या लीलावति थी। लीलावति भी स्वप्न देखती है और प्रिय कन्दर्पदेव के अन्वेषण में दूत भेजती है। कई विघ्न बाधाएँ पार करने के बाद नायक-नायिका का मिलन होता है। शृंगार के चित्रण में कवि ने कई नई उद्भावनाएँ की हैं और कथाप्रवाह को रोचक बनाया है। 'स्त्रीरूप ही रूप है, शृंगार ही रस है' यह नेमिचन्द्र की मान्यता थी। यह रचना एक वर्ष में पूरी हुई।

बाहुबलि (ई० सन् १५००) के नागकुमारचरित, दोड्डय्य (ई० सन् १५५०) के चन्द्रप्रभ चरित और देवचन्द्र (ई० सन् १८३८) की राजावलीकथा में लीलावति की बड़ी प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार कन्नड साहित्य को नागवर्म के द्वारा कादंबरी जैसी सुन्दर कृति मिली है, उसी प्रकार नेमिचन्द्र द्वारा लीलावति जैसी रचना प्राप्त हुई। लीलावति की कथा छोटी है। यह शृंगाररसप्रधान रचना है। उद्दीपन के लिए कृति में सर्वत्र चित्ताकर्षक वर्णन भरे पड़े हैं इसमें कंदर्प और लीलावती का पात्रचित्रण बहुत ही सुन्दर हुआ है।

नेमिनाथपुराण नेमिचन्द्र की प्रसिद्ध रचना है। इसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र के साथ-साथ वसुदेव, अच्युत, कंदर्प आदि के चरित्र के समावेश का संकल्प तो कवि ने किया था, परन्तु कंसवध के प्रकरण के बाद काव्य समाप्त हो गया है। काव्य अधूरा होने के कारण ही इसका नाम अर्ध नेमिपुराण पड़ गया है। कवि ने कृष्ण की कथा के चित्रण में काव्य रसायन की सृष्टि ही कर डाली है। त्रिविक्रम वेषधारी वामन का विराट् रूपचित्रण; गोवर्धनलीला का प्रसंग और मल्लयुद्ध जैसे प्रसंग बड़े सरस बन पड़े हैं। कवि की वर्णनशैली अपूर्व है। इसी विषयवस्तु को लेकर इसके पूर्व कर्णपार्य ने चम्पू में और चाउण्डराय ने गद्य में काव्यरचना की है। नेमिचन्द्र ने इन दो पुराणों के अतिरिक्त उत्तरपुराण का भी अनुसरण किया है। काव्यदृष्टि से उपर्युक्त दो कन्नड पुराणों की अपेक्षा नेमिनाथपुराण श्रेष्ठ है। इसमें नेमिचन्द्र का पात्ररचनाकौशल निखरा है।

कवि नेमिचन्द्र संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् थे। इनकी चतुर्भाषा कविचक्रवर्ती की उपाधि से ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र कन्नड के ही नहीं, अपितु संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के भी ज्ञाता कवि थे। कवि ने स्वयं को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तार्किकतिलक' भी कहा है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र काव्य, सिद्धान्त आदि के साथ न्यायशास्त्र के भी विशेषज्ञ थे। कवि के अन्य किसी ग्रंथ का पता नहीं लगा है।

बोप्पण पण्डित

इन्होंने बालचन्द्र के सहयोग से २७ कन्नड पद्यों में श्रवणबेळगोळस्थ श्री गोम्मटेश्वर की स्तुति की है। ये पद्य लगभग ११८० ई० के श्रवणबेळगोळ के २३४ वें शिलालेख में उत्कीर्ण हैं। निर्वाणलक्ष्मीपतिनक्षत्रमालिका नामक इनकी एक अन्य लघुकाय कृति भी मिलती है। 'सुजनोत्तंस' शब्द से पूर्ण होने वाले अनेक नीतिबोधक कन्द पद्य भी इनके ही मालूम होते हैं क्योंकि कवि की उपाधियों में 'सुजनोत्तंस' भी एक उपाधि है। इनके अतिरिक्त इन्होंने अन्य किसी ग्रंथ की रचना की है, यह ज्ञात नहीं है।

शिलालेख में उत्कीर्ण पद्यों को इन्होंने अध्यात्मरसिक बालचन्द्र के सहयोग से रचा है। अतः ये उनके समकालीन होने चाहिए। बालचन्द्र का समय लगभग ११७० ई० है। श्रवणबेळगोळ के जिस शिलालेख में बोप्पण के ये पद्य उत्कीर्ण हैं, उस शिलालेख का समय लगभग ११८० ई० है। अतः कवि का समय भी लगभग यही होना चाहिए। बोप्पण के प्रेरक अध्यात्म रसिक बालचन्द्र जिनस्तुति के रचयिता एवं प्राभृतत्रय, परमात्मप्रकाश आदि संस्कृत एवं प्राकृत के अन्यान्य आचार्यों द्वारा प्रणीत आध्यात्मिक ग्रंथों के सफल कन्नड टीकाकार हैं। आगम ग्रंथों के टीकाकार होने के कारण ही ये अध्यात्मरसिक बालचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। बालचन्द्र मूलसंघ के देशीयगण के पुस्तकगच्छान्तर्गत कुन्दकुन्दान्वय के अनुयायी थे। ये ई० सन् ११७६ में स्वर्गस्थ नयकीर्ति[1] के शिष्य थे। दामनन्दि नामक इनका एक बड़ा भाई भी था।[2]

आचण्ण ने अपने वर्धमानपुराण में और पार्श्व ने अपने पार्श्वनाथपुराण में बोप्पण की प्रशंसा की है। केशिराज ने भी अपने शब्दमणि दर्पण में उदाहरणस्वरूप इनके कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। इनकी गोम्मटस्तुति एक मनोहर भावगीत है। इसमें कवि ने बड़ी भक्ति से श्री बाहुबली की स्तुति की है। स्तुति के ये [3]सुन्दर पद्य चित्ताकर्षक हैं। इनकी दूसरी

१. देखें, श्रवणबेळगोळ का शिलालेख नं० ६१।
२. नागमंगल ७० (११७८)।
३. शब्दमणिदर्पण, पृष्ठ १०७, ११२ और १६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृति निर्वाणलक्ष्मीपतिनक्षत्रमालिका २७ वृत्तों की एक लघुकलेवर कृति है। प्रत्येक पद्य 'निर्वाणलक्ष्मीपति' से समाप्त होता है। ग्रन्थारम्भ में दिये गये पद्य से ज्ञात होता है कि इसकी रचना भव्य-जनों की प्रेरणा से की गयी थी। बहुत सम्भव है कि बोप्पण ने इन लघु कृतियों के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण अन्य वृहत् ग्रंथ भी रचा हो, क्योंकि पार्श्व आदि समाजमान्य कवियों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। केशिराज ने भी अपनी कृति में उदाहरणस्वरूप इनकी कृतियों से पद्यों को लिया है। स्वयं कवि ने भी अपने को स्पष्ट रूप से 'सुकविसमाजनुत' कहा है।

अग्गल

इन्होंने चन्द्रप्रभपुराण की रचना की है। यह भी मूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कुन्दकुन्दान्वय के हैं। इनके पिता शांतीश, माता पोचाम्बिका और गुरुश्रुतकीर्ति त्रैविद्य थे। कवि इंगलेश्वरनिवासी है। इन्हें भारतीभालनेत्र, काव्यनौकर्णधार, साहित्यविद्याविनोद आदि कई उपाधियाँ प्राप्त थीं। अग्गल किसी आस्थान के प्रमुख कवि भी थे। यह बात इनकी कृति से ही सिद्ध होती है। इन्होंने चन्द्रप्रभपुराण की रचना ई० सन् ११८९ में की थी। कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों में पंप, पोन्न और रन्न का स्मरण किया है। दूसरी ओर आचण्ण, देवकवि, अण्डय्य, कमलभव, बाहुबलि, पार्श्व आदि कवियों ने इनकी प्रशंसा की है।

अग्गल का चन्द्रप्रभपुराण १६ आश्वासों में विभक्त है। एक शिलालेख से[1] विदित होता है कि यह पुराण उन्होंने अपने श्रद्धेय गुरु श्रुतकीर्ति की आज्ञा से ही रचा है। कन्नड में उपलब्ध तीर्थंकर चन्द्रप्रभ सम्बन्धी कथा ग्रंथों में यह प्रथम रचना है। कवि ने इस रचना की बड़ी प्रशंसा की है। १२वीं शताब्दी के अन्य चम्पू ग्रंथों की तरह यह भी संस्कृतभूयिष्ठ हो, सुदृढ़ बन्ध से अधिक प्रौढ़ बना है। इसमें सन्देह नहीं है कि अग्गल कविहृदय हैं और उनके वर्णनों में कल्पनाविलास है। इन्होंने अपने समय के वीरतापूर्ण जीवन पर भी प्रकाश डाला है, यद्यपि इसकी रचना शैली बहुत क्लिष्ट है। चन्द्रप्रभपुराण में भवावलियाँ नहीं हैं, इसलिए कथा समझने में कठिनाई नहीं होती है।

आचण्ण

इन्होंने वर्धमानपुराण तथा श्रीपदाशीति की रचना की है। ये भारद्वाज गोत्रीय हैं। इनके पिता केशवराज, माता मल्लाम्बिका और गुरु नन्दियोगीश्वर

---

१. विळिगि शासन (१५९२)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। आचण्ण पुलिगेरे के निवासी थे। 'वसुधैकबान्धव' उपाधिधारी चमूपति रेचण की सत्प्रेरणा से कवि के पिता केशवराज तथा उनके मित्र तिक्कण चामण, इन दोनों ने मिलकर वर्धमानपुराण लिखना प्रारंभ किया था। परन्तु बीच में ही केशवराज के देहावसान हो जाने के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ़ा। बाद में रेचण की प्रेरणा से आचण्ण ने इसे पूर्ण किया।

आचण्ण को 'वाणीवल्लभ' नामक उपाधि प्राप्त थी। उपर्युक्त चमूपति रेचण पहले कलचुरियों के यहाँ और बाद में होय्सल शासक वीर बल्लाल (ई० सन् ११७३-१२२०) के यहाँ मंत्री जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण उच्च पद पर सम्मानपूर्वक आसीन थे (अरसिकेरे शिलालेख ७७)। मद्रास प्राच्य ग्रंथकोशलयस्थ एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि आचण्ण के गुरु नन्दियोगीश्वर ई० सन् ११८९ में विद्यमान थे। विद्वानों ने आचण्ण का समय ई० सन् ११९५ निर्धारित किया है।

कवि ने अपनी रचना में पूर्व कवियों में श्री विजय, गजांकुश, गुणवर्म, नागवर्म, असग, हंप, पोन्न, अग्गल और बोप्प की स्तुति की है। कवि पार्श्व ने श्री गुणवर्म, कीर्तिकलागर्भ, जैनागमगर्भ, जगद्गुरु, प्रसन्नगुण, मृदुहृदय आदि विशेषणों से आचण्ण की बड़ी प्रशंसा की है। इसमें सन्देह नहीं है कि ये एक प्रौढ़ कवि हैं। इनकी रचना में १२वीं शताब्दी के अन्य चंपू काव्यों की अपेक्षा शब्दालंकार अत्यधिक है। आचण्ण का वर्धमानपुराण अंतिम तीर्थंकर वर्धमान (महावीर स्वामी) के चरित्र से सम्बन्धित है। यह २६ आश्वासों में विभक्त है। तीर्थंकर वर्धमान के चरित्र के सम्बन्ध में लिखी गई कन्नड कृतियों में यह ग्रंथ प्रथम है। आचण्ण ने अपनी दूसरी कृति श्री पदाशीति में पंचपरमेष्ठियों की महिमा गायी है। इसमें ९४ कन्द पद्य हैं। यह भक्तिरस से परिपूर्ण एक सुन्दर रचना है। ग्रंथ का बंध प्रौढ़ है। इसकी प्रशंसा कवि ने स्वयं की है।

महावीरचरित्रप्रतिपादक स्वतंत्र संस्कृत कृतियों में महाकवि असग (विक्रम संवत् ११वीं शताब्दी) का वर्धमानपुराण तथा आचार्य सकलकीर्ति (विक्रम संवत् १५वीं शताब्दी) का वर्धमानचरित्र ये दोनों पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। वर्धमानपुराण सोलापुर से और वर्धमानचरित्र का मात्र हिन्दी अनुवाद बंबई से प्रकाशित हुआ है। कन्नड ग्रंथों में आचण्ण के इस वर्धमानपुराण के अतिरिक्त कवि पद्म (विक्रमीय ११वीं शताब्दी) का एक अन्य वर्धमानपुराण भी उपलब्ध है। साहित्य की दृष्टि से कवि पद्म का ग्रंथ भी एक सुन्दर रचना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंधुवर्म

इन्होंने 'हरिवंशाभ्युदय' तथा 'जीव संबोधन' की रचना की है। ये वैश्य कवि हैं। कवि ने अपनी रचना में अपने वर्ण के अतिरिक्त जन्मस्थल, माता-पिता आदि अन्य किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया है। कवि कमलभव (लगभग १२३५ ई०) ने अपनी रचना में स्वर्गवासी बंधुवर्म का स्मरण किया है, इससे ज्ञात होता है कि बंधुवर्म कमलभव के पूर्ववर्ती थे। आर० नरसिंहाचार्य के मत से इनका समय ई० सन् बारहवीं शताब्दी है।

नागराज, मंगरस आदि कवियों ने बंधुवर्म की बड़ी प्रशंसा की है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि बंधुवर्म ने अपनी रचना में किसी भी पूर्व कवि का स्मरण नहीं किया है। बल्कि इन्होंने अपने कवि चातुर्य की प्रशंसा स्वयं की है। हरिवंशाभ्युदय में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र सुन्दर ढंग से वर्णित है। इसमें २४ आश्वास हैं। ग्रंथ की शैली सहज एवं सुन्दर है। कवि का बंध ललित और कल्पनाविलास चित्ताकर्षक है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस रचना में सौंदर्य और लालित्य दोनों ही उपस्थित हैं।

बंधुवर्म का दूसरा ग्रंथ जीवसंबोधन है। यह नीतिवैराग्यबोधक ग्रंथ है। इसमें १२ अधिकार हैं। जैनसाधना में १२ अनुप्रेक्षाओं का स्थान बहुत ऊँचा है। वस्तुतः ये ही मानव को वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचाती हैं। तीर्थंकर भी इन्हीं के द्वारा अपनी वैराग्य दशा को पुष्ट करते हैं। पापभीरु एवं सच्चा धर्मश्रद्धालु व्यक्ति प्रतिदिन नियम से इन अनुप्रेक्षाओं का स्मरण करता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है वस्तु स्वभाव का गहन चिंतन। जब वस्तुस्वभाव का चिंतन गहन एवं तात्त्विक होगा तो रागद्वेष आदि वृत्तियाँ क्षीण होती जायेंगी। जिन विषयों का चिंतन हमारी रागद्वेष की वृत्तियों के शोधने में विशेष उपयोगी हो सकता है, ऐसे बारह विषयों को चुनकर उनके चिंतन को ही बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में गिनाया गया है। अनुप्रेक्षाओं को भावना भी कहते हैं।

बंधुवर्म ने जीवसंबोधन में इन अनुप्रेक्षाओं का बहुत ही सरल, स्वाभाविक एवं चित्ताकर्षक ढंग से वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि कवि अपने कार्य में पूर्ण सफल हुआ है। अध्यात्मप्रेमी-जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रंथ की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। इसमें धर्म के साथ ही साथ सोदाहरण नीति की शिक्षा दी गई है। ग्रंथ की शैली ललित एवं सुन्दर है। तमिल भाषा में भी इसी नाम का एक ग्रंथ है। प्रायः दोनों के विषय मिलते-जुलते हैं। जीव-संबोधन का हिन्दी-अनुवाद होना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वपण्डित

इन्होंने पार्श्वनाथपुराण की रचना की है। इनके पिता लोकणनायक, माता कामियक्क, अग्रज नागण और गुरु वासुपूज्य हैं। कवि ने पार्श्वनाथपुराण को ई० सन् १२२२ में रचा है। मालूम होता है कि पार्श्व सौंदत्ति के शासक कार्तवीर्य चतुर्थ (ई० सन् १२०२-१२२०) की सभा में आस्थान कवि थे क्योंकि इन्होंने अपनी रचना में अपने को स्पष्ट रूप से कार्तवीर्य का आस्थानकवि घोषित किया है। कवि पार्श्व का समकालीन रट्टवंशीय शासक कार्तवीर्य चतुर्थ ही है।

कवि ने राजा लक्ष्मण को कार्तवीर्य का पुत्र बतलाया है। अन्यान्य शिलालेखों से सिद्ध होता है कि राजा लक्ष्मण ई० सन् १२२९ में शासनारूढ़ था। उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त रायल ऐशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के जर्नल (भाग १०, पृष्ठ २२०) में प्रकाशित एक शिलालेख के अंतिम पद्यमें उस शिलालेख के लेखक का नाम पार्श्व बतलाया गया है। उक्त शिलालेख ई० सन् १२०५ में लिखा गया था। इसमें कूंडि मण्डलान्तर्गत वेणु ग्राम के रट्टान्वय शासक कार्तवीर्य तथा मल्लिकार्जुन का उल्लेख है। इसके साथ ही कार्तवीर्य द्वारा मण्डलाचार्य शुभचन्द्र भट्टारक को दिये गये दान का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त शिलालेख कवि पार्श्व द्वारा स्तुत कार्तवीर्य के शासनकाल में ही लिखा गया होगा क्योंकि पार्श्व की रचनाओं में उनके लिए प्रयुक्त 'कविकुलतिलक' की उपाधि शिलालेख के अंतिम पद्य में भी मौजूद है।

पार्श्व को सुकविजनमनोहर्षसस्यप्रवर्ष, विविधजनमनःपद्मिनीपद्ममित्र तथा कविकुलतिलक की उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने पूर्व कवियों में पंप, पोन्न, रन्न, कर्णपार्य, गुणवर्म आदि कन्नड कवियों का तथा धनंजय एवं भूपाल नामक संस्कृत कवियों का सादर स्मरण किया है। धनंजय 'द्विसंधानकाव्य' के एवं भूपाल 'जिनचतुर्विंशतिका' के रचयिता मालूम होते हैं। महाकवि धनंजय अपने द्विसंधानकाव्य के कारण विख्यात हैं। इस काव्य का अपरनाम राघवपाण्डवीय है। इस काव्य में रामायण तथा महाभारत दोनों की कथा एक साथ वर्णित है।

कवि पार्श्व का पार्श्वनाथपुराण चम्पू काव्य है। इसमें १६ आश्वास हैं। इस पुराण में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण किया गया है। कवि ने अपने इस पुराण की प्रशंसा स्वयं की है। पार्श्व ने अपने ग्रन्थ के आरंभ में सभी प्रसिद्ध कन्नड एवं संस्कृत-प्राकृत जैन कवियों का स्मरण किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि का बंध ललित और मधुर है। पार्श्व संगीत तथा नृत्य के भी विशेषज्ञ थे। अपनी रचना में इन्होंने इन कलाओं का भी उपयोग किया है। पार्श्वनाथ पुराण के १२वें आश्वास के १९वें से ३१वें पद्य तक संगीत और नृत्य का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। पार्श्व कन्नड एवं संस्कृत दोनों भाषाओं के मर्मज्ञ कवि थे। इनकी रचना में संदर्भानुसार अलंकार, नीति तथा लोकोक्तियों का सुंदर ढंग से प्रयोग हुआ है। कथा भाग सरस, शैली प्रवाहमय और वर्णन सुन्दर है। कमठ का चरित्र-चित्रण भी चित्ताकर्षक है।

जन्न

यह यशोधरचरित तथा अनन्तनाथपुराण के रचयिता हैं। 'मोहानुभवमुकुर' (लगभग १४०० ई०) नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि इनका 'स्मरतंत्र' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी था। किंतु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। जन्न काश्यपगोत्रीय हैं। इनके पिता शंकर और माता गंगादेवी हैं। शंकर होय्सल राजा नरसिंह (ई० सन् ११४१--११७३) का कटकोपाध्याय (सेना-शिक्षक) था। इन्हें 'सुमनोबाण' नामक उपाधि प्राप्त थी। कवि जन्न का जन्म आषाढ़ कृष्ण त्रयोदशी के शुभ दिन रेवती नक्षत्र में शिवयोग में हुआ था (अनन्तनाथ पुराण, आ० ४, पद्य १३६-१३७ तथा आ० १४, पद्य ७५)। इनकी धर्मपत्नी दण्डाधिपति रेचण की पुत्री लकुमादेवी थीं। कानूर्गणीय माधवचन्द्र के शिष्य गण्डविमुक्त मुनि रामचन्द्रदेव इनके गुरु थे। जगदेकमल्ल (ई० सन् ११३८--११५०) के कटकोपाध्याय (सेना-शिक्षक) अभिनवशर्ववर्म नामक उपाधिधारी द्वितीय नागवर्म जन्न के उपाध्याय (शिक्षक) थे (अनंतनाथपुराण, आ० २, पद्य ३४)। 'सूक्तिसुधार्णव' के रचयिता मल्लिकार्जुन (लगभग ई० सन् १२४५) कवि के बहनोई थे। 'शब्दमणिदर्पण' के रचयिता केशिराज (लगभग ई० सन् १२६०) जन्न के भागिनेय थे। इस प्रकार कवि जन्न बड़े भाग्यशाली थे, उनके सम्बन्ध उच्च घरानों से थे।

जन्न तर्क, व्याकरण, साहित्य, नाट्य आदि शास्त्रों के ही पारगामी नहीं थे (यशोधरचरित, आ० १, पद्य १८-१९) बल्कि वे दृढ़काय तथा साहसी थे तथा शस्त्रविद्या में भी पारंगत थे। इस तरह शस्त्र-शास्त्र दोनों में प्रवीण होने के कारण वे तत्कालीन शासक वीरनरसिंह के यहाँ मंत्री तथा दण्डाधीश जैसे गरिमामय उभय पदों पर आसीन थे (अनंतनाथपुराण, आश्वास १, पद्य २४)। वस्तुतः कवि के शस्त्र-शास्त्र सम्बन्धी अद्भुत पाण्डित्य ने ही गुणग्राही राजा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीरनरसिंह को उनकी ओर आकृष्ट किया था। इसमें संदेह नहीं है कि कवि का प्रभाव पहले जनता में और बाद में राजसभा में पहुँचा होगा।

यद्यपि जन्न सभी कलाओं में प्रवीण थे परन्तु उन्हें काव्यकला में विशेष रुचि थी। बाल्यावस्था से ही सरस्वती उनपर मुग्ध हो गयी थीं। इसका स्पष्ट प्रमाण कवि द्वारा रचित चेन्नरायपट्टण (शक संवत् १११२–ई० सन् ११९१–नं० १७९) तथा तरीकेरे (शक संवत् १११९ ई०–सन् ११९७, नं० ४५) के शिलालेख हैं। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही अंकुरित कवि की कवित्वशक्ति उनके अविरत प्रयासों से यथाशीघ्र लता बन गई, जिसमें यशोधरचरित तथा अनंतनाथपुराण जैसे दो मनोहर सुगंधित पुष्प विकसित हुए और जिनकी गंध से रसिक एवं भावुक साहित्यिक आकर्षित हुए। केवल भावुक साहित्यिक ही नहीं, स्वयं राजा वीरबल्लाल भी उपर्युक्त काव्यों की रसानुभूति से अपने को वंचित नहीं रख सका। सहृदय गुणग्राही राजा वीरबल्लाल ने जन्न की कविता से मुग्ध होकर उन्हें कविचक्रवर्ती की उपाधि प्रदान की (अनंतपुराण, आश्वास १, पद्य २५)।

कवि ने यशोधरचरित की रचना वीरबल्लाल (ई० सन् ११७३–१२२०) के शासनकाल में शुक्ल संवत्सर अर्थात् ई० सन् १२०९ में तथा अनंतनाथपुराण की रचना वीरबल्लाल के पुत्र वीरनरसिंह (ई० सन् १२२०–१२३५) के राज्यकाल में विकृत संवत्सर अर्थात् ई० सन् १२३० में की थी (अनंतनाथपुराण, आश्वास १४, पद्य ८४)। जन्न साहित्यरत्नाकर, कविबाललोचन, कविचक्रवर्ती, विनेयजनमुखतिलक, राजविद्वत्सभाकलहंस, कविवृन्दारकवासव, कविकल्पलतामन्दार आदि उच्च उपाधियों से विभूषित हैं।

कवि जन्न को लौकिक विद्या में जितनी रुचि थी, उतनी ही अध्यात्मविद्या में भी थी। इसकी पूर्ति हेतु वह उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् माधवचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य गण्डविमुक्त, मुनि रामचन्द्र के चरणों में पहुँचे। वहाँ पर जैनधर्म के तत्त्वों का अच्छी तरह अध्ययन कर उन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य का सदुपयोग जैनधर्म के पुनरुद्धार के लिए किया। वस्तुतः जन्न की धन-सम्पदा, बुद्धि-कौशल एवं कवित्व-शक्ति जैन-धर्म के प्रचारार्थ ही समर्पित थी।

लोक में सामान्यतया लक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर असहिष्णुता देखी जाती है, इसलिए विद्वान् प्रायः निर्धन होते हैं। परन्तु कवि जन्न वैभव संपन्न थे। इन्होंने 'सौभाग्यसंपन्न' आदि शब्दों का प्रयोग करके अपनी रचनाओं में स्वयं इस बात को व्यक्त किया है। जन्न बड़े उदार थे तथा सदा गरीबों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मदद करते रहते थे। कवि का कथन है कि "मैंने अपने हाथों को कभी दूसरों के सामने नहीं पसारा है बल्कि बराबर दूसरों को दिया है" (अनंतनाथपुराण, आश्वास १४, पद्य ८०)। जन्न ने गण्डरादित्य के राज्य में अनंतनाथतीर्थंकर का भव्य मंदिर और द्वारसमुद्र में विजयपार्श्व जिनेश्वर के जिनालय का द्वार बनवाया था।

इसमें सन्देह नहीं है कि कवि जन्न का सारा जीवन साहित्य तथा धर्म-सेवा में व्यतीत हुआ है। इनके यशोधरचरित और अनंतनाथपुराण दोनों ही जैनधर्म के प्रचारार्थ रचे गये हैं। इस बात को कवि ने स्वयं अपनी रचना में स्पष्ट कहा है। जैन कवियों का यह आदर्श रहा है कि वे अपनी बहुमूल्य काव्य प्रतिभा को महापुरुषों के पवित्र जीवनचरित्रों की रचना के द्वारा सार्थक बनाते रहे हैं।

कवि जन्न ने अपने पूर्ववर्ती कवियों में गुणवर्म, पम्प, पोन्न, रन्न, नागचन्द्र आदि प्रसिद्ध सभी जैन कवियों का स्मरण किया है। दूसरी ओर परवर्ती अण्डय्य, कमलभव, मल्लिकार्जुन, कुमुदेंदु, मंगरस आदि मान्य कवियों ने जन्न की स्तुति की है। जन्न के यशोधरचरित में गद्य नहीं है, केवलवृत्त हैं। शेष सभी कन्द पद्य हैं। यह सुन्दर काव्य चार अवतारों में विभक्त है। इसमें कुल ३११ कन्द पद्य हैं। प्रस्तुत काव्य में कवि ने पंच अणुव्रतों में अन्यतम एवं प्रमुख अहिंसाणुव्रत की महिमा को बड़े ही आकर्षक ढंग से समझाया है। राजा मारिदत्त के द्वारा अपनी कुलदेवी को बलि देने हेतु लाये गये मनुष्य युगल के द्वारा कही गयी जन्मान्तर कथाओं को सुनकर राजा स्वयं हिंसा को सर्वथा त्यागकर संसार से विरक्त हो जाता है। यही इस काव्य का कथासार है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में एतद्विषयक कई ग्रंथ हैं; जैसे, यशस्तिलकचम्पू, यशोधरकाव्य, जसहरचरिउ आदि। इनमें यशस्तिलकचम्पू एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। इसके रचयिता राजनीति शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य सोमदेवसूरि हैं।

कवि ने काव्यारंभ में कुन्दकुन्द, समंतभद्र, पूज्यपाद आदि आचार्यों के स्मरण के साथ-साथ सल, विनयादित्य, यरेयंग आदि होय्सल वंश की परम्परा का विस्तार से वर्णन किया है और अपने आश्रयदाता वीरबल्लाल की विशेष रूप से प्रशंसा की है। आर० नरसिंहाचार्य के शब्दों में इसका बंध ललित, मधुर, गंभीर और हृदयंगम है। कवि मधुर के द्वारा जन्न को कर्णाटककविता का सीमापुरुष कहा जाना सर्वथा समुचित है। निरर्गल रूप से प्रवाहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होनेवाली इसकी कविता के प्रवाह को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। प्रो० डी० एल० नरसिंहाचार्य ने अपने एक लेख में वादिराज के संस्कृत यशोधर काव्य से जन्न के इस यशोधरचरित की तुलना की है और अनेक दृष्टियों से यशोधरकाव्य की अपेक्षा यशोधरचरित को उत्तम सिद्ध किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवि जन्न वस्तुतः कन्नड साहित्य के महान् कवियों में से एक हैं।

कवि का दूसरा ग्रंथ अनन्तनाथपुराण है। यह एक चम्पू काव्य है। इसमें १४वें तीर्थंकर अनन्तनाथ की पवित्र जीवनी चित्रित है। साथ-साथ इसमें इसी वंश के बलदेव सुप्रभ, वासुदेव पुरुषोत्तम और प्रतिवासुदेव मधुकैटभ का चरित्र भी वर्णित है। अनन्तनाथपुराण १४ आश्वासों में विभक्त है। इसमें कवि ने अलंकारों को विशेष स्थान नहीं दिया है। यह पुराण दोरसमुद्र (हलेबीडु) के शान्तीश्वर जिनालय में पूर्ण हुआ था। इसमें यशोधरचरित के भी अनेक पद्य उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ यशोधर चरित के बाद का है।

आचार्य गुणभद्ररचित उत्तरपुराण, चाउण्डराय रचित चाउण्डरायपुराण आदि प्राचीन कृतियों को आदर्श मानकर कवि ने नवीन सन्निवेशों की कल्पना की है। पंप आदि पूर्व कवियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए महाकवि जन्न ने इस सुरुचिपूर्ण एवं काव्यलक्षण से युक्त पुराण की रचना करके अपने कवित्व की प्रौढ़ता को व्यक्त किया है। वस्तुतः इसके पठन से जहाँ रसिकों का मनोरंजन होता है, वहीं भावुक भव्य जीवों की जिनेन्द्र भगवान् में अनन्य एवं अविचल भक्ति उत्पन्न होती है। इस ग्रन्थ में महाकवि जन्न ने दैनंदिन अनुभव की घटनाओं को चित्ताकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। इस काव्य ने सभी को आकृष्ट कर दिया था। इस पुराण में जैन सिद्धान्तों के मार्मिक उपदेश एवं तपस्या के विशद् वर्णन के साथ ही इसमें तीर्थंकर अनंतनाथ के पंचकल्याणकों का वर्णन है। इसमें उनकी बाललीला, यौवन-प्राप्ति पर माता-पिता के द्वारा कन्यान्वेषण एवं विवाह का आयोजन, सांसारिक सुख-भोग और उनके उद्दीपक वसन्त ऋतु, चन्द्रोदय आदि का सजीव प्रस्तुतीकरण है। बाद में संसार से विरक्ति, तपस्या, केवलज्ञान, निर्वाण प्राप्ति आदि का सुंदर चित्रण है।

शृंगार, वीर, करुण, और हास्यादि विविध रसों की सृष्टि करके जन्न ने प्रस्तुत पुराण को बहुत ही आकर्षक बनाया है। एक बार इसके आद्योपान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पठन से रसिक पाठकों का हृदय अवश्य प्रफुल्लित हो उठेगा। खासकर साध्वी सुनंदा तथा चंडशासन के उपाख्यान महाकवि जन्न की अनुपम कवित्व शक्ति के परिचायक हैं। दुष्ट और क्रूर चंडशासन के द्वारा पतिव्रता शिरोमणि सुनंदा का कारागार में रखा जाना, वहाँ पर उसे बुरी तरह सताया जाना, उसके पूज्यपति वसुषेण के मस्तक को सामने लाकर रखना, उसे देखकर सुनंदा का देहत्याग करना आदि दृश्य वस्तुतः हृदय-विदारक हैं। इन वर्णनों में करुण-रस की निर्मल गंगा निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है।

जन्न ने ग्रंथारंभ में सभी प्रसिद्ध आचार्यों एवं कवियों का स्मरण किया है और ग्रंथान्त में अपने आश्रयदाता राजा वीरनरसिंह को हृदय से आशीर्वाद दिया है। जन्न के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से विद्वान् पाठकों को उस मेधावी महाकवि के अगाध पाण्डित्य, गहन लोकानुभव, व्यापक शास्त्राध्ययन, अनुपम वर्णनवैदुष्य का पता चल जाता है। वस्तुतः जन्न एक महाकवि हैं और उनकी काव्यप्रतिभा स्पृहणीय है। विद्वानों की दृष्टि से जन्न हितमित-भाषी और उचित पदप्रयोग में सिद्धहस्त थे। अनावश्यक कठिन शब्दों का प्रयोग कवि ने कहीं भी नहीं किया है। समुचित सुंदर शब्द जन्न के काव्य में प्रयुक्त हैं। लालित्य, माधुर्यादि गुणों से परिपूर्ण जन्न का कथा-कौशल्य सर्वांग सुन्दर है।

गुणवर्म (द्वितीय)

यह पुष्पदंतपुराण तथा चन्द्रनाथाष्टक के रचयिता हैं। इनका आश्रय-दाता राजा कार्तवीर्य का सामंत शांतिवर्म है। कार्तवीर्य के गुरु मुनिचन्द्र ही इनके भी गुरु हैं। गुणवर्म ने पूर्व कवियों की स्तुति में महाकवि जन्न (ई० सन् १२३०) की स्तुति की है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि कवि गुणवर्म जन्न के बाद हुए। मल्लिकार्जुन (ई० सन् १२४५) ने इनके पुष्पदंत पुराण के कतिपय पद्यों का अनुकरण किया है। इसलिए यह भी सिद्ध है कि गुणवर्म मल्लिकार्जुन के पूर्व के हैं। इन आधारों पर आर० नरसिंहाचार्य की राय है कि कवि गुणवर्म लगभग १२२५ ई० में जीवित रहे होंगे।

नरसिंहाचार्य जी के मतानुसार ई० सन् १२२९ में उत्कीर्ण सौदत्ति के शिलालेख में उल्लिखित कार्तवीर्य मुनिचन्द्र और शांतिनाथवर्म ही, निस्सन्देह गुणवर्म के द्वारा स्मृत कार्तवीर्य, मुनिचन्द्र तथा शांतिवर्म हैं। शिलालेख में शांतिनाथ को मुनिचन्द्र का आत्मज बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त शिलालेख में इन्हें 'इष्टशिष्ट चिन्तामणि' भी कहा गया है। पुष्पदंतपुराण में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि गुणवर्म ने भी 'इष्टशिष्टकल्पकुंज' के रूप में शांतिवर्म की स्तुति की है। कार्तवीर्य ई० सन् १२०२ से १२२० तक शासन करता रहा था। इसकी सभा में ही शांतिवर्म ने कवि गुणवर्म को पुष्पदंतपुराण की रचना के लिए प्रेरणा दी थी। यह बात पुष्पदंतपुराण से भी सिद्ध होती है।

कार्तवीर्य कुंतलदेशस्थ कूंडि में राज्य करता रहा। अतः कवि का जन्म-स्थल भी कूंडि ही रहा होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि गुणवर्म के पूज्य गुरु मुनिचन्द्रदेव थे। कवि ने स्वयं अपनी रचना में भी स्वीकार किया है कि मैं इनकी कृपा से ही कविता बनाने में समर्थ हुआ हूँ। गुणवर्म को कवि तिलक, सरस्वतीकर्णपूर, सहजकविसरोवरहंस, प्रभुगुणाब्जिनीकलहंस, गुणरत्नभूषण, भव्यरत्नाकर, मानमेरु तथा काव्यसत्कलार्णवमृगलांछन आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं।

कवि गुणवर्म ने पूर्व कवियों में गुणवर्म (प्रथम), पंप, पोन्न, रन्न, अग्गल, नागवर्म, नेमिचन्द्र, जन्न तथा नागचन्द्र का सादर स्मरण किया है। विविधकलाभिज्ञ, कविताचतुर, सुविवेकनिधान, नृपस्तुतिमहित आदि विशेषणों के द्वारा इन्होंने स्वयं अपने गुणों का बखान किया है। आत्मप्रशंसा की इन बातों को एक ओर रखने पर भी इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि गुणवर्म एक प्रौढ़ कवि थे और इनकी रचनायें पठनीय हैं।

पुष्पदंतपुराण चम्पूकाव्य है। इसमें १४ आश्वास हैं। इसकी कुल पद्य संख्या १३६५ है। इसमें ९वें तीर्थंकर पुष्पदंत की जीवनी वर्णित है। ग्रंथ का बंध ललित एवं सुंदर है। इसमें जहां-तहां कर्णाटक में प्रचलित लोकोक्तियाँ भी सम्मिलित कर दी गयी हैं। इनकी रचनाओं में काव्य के रसास्वादन के बाधक और पंप आदि महाकवियों से परित्यक्त वृत्यनुप्रास, यमकादि शब्दालंकार भी पाये जाते हैं, जिन्हें अलंकारशास्त्रियों ने दूषित माना है। कवि ने इस बात का पूर्णरूप से ध्यान रखा है कि ध्वनि काव्य का प्राण होती है। शास्त्रीय तथा संस्कृत साहित्य में प्रचुर परिमाण में पाये जानेवाले 'काकतालीय' आदि अनेक न्याय भी पुष्पदंतपुराण में पाये जाते हैं।

इस पुराण का कथा भाग अन्य पुराणों के कथा भाग की तरह अनेक जन्मान्तर की कथाओं के कारण पाठक में अरुचि उत्पन्न नहीं करता है। इसका कथा भाग बहुत ही संक्षिप्त है। ऐसी संक्षिप्त कथा को बढ़ाकर १४ आश्वासों में परिवर्तित कर देना भी एक असाधारण कार्य है, इससे कवि की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवित्वशक्ति का पता लगता है। इस विस्तार में कोई भी भाग अप्रकृत अथवा असंबद्ध नहीं मालूम होता है।

जैन पुराणों का प्रधान रस शांतरस है। शृंगारादि अन्य रस इस प्रधान रस के सहायक मात्र हैं। कवि का कहना है कि जिस तरह तिक्त औषधियों में प्रवृत्ति कराने के लिए अबोध बालकों को शर्करा आदि मधुर वस्तु दी जाती है, उसी तरह मोक्ष के प्रति अरुचि रखनेवाले व्यक्तियों को उस ओर आकर्षित करने के लिए ही शृंगारादि रसों का प्रयोग जैन पुराणों में किया जाता है। ऐसी दशा में शांतरसप्रधान काव्यों में शृंगारादि रसों को अधिक महत्त्व न देकर उसके प्रधान रस की यथावत् रक्षा करनेवाले कवि का प्रतिभा-चातुर्य वस्तुतः प्रशंसनीय है।

जैन कवियों में पुराण के अंगों के प्रश्न पर मतभेद हैं, कुछ लोग पुराण के आठ अंग मानते हैं तो कुछ पांच अंग मानते हैं। पुष्पदंतपुराण में आठों अङ्ग लिये गये हैं। विद्वानों का कहना है कि गुणवर्म का बंध प्रौढ़ एवं अनुप्रासयुक्त है। ग्रंथारंभ में कवि ने तीर्थङ्कर पुष्पदन्त, सिद्ध, सरस्वती, यक्ष-यक्षी, केवली, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी, एकादशांगधारी, आचारांगधारी और कुंदकुंद आदि सभी प्रसिद्ध आचार्यों की सादर स्तुति की है।

गुणवर्म के चन्द्रनाथाष्टक में सिर्फ ८ पद्य हैं। ये पद्य महास्रग्धरा वृत्त में रचे गये हैं। प्रत्येक पद्य 'चन्द्रनाथ' शब्द से प्रारम्भ होता है। यह अष्टक कोल्हापुर के त्रिभुवनतिलक जिनालय के चन्द्रनाथप्रभु की स्तुतिरूप में रचित है। इसमें गम्भीर शैली में तीर्थङ्कर चन्द्रनाथ का गुणगान किया गया है। गुणवर्म की ये दोनों कृतियाँ मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुकी हैं।

कमलभव

इन्होंने शान्तीश्वरपुराण लिखा है। इनके गुरु देशीयगण, पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय के यति माघनन्दी हैं। कमलभव ने पूर्वकवियों में जन्न का स्मरण किया है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि ये जन्न के बाद हुए हैं। मल्लिकार्जुन ने अपने 'सूक्तिसुधार्णव' में कमलभव के ग्रन्थ से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। अतः कवि कमलभव का मल्लिकार्जुन के भी पहले होना सुनिश्चित है। इस आधार पर इनका समय लगभग १२३५ ई० निर्धारित किया गया है।

'कुसुमावलि' के रचयिता देव कवि कमलभव की ग्रंथ-रचना के प्रेरक रहे होंगे। यही कारण है कि कुसुमावलि के कतिपय पद्य कमलभव के ग्रंथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में उपलब्ध होते हैं। विदित होता है कि कमलभव को कविकंजगर्भ और सूक्तिसंदर्भगर्भ की उपाधियाँ प्राप्त थीं। कमलभव ने पूर्वकवियों में पंप, पोन्न, नागचन्द्र, रन्न, बन्धुवर्म तथा नेमिचन्द्र आदि का स्मरण किया है। इन्होंने अपनी रचना में अपने गुण एवं कविता-चातुर्य की प्रशंसा भी स्वयं की है।

कमलभव का शान्तीश्वरपुराण १६ आश्वासों में विभक्त है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने शान्तीश्वर एवं सिद्धों की स्तुति के अनन्तर प्रायः सभी प्रसिद्ध आचार्यों एवं कन्नड कवियों की स्तुति की है। आर० नरसिंहाचार्य के मत में यह एक लालित्यपूर्ण काव्य रचना है। इसमें कवि की काव्य धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है। इसमें सन्देह नहीं है कि कमलभव एक प्रतिभाशाली कवि हैं। इनका शान्तीश्वरपुराण मैसूर सरकार की ओर से प्रकाशित हो चुका है। संभव है कि कमलभव के द्वारा अन्य कोई ग्रन्थ भी रचा गया हो। परन्तु अभी तक केवल शान्तीश्वरपुराण ही उपलब्ध हो सका है।

महाबल

इन्होंने नेमिनाथपुराण की रचना की है। ये भारद्वाज गोत्र के हैं। इनके पिता रायिदेव, माता राजियक्क, गुरु मेघचन्द्र थे। प्रत्येक आश्वास के अन्त में गद्य में कवि ने 'माधवचन्द्रत्रैविद्यचक्रवर्तिश्रीपादप्रसादासादित-सकलकलाकलाप' यों त्रैविद्यचक्रवर्ती माधवचन्द्र को सादर स्मरण किया है। सम्भवतः माधवचन्द्र महाबल के विद्यागुरु थे। नेमिनाथपुराण का रचना काल शक संवत् ११७६ (ई० सन् १२५४) है, इसका उल्लेख कवि ने स्वयं किया है। केतयनायक अथवा क्षेमंकर ने महाबल के द्वारा नेमिनाथ-पुराण की रचना कराई थी।

केतयनायक स्वयं कवि थे। यह बात उपर्युक्त पुराण से ही विदित होती है। केतय की पत्नी श्रीपति की पुत्री मरुदेवी थी। मरुदेवी की एक पुत्री थी, जिसका विवाह कलिदेव के साथ हुआ था। केतयनायक ने कोटिबागे जिनालय में व्रत लिया था। कवि महाबल श्रीपति के पुत्र लक्ष्म का गुरु था। महाबल ने अपने को 'सचिव' लिखा है; सम्भवतः ये केतयनायक के 'सचिव' रहे होंगे। कवि ने लिखा है कि उसने अपने ग्रन्थ नेमिनाथपुराण को श्रुताचार्य आदि की उपस्थिति में सभा में सुनाकर अपने शिष्य (पूर्वोक्त) लक्ष्म से लिखवाया है।

महाबल को 'सहजकविमनोगेहमाणिक्यदीप' और 'विश्वविद्याविरिंचि' नामक उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरणनहीं किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। महाबल ने अपने कविता-चातुर्य की स्वयं प्रशंसा की है। इनका नेमिनाथ-पुराण एक चम्पूग्रंथ है। यह १६ आश्वासों में पूर्ण हुआ है। इसमें हरिवंश तथा कुरुवंश दोनों की कथा वर्णित है। ग्रन्थारम्भ में सभी कवियों की तरह सिद्ध, सरस्वती आदि की स्तुति के उपरान्त आचार्य एवं कवियों की स्तुति की गई है। नेमिनाथपुराण का बन्ध प्रौढ़ है। यह पुराण अभी अप्रकाशित है।

आंडय्य

आंडय्य के काव्य का नाम कब्बिगरकाव अर्थात् मदनविजय है। कन्नड़ भाषाभाषियों के निवेदन पर इन्होंने इस काव्य की रचना की थी। वस्तुतः यह रचना कन्नड भाषाभाषियों के लिए कवि की एक अपूर्व देन है। मदन विजय काव्य में वैदिक पुराणोक्त शिव और काम का युद्ध वर्णित है। किसी भी जैन मूल ग्रन्थ में अनुपलब्ध एक नवीन कथा को कवि ने स्वप्रतिभा-चातुर्य के द्वारा सुन्दर ढंग से निरूपित किया है। अपनी पूर्व स्थिति के सम्बन्ध में अनजान बना हुआ काम रति के द्वारा कामविजय सम्बन्धी अपनी ही कथा को सुनकर शाप से मुक्त हो जाता है। वस्तुतः यह कवि की एक नवीन उद्भावना है। आंडय्य कन्नड साहित्य को एक नवीन कथावस्तु प्रदान करने के लिए ही नहीं, अपितु अपनी कथन-शैली और भाषा-वैशिष्ट के लिए भी चिरस्मरणीय हैं। पूर्व के कवियों की कृतियों में संस्कृत समासपदों की बिलष्टता को देखकर कवि का मन दुःखी हुआ होगा और इसीलिए उसने देश्य एवं तद्भव शब्दों को अपनाने का प्रयास किया होगा। आंडय्य की भाषा-शैली ललित एवं मधुर तथा वर्णन चित्ताकर्षक हैं। इसके काव्य में प्रयुक्त 'मुक्तपदग्रास' नामक शब्दालंकार स्वाभाविक तथा ललित है।

कवि ने अपने काव्य में जैन धर्म की श्रेष्ठता को बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। एतदर्थ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक ही बाण से शिव को अर्धनारीश्वर बनानेवाला महाशूर मन्मथ (कामदेव) एक श्रमण (मुनि) को देखकर थर-थर काँपने लगा और उस श्रमण की महान् तपस्या से प्रभावित होकर वह भक्ति से विनम्र बन गया। जब एक श्रमण में ही इतनी सामर्थ्य हो तो फिर तीर्थङ्कर की महिमा का क्या कहना ? जिन और शिव में क्या समानता ? जैन धर्म की महिमा को दिखाने के लिए कवि आंडय्य का यह कथा-चातुर्य प्रशंसनीय है। वस्तुतः आंडय्य के इस काव्य में लालित्य एवं माधुर्य दोनों ही उपस्थित हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मल्लिकार्जुन एवं केशिराज

१३वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए इन दोनों पिता-पुत्र का कन्नड साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। ये दोनों ही कवि थे। परन्तु खेद की बात है कि अभी तक इनका कोई भी स्वरचित काव्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। मल्लिकार्जुन मल्ल और मल्लप्प नाम से भी प्रसिद्ध हैं। मल्लिकार्जुन ने अपने से पूर्व के कन्नड साहित्य से 'सूक्तिसुधार्णव' नामक एक पद्य संकलन अवश्य तैयार किया है। इसमें १९ आश्वास हैं। इस संकलन ग्रंथ के पूर्वपीठिका नामक प्रथम आश्वास में इनके स्वरचित अनेक पद्य उपलब्ध होते हैं, मात्र इतना ही नहीं, इस आश्वास में इनके द्वारा रचित बहुत से ऐसे पद्य भी मिलते हैं जो अभिलेखों में उत्कीर्ण हैं।

केशिराज

इन्होंने अपने ग्रन्थ शब्दमणिदर्पण में चोलपालचरित, सुभद्राहरण, प्रबोध चन्द्र और किरात नामक अपनी स्वरचित कृतियों का उल्लेख किया है। परंतु अभी तक इनमें से एक भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका है। विद्वानों की राय से प्रबोधचन्द्र नाटक ग्रन्थ होगा। यदि यह एक नाटक ग्रन्थ हो तो कन्नड साहित्य में इसका बड़ा महत्त्व होगा, क्योंकि प्राचीन कन्नड साहित्य में नाटक ग्रंथों का सर्वथा अभाव है। इसमें सन्देह नहीं है कि केशिराज एक श्रेष्ठ कवि हैं।

मल्लिकार्जुन के सूक्तिसुधार्णव की पूर्वपीठिका नामक प्रथम आश्वास को छोड़कर शेष १८ आश्वासों में १८ प्रकार के वर्णन मिलते हैं। इस वर्णनों के पद्य बहुत ही सरस हैं। इस संकलन में कंद और वृत्त ही लिये गये हैं। सूक्तिसुधार्णव कन्नड साहित्य के इतिहास की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान् है। अभी तक अनुपलब्ध एवं अप्राप्य अनेक काव्यरचनाओं के कतिपय अंश इस संकलन में मिलते हैं। कवियों के कालनिर्णय के लिए भी यह ग्रंथ आधारभूत है। इस संकलन में उद्धृत पद्यकाव्यों के रचयिता ई० सन् १२५० के पूर्व के सिद्ध होते हैं। जबकि इसमें अनुद्धृत सभी कवि परवर्ती सिद्ध होते हैं।

सूक्तिसुधार्णव के संग्रहकार्य में पिता के साथ केशिराज का भी योगदान रहा होगा। पूर्ववर्ती सभी काव्य ग्रंथों के अवलोकन से केशिराज को अपने व्याकरण ग्रन्थ शब्दमणिदर्पण की रचना में पर्याप्त सहायता मिली होगी। केशिराज ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर व्याकरण सम्बन्धी नियमों का संग्रह किया होगा। शब्दमणिदर्पण एक सुन्दर व्याकरण ग्रंथ है। इसके सूत्र कंद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्यों में हैं तथा वृत्ति गद्य में है और उदाहरण पूर्वकवियों के काव्यों से लिये गये हैं। व्याकरण के नियमों को समझाने के लिए कंद पद्य ही सरल होता है। इसके सभी उदाहरण बहुत सरस होने के कारण यह व्याकरण ग्रन्थ भी काव्य की अनुभूति देता है। कवि की प्रामाणिकता प्रशंसनीय है, उसके सभी कथ्य सप्रमाण हैं।

पुरानी भाषा में व्यवहृत अशुद्ध प्रयोगों को दूर कर, भाषा को परिशुद्ध बनाना ही केशिराज का प्रधान लक्ष्य रहा। कन्नड धातुपाठ के निर्माण का श्रेय केशिराज को ही है। इनके पिता मल्लिकार्जुन स्वयं विद्वान् और कवि थे। इनकी माता सुमनोबाण की सुपुत्री थीं तथा मातुल प्रसिद्ध महाकवि जन्न थे। सुमनोबाण भी स्वयं कवि थीं। अतः बाल्यकाल से ही उसे साहित्यिक परिवेश उपलब्ध रहा।

कवि मल्ल ने अपने 'मन्मथविजय' में इसको लोक का एकमात्र शब्दज्ञ कहा है। उसका यह कथन कम से कम कन्नड भाषा की दृष्टि से तो सर्वथा सत्य है। निर्दोष पांडित्य को प्राप्त करने के लिए 'शब्दमणिदर्पण' का अभ्यास आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

नागराज

इनका समय लगभग ई० सन् १३३१ है। कवि के पिता विवेक विठ्ठलदेव और माता भागीरथी थीं। नागराज का सहोदर तिप्परस एवं गुरु अनन्तवीर्य केवली थे। भारतीभालनेत्र और सरस्वतीमुखतिलक इनकी उपाधियाँ थीं। इनकी रचना 'पुण्याश्रवकथा' है। कवि का कहना है कि पूज्य गुरु की आज्ञा से सगर के निवासियों के लिए मैंने इस पुण्याश्रवकथा की रचना की है। इस रचना में देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, दान और तप इन सबका वर्णन करके इनके आचरण के द्वारा स्वर्गापवर्ग को प्राप्त करनेवाले पुराणपुरुषों की कथाएँ वर्णित हैं।

यद्यपि नागराज ने नयसेन की तरह परधर्म का सीधा उपहास नहीं किया है, फिर भी उन्होंने जैन धर्म की श्रेष्ठता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वड्डाराधना की कतिपय कथाएँ इनके पुण्याश्रव में भी मिलती हैं। नागराज कथानिरूपण में कुशल हैं। काव्य देशीय शैली में लिखे गये हैं जो सरल एवं ललित हैं। इसके साथ ही साथ वर्णन में स्वाभाविकता भी है। 'पुण्याश्रवकथा' सामान्य जनता के लिए उपयोगी कथाग्रंथ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाहुबलि और मधुर

१४वीं शताब्दी के पुराणरचयिताओं में बाहुबलि और मधुर को भी सम्मिलित किया जा सकता है। बाहुबलि का समय लगभग ई० सन् १३५२ और मधुर का समय ई० सन् १३८५ है। दोनों के काव्य की विषयवस्तु एक ही है और वह है १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र। 'उभयभाषाकवि-चक्रवर्ती' उपाधिधारी बाहुबलि का ग्रंथ धर्मनाथपुराण एक प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें १६ आश्वास हैं। मधुर के ग्रंथ में संप्रति केवल चार ही आश्वास उपलब्ध हैं। मधुर ने अपनी बड़ी प्रशंसा की है। सम्भवतः यह विजयनगर के राजा हरिहर के आस्थान में कवि थे। इनके वर्णन में स्वाभाविकता है।

अभिनव विद्यानन्द और भट्टारक अकलंक ने अपनी-अपनी कृतियों में मधुर के पद्यों को लिया है। मधुर की एक गोम्मटस्तुति भी है। जैन चम्पू कवियों में मधुर अन्तिम कवि हैं। बाहुबलि और मधुर दोनों जैन परम्परा के कवि हैं। इनके काव्यों में भी जैन पुराणों की सामान्य विशेषताएं उपलब्ध होती हैं।

मंगराज अथवा मंगरस

चौदहवीं शताब्दी के चम्पू रचयिताओं में 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक वैद्यक ग्रंथ के रचयिता मंगराज (ई० सन् १३६०) एक विशिष्ट कवि हैं। इन्होंने अपने को होय्सल देशान्तर्गत मुगुलिपुर का अधिप एवं पूज्यपाद का शिष्य बतलाया है। इनकी पत्नी का नाम कामलता था और इनके तीन संतान थीं। ये सब बातें इनकी कृतियों से ज्ञात होती हैं। कवि ने विजयनगर के राजा हरिहर की प्रशंसा की है। अतः मंगराज उसका समकालीन था। इसे 'सुललितकविपिकवसंत', 'विभुवंशललाम' आदि कई उपाधियाँ प्राप्त थीं। मंगराज का कहना है कि जनता के निवेदन पर मैंने सर्वजनोपकारी इस वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है।

इसमें केवल औषधियां ही नहीं हैं, अपितु मंत्र-यंत्र भी हैं। कवि का मत है कि 'औषधियों से आरोग्य, आरोग्य से देह, देह से ज्ञान, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिए मैं औषधशास्त्र को बतला रहा हूँ।' मंगराज ने स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विष को औषध बतलाया है। खगेन्द्रमणिदर्पण एक शास्त्रीय ग्रंथ है फिर भी इसमें काव्य के गुण उपस्थित हैं। इसकी रचना ललित और शैली भी सुन्दर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भास्कर

कवि भास्कर १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। इन्होंने भामिनी षट्पदि में 'जीवन्धरचरिते' लिखा है। इस काव्य ग्रन्थ के आधार पर वे बसवांक नामक जैन ब्राह्मण के पुत्र मालूम होते हैं। भास्कर ने उक्त काव्य को येनगोंडे के शान्तीश्वर जिनालय में शालिवाहन शक संवत् १३४५ (ई० सन् १४२३) में रचा था। काव्य का कथाभाग मनोहर है। सन्निवेश रचना में कवि ने अपने कौशल को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। भास्कर की शैली सरल, ललित एवं नादमय है। कवि का कल्पनाचातुर्य हृदयग्राही है। महाकवि वादीभसिंहसूरि के क्षत्रचूड़ामणि काव्य का ही यह कन्नड रूपान्तर है। यह काव्य प्रकाशित हो गया है।

कल्याणकीर्ति

यह १५वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए मालूम होते हैं क्योंकि इन्होंने अपने 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' को ई० सन् १४३९ में रचा था। कवि कल्याणकीर्ति ने ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति और तत्त्वभेदाष्टक इन ग्रंथों की रचना की है। 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' नामक इस कथा ग्रन्थ में यह बताया गया है कि ज्ञानचन्द्र राजा ने तपस्या द्वारा किस प्रकार अपना आध्यात्मिक विकास किया। लगभग ९०० पद्यों का यह काव्य वार्धिक भामिनि और परिवार्धिनि षट्पदि नामक छन्दों में है।

दूसरी रचना जैनधर्म से सम्बन्धित कामनकथे है। यह सांगत्य छन्द में है। कवि ने इसे तुलु देश के शासक भैरवसुत पाण्डयराय की प्रेरणा से रचा था। इसमें लगभग ३३० पद्य हैं। इसकी शैली सरस है। कल्याणकीर्ति के शेष तीन ग्रन्थ भी जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। कवि का एक अन्य काव्य सिद्धराशि है, पर वह अभी तक उपलब्ध नहीं है। ज्ञानचन्द्राभ्युदय को छोड़ कर इनके शेष ग्रंथ अप्रकाशित हैं।

रत्नाकर वर्णी

रत्नाकर वर्णी के रत्नाकरसिद्ध, रत्नाकरअण्ण आदि कई नाम थे, किंतु कवि को रत्नाकरसिद्ध नाम ही विशेष प्रिय था। रत्नाकर ने अपने को कर्नाटकवासी, क्षत्रियवंशी एवं श्री मन्दरस्वामी का पुत्र बतलाया है तथा चारुकीर्ति को दीक्षागुरु और हंसनाथ को मोक्षगुरु कहा है। रत्नाकर ने १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हजार पद्य परिमित अपने 'भरतेशवैभव' नामक महाकाव्य को केवल ९ माह में पूर्ण किया था। यद्यपि यह बात थोड़ी अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होती है। परन्तु महाकवि रत्नाकर के लिए यह असंभव नहीं है।

देवचंद्र के कथनानुसार रत्नाकर ने भरतेशवैभव के अतिरिक्त अपराजितेश्वरशतक, त्रिलोकशतक एवं रत्नाकराधीश्वरशतक नामक शतकत्रय की तथा दो हजार अध्यात्मगीतों की रचना की है। कवि ने त्रिलोकशतक में अपना जन्मस्थल मूडबिद्री बताया है। इस शतक का रचनाकाल ई० सन् १४५७ है। सम्भवतः यह शतक कवि की प्रथम कृति है। इस प्रकार रत्नाकर ने १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही अपनी कृतियों की रचना की है।

रत्नाकर के प्रत्येक शतक में १२८ पद्य हैं। इन शतकों में लोकस्वरूप को बतलानेवाला त्रिलोकशतक कंद पद्य में है। शेष दो शतक वृत्त में निरूपित हैं। इनमें रत्नाकरशतक कवि की प्रत्युत्पन्नमति को प्रतिबिम्बित करनेवाला एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। शेष शतकों की तरह नीतिनिरूपण करना ही इसका लक्ष्य है। फिर भी इसमें ओज तथा तेज है। रत्नाकर एक स्वतंत्रचेता कवि हैं। उनकी वाणी सटीक एवं मर्मस्पर्शी है यद्यपि कर्म प्रतिपादन एवं तत्त्वजिज्ञासा के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण उदार है।

जीवन की क्षणभंगुरता को स्वीकार करते हुए भी रत्नाकर भोग से विमुख होने की बात नहीं कहते; बल्कि वह कहते हैं कि भोग को भोगते हुए भी शाश्वत सुख प्राप्त किया जा सकता है। यही कवि के भरतेशवैभव महाकाव्य का सार है।

भरतेशवैभव भरतचक्रवर्ती के चरित्र से सम्बन्धित एक महाकाव्य है। कथा बहुत पुरानी है। भरत प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवें मनु, प्रथम चक्री और चरमशरीरी हैं। अन्य सभी शलाकापुरुषों के जीवनचरित्र की तरह भरत के जीवनचरित्र का आधार भी आचार्य जिनसेन का आदिपुराण ही है। रत्नाकर ने जिनसेन द्वारा वर्णित भरत की कथा के मूलरूप को स्वीकार करते हुए भी उसके विवरण में पर्याप्त परिवर्तन किया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा के एक अंग के रूप में वर्णित इस कथा के आधार पर एक स्वतन्त्र कृति की रचना करना रत्नाकर की विशेषता है। इससे पहले किसी भी कन्नड कवि ने ऐसी रचना नहीं की थी। रत्नाकर ने जो कुछ कथावस्तु उपलब्ध थी उसे अपनी नवीन कल्पनाओं से सँजोया है तथा अपने कथानायक के चरित्र को नवीन ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रयत्न में वह अवश्य सफल हुआ है। इस महाकवि ने तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों की ही तरह भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, अर्ककीर्तिविजय और मोक्षविजय नाम की पाँच संधियों में भरत की कथा का विस्तार किया है।

भरतेशवैभव के भोगविजय कथा भाग में भरत के द्वारा अनुभूत लौकिक सुख भोगों का एवं उसके ऐश्वर्य और समृद्धि का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है जो हमें सहसा तीर्थंकर के गर्भावतरण-कल्याणक का स्मरण दिलाता है। वस्तुतः भोगसंधि शृंगाररस का एक महासागर है। भरत चक्रवर्ती के जीवन का शृंगारिक चित्रण आचार्य जिनसेन के पूर्वपुराण में भी मिलता है। वास्तव में रत्नाकर ने भरत को एक अत्यंत वैभवशाली एवं सुखी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। रत्नाकर ने 'भोगविजय' नामक इस सन्धि (अध्याय) में पुराणोक्त भरत की कथावस्तु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है, यद्यपि इसका वर्णन भाग कवि का अपना है। रत्नाकर ने दिग्विजय की कथावस्तु में अवश्य परिवर्तन किया है। पुराण का भरत निर्दयी तथा कठोर है, परन्तु रत्नाकर का भरत दयालु एवं मृदुहृदयी है। उसका भरत युद्ध को पसन्द नहीं करता है, बल्कि विरक्त होकर तपस्या के लिए गये हुए अपने सहोदरों के लिए बहुत दुःखी होता है। रत्नाकर एक स्वतंत्रचेता कवि है, उसे जो भी बात ठीक लगती है, स्वीकार कर लेता है। यही कारण था कि मूडबिद्री का 'श्रावकवर्ग रत्नाकर से असन्तुष्ट हो गया था, यद्यपि श्रावकवर्ग के असन्तोष के लिए तत्कालीन स्थानीय भट्टारक भी एक कारण माने जाते हैं।

रत्नाकर के शेष तीन कथा भागों में मूल कथा की दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। 'भरतेशवैभव' की महत्ता कवि की काव्य दृष्टि के कारण है। महाकवि को अपने कथानायक कर्मवीर भरत के प्रति अपार भक्ति थी। कवि सांसारिक भोग-विलास को आध्यात्मिक विकास का आत्यन्तिक विरोधी नहीं मानता है; वह यह मानता है कि निष्काम भाव से संसार में रहते हुए आध्यात्मिक विकास सम्भव है। इसलिए वह अपनी कथा का प्रारम्भ भरत के भोग-विलास के वर्णन से करता है। भरत षट् खण्ड का अधिपति एवं नवनिधि का स्वामी था। भोग-विलास की साधनरूप सुन्दर स्त्रियों की भी उसे कमी नहीं है, फिर भी भरत धर्म की उपेक्षा नहीं करता है। राज्य लक्ष्मी का संचय एवं काम का सेवन करते हुए भी वह गृहस्थ-धर्म के मूला-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार पंचाणुव्रतों का पालन करता है। भरत धर्म की मर्यादा के भीतर रहकर सांसारिक सुख-भोग करनेवाला एक राजर्षि है।

वस्तुतः भोग और त्याग में अविरोध प्रदर्शित कर, भोग और योग के मध्य समन्वय करना ही महाकवि रत्नाकर के काव्य का एकमात्र लक्ष्य है। कवि कुवेंदु के शब्दों में भरतेशवैभव में त्याग और भोग के समन्वयरूपी योग-दर्शन को रत्नाकर ने सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है। उसने इस आदर्श को सिर्फ भरत के जीवन में ही नहीं अपितु समूचे काव्य में कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है। इस प्रकार की काव्यसृष्टि संसार के किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। इस दृष्टि से भरतेशवैभव एक महान् कृति है।

रत्नाकर का काव्य चर्वितचर्वण या पिष्टपेषण नहीं है। वह सांप्रदायिकता से भी बहुत दूर है। सामान्य जनता उसके काव्य से लाभ उठावे, यही कवि का प्रमुख लक्ष्य था। रत्नाकर की शैली सरस और सरल है। कवि के वर्णन में स्वाभाविकता है। कवि ने जो कुछ लिखा है वह आत्मानुभव के आधार पर लिखा है। रत्नाकर कन्नड कवि रूप माला की एक देदीप्यमान मणि है। इनके काव्यों के कई संस्करण निकल चुके हैं।

विजयण्ण

विजयण्ण मूडबिद्री के निवासी थे। इन्होंने द्वादशानुप्रेक्षा की रचना की है। यह कृति सांगत्य छन्द में है, बीच-बीच में कहीं कंद वृत्त भी हैं। ग्रंथ में जैन धर्म में प्रतिपादित बारह भावनाओं का वर्णन है। साहित्य की दृष्टि से यह रचना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। कवि का निरूपण सरल, सुगम एवं हृदयग्राही है। विजयण्ण का समय लगभग ई० सन् १४५० है। कवि का आश्रयदाता देवकवि है। उसी की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रंथ रचा गया है। द्वादशानुप्रेक्षा को कन्नड में लाने का श्रेय विजयण्ण को ही है। यह ग्रंथ पठनीय है। यह प्रकाशित भी हो गया है।

शिशुमायण

होय्सल देशांतर्गत कावेरी नदी के तट पर अवस्थित नयनापुर शिशुमायण का जन्मस्थल था। कवि के पिता बोम्मिसेट्टि और माता नेमांबिका थीं। कवि के श्रद्धेय गुरु काणूर्गण के भानुमुनि थे। बेलुकेरे नगर के स्वामी गोम्मटदेव की प्रेरणा से कवि ने 'अंजनाचरिते' की रचना की थी। त्रिपुरदहन नामक इनका एक अन्य ग्रन्थ भी है। शिशुमायण का समय ई० सन् १४७२ है। कवि के दोनों काव्य सांगत्य छन्द में निरूपित हैं। दोनों सरल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा प्रवाहपूर्ण है। सांगत्य काव्यों की अभिवृद्धि में शिशुमायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शिशुमायण का त्रिपुरदहन २८२ सांगत्य पद्यों की एक लघुकाय कृति है। यह संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की तरह एक लक्ष्य काव्य है। कवि ने शिवपुराण की प्रसिद्ध त्रिपुरदहन की कथा में परिवर्तन कर उसमें जिनेश्वर देव को जन्म-जरा-मरणरूपी त्रिपुरों का संहारकर्ता बतलाया है। तदनुकूल कवि ने मोहासुर को त्रिपुर का राजा; माया को उसकी रानी; मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक गतियों को चार पुत्र, क्रोध, लोभादि को मंत्री तथा नाना विध कर्मों को उसका परिवार निरूपित किया है। शिवपुराण की सभी घटनाओं को यहाँ पर सांकेतिक रूप दिया गया है। जिनेश्वरदेव के ललाट पर केवलज्ञानरूपी तीसरा नेत्र प्रकट होता है, जिसके द्वारा त्रिपुर (मोहासुर) सपरिवार पराजित कर दिया जाता है। परम दयालु जिनेश्वरदेव ने मोहासुर को मारा नहीं, बल्कि हाथ-पैर बाँधकर उसे अपने चरणों में झुकाया और स्वतन्त्र छोड़ दिया। इस प्रकार कवि ने इस काव्य में जिनेश्वरदेव को शिव से अधिक दयालु सिद्ध किया है।

शिशुमायण का अंजनाचरिते ६ हजार पद्यों का एक वृहद् ग्रंथ है। इसमें आचार्य रविषेणविरचित संस्कृत पद्मचरित्र में वर्णित अंजना की कथा का ही विस्तार किया गया है। कवि के वर्णन में स्वाभाविकता है। कवि का दृष्टिकोण जनसाधारण को परितोष देना ही रहा है और इस कार्य में कवि शिशुमायण पूरी तरह सफल हुआ है।

बोम्मरस

तेरकणांबिनिवासी बोम्मरस सनत्कुमारचरिते और जीवंधरसांगत्य नामक इन दो ग्रंथों के रचयिता हैं। इनका समय लगभग ई० सन् १४८५ है। कवि के पिता का नाम भी बोम्मरस ही था। सम्भवतः इनके पिता बोम्मरस भी विद्वान् थे। भामिनि षट्पदि के इस सनत्कुमारचरिते में ८७० पद्य हैं। इसमें हस्तिनापुर के युवराज सनत्कुमार की कथा वर्णित है। कवि का कथानिरूपण सुन्दर है, पद्यों का प्रवाह ठीक है और वर्णन में नवीनता है। मालूम होता है कि कवि बोम्मरस भोजनप्रिय था क्योंकि इनके काव्य में भक्ष्य-भोज्य पदार्थों का वर्णन विशेष रूप से मिलता है।

कवि के जीवंधर सांगत्य में करीब १४५० पद्य हैं। इसमें राजपुरी के महाराज सत्यंधर के सुपुत्र जीवंधर की कथा निरूपित है। कथा सरल एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जन-भोग्य है। वर्णन सुंदर है। यद्यपि बोम्मरस को महाकवि नहीं कहा जा सकता फिर भी वे एक श्रेष्ठ कवि हैं। कवि कोटीश्वर ने भी लगभग ई० सन् १५०० में, भामिनि षट्पदि में एक जीवंधरचरिते लिखा है, किन्तु वह ग्रंथ अपूर्ण है।

मंगरस (द्वितीय)

पहले मंगरस खगेन्द्रमणि दर्पण नामक वैद्यक ग्रंथ के रचयिता हैं। दूसरे मंगरस मंगराजनिघंटु के रचयिता हैं। तीसरे मंगरस जलनृपकाव्य, नेमिजिनेशसंगति, श्रीपालचरिते, प्रभंजनचरिते, सम्यक्त्वकौमुदि और सूपशास्त्र नामक ग्रंथों के रचयिता हैं। चेंगाल्व सचिवकुलोद्भव कल्ल-हल्लिका विजयभूपाल इनके पिता हैं। इनकी माता देविले और गुरु चिक्कप्रभेन्दु हैं। कवि को प्रभुराज, प्रभुकुल और रत्नदीप नामक उपा-धियाँ प्राप्त थीं। कवि के पिता युद्धवीर मालूम होते हैं क्योंकि कवि ने अपने पिता को 'रणकभिनवविजय' कहा है। मंगरस तृतीय १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कवि हैं।

मंगरस का जयनृपकाव्य परिवर्धिनी षट्पदि में, सूपशास्त्र वार्धक-षट्पदि में, सम्यक्त्वकौमुदि उद्दंडपट्पदि में और शेषतानग्रंथ सांगत्य में हैं। जयनृपकाव्य में कुरुजांगण के राजकुमार जयनृप की कथा है। इसका मूल आधार आचार्य जिनसेनरचित संस्कृत कथा है। कथानायक प्रथम चक्रवर्ती भरत का सेनापति था। यह एक शृंगारिक काव्य है। मंगरस का पदबंध ललित एवं स्वभावोक्ति हृदयग्राही है। कवि की कल्पना नवीन एवं मनो-हारिणी है। परिवर्धिनी षट्पदि में रचित इस काव्य में कविता मंगरस की मानों चेरी ही है।

मंगरस का सूपशास्त्र ३५६ पद्यों एक पाकशास्त्र ग्रंथ है। इसका आधार पिष्टपाक, पानक, कलमान्नपाक, शाकपाक आदि संस्कृत ग्रंथ रहे हैं। सभी की चर्चा इस ग्रन्थ में हुई है। मंगरस कहते हैं कि यह पाकशास्त्र स्त्रियों के लिए अत्यंत प्रिय और उपयोगी है। कवि रसनेन्द्रियतुष्टि को ही लौकिक और पारलौकिक सुख मानता है।

सम्यक्त्वकौमुदि ७९२ पद्यों का एक सुंदर काव्य है। इसमें वैश्य अर्हद्दास की स्त्रियों द्वारा कथा सुनाने तथा उन्हें सुनकर राजा उदितोदित को सम्यक्त्व एवं स्वर्ग प्राप्त होने की कथा वर्णित है। यह कथा पूर्व में गौतम गणधर ने मगधनरेश श्रेणिक को सुनायी थी। इस कथा में और भी कई उपकथाएँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शामिल हैं। ये सब सुंदर कथाएँ जनपद कथाओं के वर्ग की हैं। इन कथाओं में नीति-उपदेश भरे पड़े हुए हैं। सभी कथाएँ पठनीय हैं।

मंगरस का प्रभंजनचरिते अपूर्ण है। शेष दो ग्रंथ वृहदाकार हैं। इनमें एक है श्रीपालचरिते जिसमें पुण्डरिकिणी नगर के राजा गुणपाल के पुत्र श्रीपाल की कथा वर्णित है। उनके अन्य काव्यों की तरह इसमें भी नवीनता, मनोहरता और स्वाभाविकता है। कवि के अपूर्ण प्रभंजनचरिते में शुम्भदेश के जम्भापुर के राजा देवसेन के पुत्र प्रभंजन की कथा वर्णित है। यह काव्य भी सरल एवं सरस है।

नेमिजिनेशसंगति में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का पुण्यचरित्र निरूपित है। विद्वानों का मत है कि यह रचना कवि की प्रथम कृति है, क्योंकि इसकी शैली कवि के अन्य काव्यों की तरह प्रौढ़ नहीं है। फिर भी इसमें कवि हृदय मौजूद है और इसके युद्धवर्णन से ज्ञात होता है कि मंगरस क्षत्रिय था और युद्ध में उसने अवश्य भाग लिया होगा। इसके जयनृपकाव्य, सूपशास्त्र, सम्मक्त्वकौमुदि और नेमिजिनेशसंगति प्रकाशित हो चुके हैं।

अभिनववादि-विद्यानंद

इन्होंने 'काव्यसार' नामक एक संकलन ग्रंथ की रचना की है। नगर तालुकान्तर्गत होंबुज के एक शिलालेख में इनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। प्रतिवादियों को जीतने में एवं उपन्यास में यह अद्वितीय कहा गया है। इसी-लिए वादिविद्यानंद नाम से अभिहित किया गया होगा। इनका समय ई० सन् सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मालूम होता है।

इनके उपर्युक्त संकलन ग्रंथ में ११४० पद्य हैं। सम्भवतः इन्होंने अन्य ग्रंथों की रचना भी की होगी।

विद्यानंद का 'दशमल्यादि महाशास्त्र' नामक एक ग्रंथ मुझे उपलब्ध हुआ है। यह ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और कन्नड भाषा में लिखित है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तृत परिचय मैंने अन्यत्र एक लेख में दिया है।

साल्व

इन्होंने अपने आश्रयदाता साल्वमल्ल और राजा साल्वदेव की प्रेरणा से भामिनी षट्पदि में 'भारत' नामक ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ के अति-रिक्त साल्व ने रसरत्नाकर और वैद्यसांगत्य नामक और दो ग्रंथों की रचना की है। विद्वानों की राय से 'शारदाविलास' नामक एक अन्य कृति भी इन्हीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की है। कवि के पिता धर्मचन्द्र और गुरु श्रुतकीर्ति हैं। साल्व १६वीं शताब्दी के मध्य या उत्तर भाग में हुए होंगे। साल्व के 'भारत' को नेमीश्वरचरिते भी कहते हैं। अन्य जैन भारतों की तरह यहाँ भी हरिवंश-कुरुवंश की कथा दी गयी है। यह एक धार्मिक ग्रंथ है। कवि साल्व एक विद्वान् कवि हैं। इनका काव्य मध्यम वर्ग का है। कवि का रसरत्नाकर नामक एक अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ भी है। इसमें चार आश्वास हैं। साल्व ने इस कृति की रचना में अमृतानन्दी, रुद्रभट्ट, हेमचन्द्र, नागवर्म आदि कवियों के ग्रंथों से सहायता ली है। इसमें संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ विस्तार से लिखा गया है। यह बात कवि ने स्वयं कही है। यद्यपि कवि ने सभी नौ रसों का वर्णन किया है। तथापि उसे शृंगाररस अधिक प्रिय था।

साल्व के 'शारदाविलास' में काव्य की जीवस्वरूप ध्वनि ही प्रतिपादित है। कन्नड में ध्वनि प्रतिपादक ग्रंथों में यह प्रथम रचना है। यह ग्रन्थ अभी तक पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। इसका केवल दूसरा आश्वास ही मिला है। साल्व का वैद्यसांगत्य एक सुन्दर वैद्यग्रंथ है। इस प्रकार कवि साल्व अपनी बहुमुखी प्रतिभा से कन्नड भाषासाहित्य की तुष्टि-पुष्टि के अवश्य हिस्से-दार हैं।

दोड्डय्य

इन्होंने चन्द्रदेवप्रभचरितं की रचना की है इनका निश्चित समय ज्ञात नहीं है। सम्भवतः ये १६वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए। इनके ग्रंथ का मूल आधार कविपरमेष्ठी और आचार्य गुणभद्र की कृतियाँ हैं। इसमें लग-भग ४५०० पद्य हैं। साहित्य का दृष्टि से यह ग्रंथ सामान्य स्तर का है।

बाहुबलि

ये शृंगेरिवासी वैश्यशिरोमणि सण्णण्ण के पुत्र थे। इनकी माता बोम्मल-देवी थीं। एक दिन राजा भैरवेन्द्र के आस्थान में भट्टारक ललितकीर्ति ने पुराण श्रवण कराते हुए भैरवेन्द्र को श्रीपंचमी की महिमा सुनायी। इस कथा को लिखने के लिए राजा ने बाहुबलि को आदेश दिया। ललितकीर्ति ने भी इसका समर्थन किया। उन दोनों की प्रेरणा से कवि ने नागपञ्चमी की महिमा को प्रकट करनेवाले नागकुमारचरिते की रचना की। बाहुबलि का समय ई० सन् १५६० है। कवि का नागकुमारचरिते एक सुन्दर कृति है। यह ३७०० पद्यों का एक वृहद् काव्यग्रंथ है। कवि को कविराजहंस और संगीतसुधाब्धिचन्द्रम् नामक उपाधियाँ प्राप्त थीं।

गुणचंद्र

गुणचंद्र एक लाक्षणिक कवि हैं। इनका समय करीब ई० सन् १६५० है। इन्होंने इन्दस्सार नामक एक संग्रहरूप छन्दोग्रंथ लिखा है। इसमें पाँच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय हैं। प्रारम्भ के चार अध्यायों में कवि ने प्रायः संस्कृत छन्दों के सम्बंध में ही लिखा है। परंतु अंतिम अध्याय में अन्य कन्नड ग्रंथों में अनुपलब्ध कन्नड छंदों के प्राणभूत छंद ध्रुव, भट्ट, त्रिपुट, रूपक, जंपक, अष्ट और एक आदिताल प्रतिपादित हैं। इसी प्रकार द्विपदि, त्रिपदि, लावणि आदि के सुन्दर लक्ष्य एवं लक्षण भी दिये गये हैं। ग्रंथ का अंतिम अध्याय वैशिष्टयपूर्ण है। यह लघु-काय छंदोग्रंथ छंदश्शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

लगभग ई० सन् १३वीं शताब्दी में जीवित कवि रट्ट का 'रट्टमत' नामक एक जैन ज्योतिष ग्रंथ भी मिलता है। यह ८१८ विविध छंदों में रचित, १२ अध्यायों का एक वृहद् ग्रंथ है। वस्तुतः 'रट्ट' कवि की उपाधि है। इनका वास्तविक नाम दूसरा ही होगा। इस कृति में केवल वर्षा के लक्षण विशेष रूप से प्रतिपादित हैं। वर्षा, फसल आदि कृषि से सम्बद्ध विषय इसमें सुंदर ढंग से विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। कृषकों के लिए यह ग्रंथ विशेष उपयोगी है। ज्योतिषशास्त्र एवं अपने अनुभव के आधार पर कवि ने अपने इस ग्रंथ में कृषकों के लाभप्रद अनेक उपयुक्त विषयों की चर्चा की है। इसमें जमीन पर पानी को खोज निकालने, अशुद्ध पानी को शुद्ध करने आदि विषयों का विधान भी निरूपित है।

१६वीं शताब्दी के अन्य जैन काव्य लेखकों में 'विजयकुमारिकथे' के रचयिता श्रुतकीर्ति, 'चन्द्रप्रभषट्पदि' के रचयिता दोड्डणांक, शृंगारप्रधान 'सुकुमारचरिते' के रचयिता पद्मरस और 'वज्रकुमारचरिते' के रचयिता ब्रह्म कवि प्रमुख हैं। ई० सन् १६०० में देवोत्तम ने 'नानार्थरत्नाकर' नाम से और शृंगार कवि ने 'कर्णाटकसजीवन' नाम से दो निघंटुओं की भी रचना की है। कवि शांतरस ने योगशास्त्रविषयक 'योगरत्नाकर' नामक एक सुंदर योगशास्त्र भी लिखा है।

सम्भवतः १७वीं शताब्दी के बाद जैन कवि रचना से सर्वथा विमुख हो गये। संख्या में ही नहीं, सारस्वत सम्पदा में भी यह काल जैनों की अवनति का काल है। इस काल में जैन कवियों की संख्या केवल २५-३० ही रही। इनमें भी साहित्य की दृष्टि से उल्लेखनीय कवि केवल ५-६ ही हैं। उल्लेखार्ह कतिपय कवियों का परिचय निम्न प्रकार है :

भट्टाकलंक

इन्होंने 'कर्णाटकशब्दानुशासन' की रचना की है। इनका समय ई० सन् १६०४ है। कवि देवचन्द्र ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कतिपय शिलालेखों में भी इनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। इसमें संदेह नहीं है कि भट्टाकलंक सचमुच इस प्रशंसा के पात्र हैं। यह प्रसिद्ध वैयाकरण नागवर्म (द्वतीय) और केशि-राज से बढ़कर हैं। वस्तुतः भट्टाकलंक महावैयाकरण थे। इन्होंने केवल ५६२ सूत्रों में ही भाषा-विषयक समस्त विषयों को भर दिये हैं। उल्लेखनीय यह है कि भट्टाकलंक ने कन्नड व्याकरण को संस्कृत में लिखा है। इतना ही नहीं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्होंने एतदर्थ 'भाषामञ्जरी' नामक संस्कृत वृत्ति एवं 'मञ्जरीमकरंद' नामक संस्कृत व्याख्या भी लिखी है। कवि ने स्वयं अपने को संस्कृत और कन्नड दोनों भाषाओं के व्याकरणों का मर्मज्ञ बतलाया है। निस्सन्देह भट्टाकलंक अपार एवं अगाध पाण्डित्य के धनी थे। यह दक्षिण कन्नड जिला के अकलंकदेव के शिष्य थे। अतः भट्टाकलंक वहीं के निवासी रहे होंगे।

धरणि पण्डित

इन्होंने 'वराङ्गनृपचरिते' और 'बिज्जलचरिते' की रचना की है। इनका समय लगभग ई० सन् १६५० है। इनके पिता विष्णुवर्धनपुर के पद्मपंडित थे। वराङ्गनृपचरिते को सर्वप्रथम जटासिंहनन्दि ने संस्कृत में रचा गया था। इसी को वंधुवर्म ने 'जीवसम्बोधन' में संग्रहरूप में दिया था। धरणिपंडित ने इस कथा को भामिनि षट्पदि में विस्तार से लिखा। यह ग्रंथ पूर्णरूप में नहीं मिला है।

कवि का दूसरा ग्रंथ 'बिज्जलरायचरिते' सांगत्य छंद में है। इसमें लगभग १२५० पद्य हैं। इसमें बसवण्ण का इतिहास लिखा गया है। बसवण्ण कल्याण-पुर के जैन राजा बिज्जल का सेनापति था। इसने बिज्जल को विषपूर्ण आम दिलाकर मरवा डाला। इससे रुष्ट होकर सेना, बिज्जल को मारने के लिए प्रस्तुत हुई। यह जानकर बसवण्ण वृषभपुर गया और वहाँ एक कूप में कूदकर आत्महत्या कर ली। यही ग्रंथ का सार है।

नूतननागचंद्र और चिदानंद

नूतननागचन्द्र ने लगभग ई० सन् १६५० में 'जिनमुनितनय' की और चिदानंद ने लगभग ई० सन् १६८० में 'मुनिवंशाभ्युदय' की रचना की है। जिनमुनितनय नीति और धर्म प्रतिपादक एक लघुकाय कृति है। इसमें केवल १०९ कंद पद्य हैं। इनका प्रत्येक पद्य जिनमुनितनय शब्द से पूर्ण होता है। इसीलिए इसका नाम जिनमुनितनय पड़ा। मुनिवंशाभ्युदय सांगत्य में है। इसमें जैन गुरुपरम्परा दी गई है। इसके साथ ही साथ इसमें श्रुतकेवली भद्र-बाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का विवरण भी दिया गया है।

देवचंद्र

इन्होंने 'राजावलीकथे' और 'रामकथावतार' नामक दो ग्रंथों की रचना की है। इनका समय ई० सन् १७७०-१८४१ है। देवचन्द्र मैसूरनरेश सुम्मडि कृष्णराज के समकालीन थे। राजाश्रित वैद्य सूरि पंडित के प्रोत्साहन से ही इन्होंने 'राजावलीकथे' की रचना की थी। इसमें जैनधर्म के इतिहास की अनेक बातें तथा राजा एवं कवियों की जीवनियाँ दी गयी हैं। इसमें मैसूर के राजाओं की वंशावली भी दी गई है। देवचन्द्र का 'रामकथावतार' एक चम्पू ग्रंथ है। महाकवि नागचन्द्र (अभिनवपंप) से इन्होंने केवल कथा एवं भावों को ही नहीं लिया है बल्कि उनके अनेक पद्यों का अनुवाद भी किया है। ग्रंथ सामान्य स्तर का है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐतिहासिक ग्रंथों की सूची

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन
कविराजमार्ग	नृपतुंग	कर्णाटक संघ आर्ट्स ऐण्ड साइंस कालेज, बेंगलूर
विक्रमार्जुन विजय	पंप	कन्नड साहित्य परिषद्, बेंगलूर
शांतिपुराण (पुराणचूडामणि)	पोन्न	विश्वविद्यालय, मद्रास
गदायुद्ध (साहसभीमविजय)	रन्न	सं० प्रो० ती० नं० मैसूर।
छन्दोम्बुधि	नागवर्म्म	ललित प्रकाशन, वी० वी० मोहल्ला, मैसूर।
चूडामणि-काव्य	श्रीवर्धदेव	(अनुपलब्ध)
चूडामणि-व्याख्या	तुंबुलूर	,,
किरातार्जुनीय-व्याख्या (सर्ग १७)	दुर्विनीत	,,
चन्द्रप्रभपुराण	श्रीविजय	,,
पश्नोत्तररत्नमालिका	नृपतुंग	विश्वविद्यालय, मद्रास।
वर्धमानपुराण	असग	(अनुपलब्ध)
हरिवंश	गुणवर्म	,,
नेमिनाथपुराण	,,	,,
भुवनैकवीर	,,	,,
वड्डाराधने	शिवकोटचाचार्य	शारदामन्दिर, रामय्य रस्ते, मैसूर ४.५।
उपसर्गकेवलियों की कथा		चन्द्रप्रभ प्रेस, बेलगाँव।
आदिपुराण	पंप	(अनुपलब्ध)
भुवनैकरामाभ्युदय	पोन्न	मं० आ० रामानुजय्यंगार, सहायक अध्यापक महारानी कालेज, मैसूर।
शांतिपुराण	कमलभव	जैन साहित्य प्रकाशन संघ, बनुमय्य रस्ते, मैसूर।
अजितपुराण	रन्न	पद्मनाभशर्मा, बनुमय्य रस्ते, मैसूर।
त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण	चाउण्डराय	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातकतिलक	श्रीधराचार्य	प्राच्य विद्या संशोधालय, मानस गंगोत्री, मैसूर।
चन्द्रप्रभचरित (अनुपलब्ध)	"	
तत्त्वार्थसूत्र-कन्नडवृत्ति	दिवाकरनंदि	" "
सुकुमारचरित	शांतिनाथ	कन्नड संघ, शिवमोग्ग, मैसूर।
मल्लिनाथपुराण	नागचन्द्र	कन्नड अध्ययन नं. संस्थे, मानस गंगोत्री, मैसूर।
पंपरामायण (रामचन्द्रचरितपुराण)	अभिनवपंप (नागचन्द्र)	"
कंतिहपन समयस्येगढु	कंति	लोकनाथ शास्त्री, मूडबिद्री।
धर्मामृत	नयसेन	प्राच्य विद्या संशोधनालय, मानस गंगोत्री, मैसूर।
व्यवहारगणित	राजादित्य	(अप्रकाशित)
क्षेत्रगणित	"	"
व्यवहारत्न	"	"
लीलावति	"	"
चित्रहसुगे	"	"
जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण	"	"
गोवैद्य	कीर्तिवर्म	"
समय-परीक्षा	ब्रह्मशिव	कन्नड संशोधन संस्थे, धारवार।
त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र	"	"
नेमिनाथपुराण	कर्णपार्य(कण्णम, कण्णप)	विश्वविद्यालय, मद्रास।
कल्याणकारक	सोमनाथ	प्राच्य संशोधनालय, मानस गंगोत्री, मैसूर।
धर्म परीक्षा	वृत्तविलास	
शास्त्रसार समुच्चय	"	
काव्यावलोकन	नागवर्म (द्वितीय)	प्राच्य विद्या संशोधनालय, मानस गंगोत्री, मैसूर।
कर्णाटकभाषाभूषण	"	कन्नड साहित्य परिषद्, बेंगलूर।
वस्तुकोश	"	विश्वविद्यालय, मद्रास।
अभिधानरत्नमाला	नागवर्म (द्वितीय)	विश्वविद्यालय, मद्रास।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिनाथ पुराण	नेमिचन्द्र	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवार।
लीलावति	"	शारदा मन्दिर, रामय्य रस्ते, मैसूर ४.।
गोम्मटेश्वर-स्तुति	बोप्पण	जी. ब्रह्मय्य, श्रवणबेळगोळ।
निर्वाणलक्ष्मीपतिस्तोत्र	"	संग्रहों में प्रकाशित है।
वर्धमानपुराण	आचण्ण	विश्वविद्यालय, मद्रास।
पार्श्वनाथपुराण	पार्श्वपंडित (पार्श्व)	"
शब्दमणिदर्पण	केशिराज	शारदा मन्दिर, रामय्य रस्ते, मैसूर।
चन्द्रप्रभपुराण	अग्गल	विश्वविद्यालय, मद्रास।
कावनगेल्ल कब्बिगरकाव मदनविजय	अण्डय्य (आंडय्य) (अप्रकाशित)	शारदामन्दिर, रामय्य रस्ते, मैसूर, ४.४।
वर्धमानचरित्र	सकलकीर्ति	(संस्कृत)
वर्धमानपुराण	पद्म	(अप्रकाशित)
हरिवंशाभ्युदय	बंधुवर्म	"
जीवसंबोध	"	च०चं० ब्रह्मसूरय्य, श्रमणबेळगोळ।
यशोधरचरित	जन्न	शारदामन्दिर, रामय्य रस्ते, मैसूर–४.३, १९६१.
अनंतनाथपुराण	"	कन्नड अध्ययन संस्थे, मानस गंगोत्री, मैसूर।
पुष्पदंतपुराण	गुणवर्म (द्वितीय)	विश्वविद्यालय, मद्रास।
चन्द्रनाथाष्टक	"	
नेमिनाथपुराण	महाबल	(अप्रकाशित)
सुक्तिसुधार्णव	मल्लिकार्जुन	प्राच्य संशोधनालय, मानस गंगोत्री मैसूर।
चोलपालचरित सुभद्राहरण प्रबोधचन्द्र किरात	(अजैन) अप्रकाशित " केशीराज "	" " " "
पुण्याश्रवकथा	नागराज	
धर्मनाथपुराण	बाहुबलि	(अप्रकाशित)
"	मधुर	"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खगेन्द्रमणिदर्पण	मंगराज या मंगरस	विश्वविद्यालय, मद्रास ।
जीवंधरचरिते	भास्कर	कर्णाटक विश्वविद्यालय, धारवार।
ज्ञानचन्द्राभ्युदय	कल्याणकीर्ति	अतिबल ग्रन्थ माला, बेलगाँव ।
कामनकथे	,,	अप्रकाशित
अनुप्रेक्षे	,,	,,
जिनस्तुति	,,	,,
तत्त्वभेदाष्टक	,,	,,
भरतेशवैभव	रत्नाकरवर्णी	जी० ब्रह्मय्य, श्रवणबेळगोळ ।
अपराजितेश्वरशतक	,,	मैसूर, मूडबिद्री आदि अनेक स्थलों में ।
त्रिलोकशतक	,,	,,
रत्नाकरावधीश्वरशतक	,,	,,
द्वादशानुप्रेक्षा	विजयण्ण	पद्मराज पंडित, बेंगलूर ।
अंजनाचरिते	शिशुमायण	अप्रकाशित
त्रिपुरदहनसांगत्य	,,	,,
सनत्कुमारचरिते	बेम्मरस	,,
जीवंधरसांगत्य	,,	
जयनृपकाव्य	मंगरस (तृतीय)	रामानुज अय्यंगार, मैसूर ।
नेमिजिनेश संगति	,,	सं०–पं० शांतिराज शास्त्री, मैसूर ।
श्रीपालचरिते	,,	अप्रकाशित
प्रभंजनचरिते	,,	,,
सम्यक्त्वकौमुदि	,,	सं०–पं० शांतिराज शास्त्री ।
सूपशास्त्र	,,	प्रका० अतिबल ग्रंथमाला, बेलगाँव प्राच्य संशोधनालय, मैसूर । मानसगंगोत्री, मैसूर ।
मंगराजनिघंटु	मंगरस (द्वितीय)	(अप्रकाशित) ।
खगेन्द्रमणिदर्पण (विषवैद्य)	मंगरस (प्रथम)	विश्वविद्यालय मद्रास ।
काव्यसार	अभिनववादि-विद्यानंद	रामानुज अय्यंगार, महारानी कालेज, मैसूर ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत (नेमीश्वरचरिते)	साल्व	
रसरत्नाकर	,,	विश्वविद्यालय मद्रास।
वैद्यसांगत्य	,,	अप्रकाशित।
शारदाविलास	,,	
चन्द्रप्रभचरिते	दोड्डय्य	रामानुज अय्यंगार, महारानी, कालेज, मैसूर।
नागकुमारचरिते	बाहुबलि	सं०—पं० शांतिराज शास्त्री, मैसूर
छन्दस्सार	गुणचन्द्र	अप्रकाशित।
रट्टमत	कविरट्ट	,,
विजयकुमारिकथे	श्रुतिकीर्ति	प्रकाशित (पता अज्ञात)
चन्द्रप्रभषट्पदि	दोड्डणांक	अप्रकाशित।
सुकुमारचरिते	पद्मरस	,,
वज्रकुमारचरिते	ब्रह्मकवि	,,
नानार्थरत्नाकर	देवोत्तमे	,,
कर्णाटकसंजीवन	शृंगारकवि	,,
योगरत्नाकर	कविशांतरस	होसंगडि बिण्णाणि, होसंगडि।
कर्णाटकशब्दानुशासन	भट्टाकलंक	राजकमल प्रकाशन, बलेपेटे वेंगलूर।
भाषामंजरी	,,	
मंजरीमकरंद	,,	
वरांगनृपचरिते	धरणिपंडित	अप्रकाशित।
बिज्जलचरिते	,,	ब्रह्मय्य, होल्लल्केरे, मैसूर।
जीवसंबोधन	बन्धुवर्म	(ऊपर लिखा गया)।
वरांगचरिते	जटासिंहनंदि	(संस्कृत)
जिनमुनितनय	नूतननागचन्द्र	अनेक स्थलों में प्रकाशित।
मुनिवंशाभ्युदय	चिदानंद	अप्रकाशित।
राजावलीकथे	देवचंद्र	,,
रामकथावतार		

'मानसगंगोत्री मैसूर विश्वविद्यालय का नाम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमिल जैन साहित्य
का
इतिहास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. जैनधर्म और तमिल देश

प्रारम्भ-काल

नाम

भारतीय इतिहास में जैनधर्म का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैन साधुओं और विद्वानों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार में जनता की व्यावहारिक भाषा को माध्यम बनाया। उन्होंने आम लोगों को बचपन से ही जैन संस्कार देने का प्रयास किया और एतदर्थ जैन दर्शन तथा साहित्य को भी उनकी मातृ-भाषा में प्रस्तुत किया। यही कारण था कि जैन विद्वानों ने दक्षिण प्रदेश की तमिल भाषा में भी अपना साहित्य रचा और तमिल के विकास में पर्याप्त योगदान दिया।

'जिन' उस पूतात्मा को कहते हैं, जो पूर्णतया जितेन्द्रिय हो और भव परम्परा से विमुक्त हो गया हो। तमिल भाषा में 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट धर्म को 'जैनम्' कहते हैं, तथा उस धर्म के अनुयायियों को 'जैनर्' कहते हैं। जैन साधु को संस्कृत भाषा में 'श्रमण' तथा प्राकृत भाषा में 'समण' कहा जाता है। यही शब्द तमिल में आकर 'चमणर्' और 'अमणर्' हो गया है। अब तो यह शब्द सामान्य जैन अर्थात् जैन श्रमण एवं जैन गृहस्थ दोनों के लिए व्यवहृत होता है। 'जिन' को ही 'अरुकर्' भी कहते हैं जो कि संस्कृत शब्द अर्हत् का तमिल रूप है। इसी आधार पर जैनियों को 'आरुहतर्' (संस्कृत रूप-आर्हत) के नाम से भी पुकारा जाता है। जैन-मत में राग-द्वेष रूपी ग्रंथियों से पूर्णतया छुटकारा पा जाने की अवस्था को केवलदशा या वीतराग दशा कहते हैं, इसीलिए जैनों को 'निर्ग्रन्थ' की संज्ञा मिली, जिसका प्राकृत रूप 'निगंठ' है। इसी कारण जैन मत को 'निगंठवादम्' भी कहते हैं। 'पिण्डिमरम्' (अशोकवृक्ष) के नीचे अर्हत् भगवान् के विराजने की अनुश्रुति के आधार पर जैनों को 'पिण्डियर्' (अर्थात् अशोकवृक्ष के नीचे विराजनेवाले भगवान् के उपासक) नाम से तमिल ग्रंथों में निर्दिष्ट किया गया है। 'चावकर्' (श्रावक) उन जैनों को कहते हैं, जो गृहस्थ होते हैं।

परम्परा

जैनों की धारणा है कि जैनधर्म अति प्राचीन है। जैन धर्म के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर ज्ञातपुत्र वर्धमान महावीर हुए थे। उनका निर्वाण ईसवी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पू० ५२७ में हुआ। जैन ग्रन्थों के अनुसार उनकी आचार्य परंपरा निम्न क्रम से है—

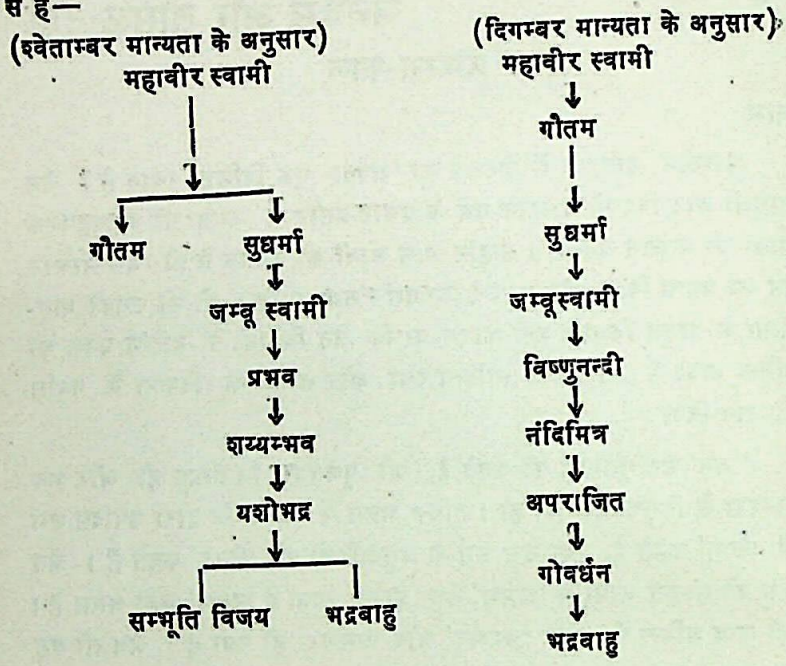

दक्षिण में प्रवेश

दिगम्बर परंपरा की प्रचलित अनुश्रुति के आधार पर उपर्युक्त आचार्य परम्परा के अन्तिम जैन आचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण प्रदेश में सर्वप्रथम प्रवेश किया था। भद्रबाहु मगधनरेश चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। उस समय उत्तर भारत में बहुत बड़ा अकाल पड़ा। ऐसी विकट दशा में वहाँ विपुल साधुसंघ का भरण-पोषण कठिन हो गया, अतः आचार्य भद्रबाहु ने अपने अनेक शिष्यों के साथ मगध छोड़कर दक्षिण को प्रस्थान किया और 'श्रवणबेळकुळम्'[1] नामक स्थान पर आकर ठहर गये। भद्रबाहु ने वहाँ से अपने शिष्य विशाख को चोल और पांडिय नरेशों के शासनक्षेत्र तमिलनाडु में जैनधर्म का प्रचार करने के हेतु भेजा था। इन्हीं आचार्य विशाख के सान्निध्य में चंद्रगुप्त मौर्य ने विधिवत् समाधि मरण प्राप्त किया था। उक्त तथ्यों की पुष्टि जैन ग्रंथों एवं शिलालेखों के आधार पर की जाती है।

---

१. यह स्थान मैसूर से ६२ मील और चन्नरायपट्टण से करीब अठारह मील की दूरी पर है। कन्नड में इसका नाम 'श्रमणबेळगोळ' है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि यह सब उल्लेख ईसा की नवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। अतः उस दंतकथा में उल्लेखित चन्द्रगुप्त चंद्रगुप्त-द्वितीय और भद्रबाहु भद्रबाहु-तृतीय हो सकते हैं। मगर बौद्धधर्म के प्राचीन एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ 'महावंश' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि चंद्रगुप्त मौर्य के समय में सिंहलनरेश पाण्डुकाभय ने निगंठों (जैनों) की सहायता की थी। इसके अतिरिक्त प्रथम या द्वितीय शती के तथा ब्राह्मीलिपि में अंकित कुछ जैन-शिलालेख दक्षिण तमिलनाडु की गुफाओं में पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ लोग इन्हें बौद्ध शिलालेख कहते हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें जैन-शिलालेख मानते हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैन श्रमणों ने ईसा की दूसरी सदी में ही तमिलनाडु में आकर, तमिल भाषा द्वारा अपने सम्प्रदाय का प्रसार करना शुरू कर दिया था।

यद्यपि आज तमिलनाडु में प्राचीन जैन परम्परा लुप्तप्राय हो गयी है, फिर भी एक समय ऐसा था, जब तमिलदेश के कोने-कोने में जैनधर्म की दुंदुभी गूंज उठी थी। जैनों के इस स्वर्णयुग का पता उपलब्ध शिलालेखों और अनेक स्थानों पर भूगर्भ से प्राप्त प्रस्तर-मूर्तियों द्वारा स्पष्टतया चलता है। इतना ही नहीं, अमणप्पाक्कम्, अरुकत्तुरै, नमण समुद्रम्, जिनालयम्, पंचपाण्डवमलै, अमण्कुडि, शमणर्तिडल्, शमणमलै, अरुकमंगलम्, पस्तिपुरम् आदि जैन-सूचक शब्दों से बने स्थलों के नामों से भी जैनधर्म की व्यापकता तथा लोकप्रियता का परिचय मिलता है। कई स्थलों के नाम के अंत में 'पळिक' (जैन-मठ-उपाश्रय) शब्द पाया जाता है।

आदिकाल

जैन-परंपरा में कुंदकुंदाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह माना जाता है कि ये ई० पूर्व, या ई० सन् की पहली शती में हुए थे। ये तमिल प्रदेश के निवासी थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों का दिगंबर-परंपरा में विशेष बहुमान है। हिन्दूधर्म में जो स्थान 'प्रस्थानत्रयी' अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का है, वही स्थान दिगम्बर जैन-परंपरा में कुंदकुंदाचार्य के 'प्राभृतत्रय' अर्थात् पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार और समयसार का है। अनुसंधान से पता चलता है कि कुंदकुंदाचार्य के शिष्य 'बलाक पिच्छ' कहलाते थे। इनके बाद गुणनंदी का नाम लिया जाता है। ईसवी दूसरी शती में आचार्य समन्तभद्र ने कांचीनरेश को बाद में पराजित किया। फलस्वरूप कांचीनरेश संन्यास ग्रहण कर शिवकोटि आचार्य के नाम से प्रख्यात हुए। यही जैनों का आदिकाल था, जिसका तमिलदेश में अपना ऐतिहासिक महत्त्व था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कतिपय शोधकर्ताओं का मत है कि आचार्य अकलंकदेव ने कांचीनरेश हिमशीतल (ई० ७८८) के दरबार में बौद्ध भिक्षुओं को शास्त्रार्थ में हराया था। फिर उन्होंने राजा साहसतुंगन् की सभा में जाकर अपना परिचय दिया। उसका दूसरा नाम 'दंतिदुर्गन्' था। वहाँ कुछ समय तक रहने के बाद, आचार्य अकलंकदेव तमिलनाडु के तिरुप्पनम्पूर् में रहने लगे। इनके बाद क्रमशः, सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'हरिवंशपुराण' के रचयिता जिनसेन (प्रथम), वीरसेन, जिनसेन (द्वितीय) और इनके शिष्य गुणभद्र तमिलनाडु में आये। इनमें, आचार्य वीरसेन ने 'जयधवला टीका' नामक ग्रन्थ लिखना प्रारंभ किया, लेकिन इसको पूरा किया उनके मनीषी शिष्य आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने। इसी प्रकार आचार्य जिनसेन के महापुराण के अधूरे कार्य को उनके शिष्य गुणभद्र ने ई० ८९८ में 'उत्तरपुराणम्' नामक ग्रन्थ लिखकर पूरा किया। इनके बाद, तमिल के सुविख्यात पंच महाकाव्यों में तृतीय 'जीवकचिन्तामणि' के रचयिता तिरुत्तक्क देवर्, 'चूळामणि' (जैन महाकाव्य) के कवि तोलामोळि देवर् और गुणभद्र के शिष्य अर्थबली—तीनों उस समय के ख्यातिलब्ध जैनाचार्य थे।

कर्णाटक में यह दंतकथा है कि सुप्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञानसम्बन्धर् के साथ हुई तर्कगोष्ठी में आचार्य जिनसेन ने भी भाग लिया था। पर यह कथा निराधार प्रतीत होती है, क्योंकि तमिल ग्रन्थों में उस घटना का कोई प्रमाण नहीं मिलता। तिरुज्ञानसंबन्धर् को आचार्य जिनसेन के समकालीन मानने के कोई प्रमाण नहीं हैं। वास्तव में जैनधर्म का आदिकाल तिरुज्ञानसम्बन्धर् के समय में ही (ईसवी सातवीं शती) अंतिम चरण में पहुँच चुका था। आचार्य जिनसेन (द्वि०) का समय नवीं शताब्दी है।

कलभ्र

कर्णाटक के राज्य शासन को स्थिर करनेवाले जैनों का प्रभाव, 'करुनटर्' (कन्नड या कर्णट) माने जानेवाले कलभ्रों के शासन के साथ ही तमिलनाडु में फैला। इसी समय आचार्य वज्रनंदी ने मधुरै नगरी में एक जैनसंघ की स्थापना की थी। यह ई० पाँचवीं शती की घटना है। आचार्य देवसेन ने ई० ९३३ में रचित अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि वि० सं० ५२६ (ई० ४७०) में वज्रनंदी ने मधुरै में द्राविड़-संघ की स्थापना की। पूज्यपाद ने जिस द्राविड-गण (अंतर्विभाग) को देखा, वही वज्रनंदी के समय में विशाल संघ बना। सुप्रसिद्ध शैव संत अप्पर् के समय तक तिरुप्पातिरिप्पुलियूर्[1]

१. यह स्थल मद्रास शहर से करीब १२५ मील दक्षिण में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पाटलिपुरम्' के नाम से प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। वहाँ के जैन संघ के प्रमुख आचार्य सर्वनंदी ने ई० ४५८ में 'लोक विभागम्' नामक ग्रन्थ लिखा। उस समय कांची में सिंहवर्म का शासन था। इसका उल्लेख सर्वनंदी ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह काल जैन धर्म की दृष्टि से 'उज्ज्वल युग' रहा है।

वज्रनंदी का संघ

कुछ विद्वानों का मत है कि वज्रनंदी नवीं शती के थे और इस संघ के स्थापक थे आचार्य अर्थबली (Saletore—Mediaeval Jainism, p 233)। अपने मत के प्रमाण में उन्होंने जो शिलालेख उद्धृत किये (E. C. II--254 p. 109, 110: 258--p. 117); उनसे यही प्रकट होता है कि देवसंघ, नंदीसंघ, सिंहसंघ और सेनसंघ—इन चार विभागों में बँटकर ही जैनसंघ काम करता था। पर, तमिलनाडु के विद्याकेन्द्र मदुरै नगरी में तमिलभाषी जैनों के प्रभाव से जो 'द्राविडसंघ' दिनोंदिन प्रगति करता हुआ ख्याति पा रहा था, उसकी चर्चा तक उन शिलालेखों में नहीं मिलती। यह द्राविडसंघ आदिकाल की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। आचार्य देवसेन ने अपने ग्रन्थ 'दर्शनसार' में तो इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि ई० ४७० में वज्रनंदी ने मधुरै में 'द्राविडसंघ' की स्थापना की थी। कुछ लोगों की धारणा है कि अर्थबली ने द्राविडसंघ का कहीं उल्लेख नहीं किया है, अतः वह संघ अर्वाचीन हो सकता है। किंतु यह धारणा गलत है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर मानदेवसेन के काल-निर्णय में बाधा खड़ी हो सकती है और उनके प्रामाणिक ग्रन्थ की उपेक्षा होगी। शैवसंत तिरुज्ञानसम्बन्धर्, सुन्दरर् आदि कवियों के गीतों से यह पता चलता है कि द्राविडसंघ में देव, सेन, वीर, (सिंह), नंदी आदि नामवाले जैनाचार्य रहते थे। उन विद्वानों के भ्रम का कारण यही है कि जैनसंघ 'नंदीगण' के अन्तर्विभाग के रूप में एक द्राविडगण था, जिसका दूसरा नाम 'अरुंकलान्वयम्' (उत्तमकलाकेन्द्र) था। किन्तु 'द्राविडसंघ' उससे भिन्न था। इसके साथ कई तमिल ग्रन्थों और शिलालेखों में कुन्दकुन्द, समंतभद्र आदि आचार्यों का भी जिक्र हुआ है। ई० सातवीं शती के समाप्त होते-होते जैनधर्म का आदिकाल लुप्तप्राय हो गया। जैनों द्वारा स्थापित 'द्राविडसंघ' भी तमिलनाडु में विगतप्रभाव हो गया। अतएव कर्णाटक बड़ा प्रभावशाली जैन केन्द्र बना। तब तमिलनाडु से कई जैनाचार्य श्रवणबेळगोळ की ओर जाने लगे। इस अस्तोन्मुख स्थिति में द्राविडसंघ का नाम 'द्राविडगण' पड़ना सहज सम्भव था। वहाँ के आचार्य पुष्पसेन अपने नाम का निर्देश तमिल-रीति के अनुसार 'पुर्पचेनर्' ही करते थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इधर तमिलनाडु में अर्थबली के शिष्य 'भूतबली' पुष्पदंत और तमिल महाकाव्य जीवकचिन्तामणि तथा चूळामणि के रचयिता तिरुत्तक्कदेवर् और तोलामोळि देवर् आदि जैन साधु लोकविश्रुत थे, अतः जैन-धर्म की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इसी समय क्षीणकाय जैनसंघ का विभाग 'द्राविड-गण' 'द्राविडसंघ' के नाम से पुनः प्रसिद्ध हुआ। अज्ञात जैनाचार्य द्वारा रचित तमिल के 'यशोधर काव्यम्' का मूल आधार ग्रंथ आचार्य पुष्पदन्त की रचना ही माना जाता है। आचार्य पुष्पसेन के शिष्य गुणसेन और कनकसेन दोनों ई० ८९३ में धर्मपुरी में थे और यह भी माना जाता है कि वरगुण विक्रमादित्य के शासनकाल में आचार्य गुणसेन जीवित थे।

तमिलभाषी जैनाचार्य

चोळों के पूर्व

तिरुज्ञान सम्बन्धर् आदि शैव संतों के अथक प्रयास से तमिलनाडु में भले ही जैनधर्म का प्रभाव क्षीण हुआ हो, फिर भी यत्र-तत्र उसका असर दिखाई देता ही रहा। जैनाचार्यों की तमिल साहित्य सेवा धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ सुचारु ढंग से चल रही थी और 'जीवक-चिन्तामणि' आदि काव्यग्रन्थों का निर्माण हुआ।

इधर, उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले जैनाचार्यों का उल्लेख करेंगे।

'ईसवी तीसरी-चौथी शती में चन्द्रनंदी और इळैयभटारर् नामक दो जैन साधुओं ने संलेखना द्वारा देह का त्याग किया।[1] ईसवी आठवीं शती के अंत में राजा नंदिवोध के समय में आचार्य नागनंदी जीवित थे।[2] पाण्डिय (पाण्ड्य) नरेश मारन् चडैयन के शासन-काल में तिरुविरुन्तलै नामक स्थान में (दक्षिण पाण्डिय देश) अरुळाळत्तु और अच्चनंदी दोनों भट्टारर् (भट्टारक) रहते थे।[3] ये सम्भवतः उत्तरवर्ती अरुळाळ प्रान्त से दक्षिणी छोर तक गये होंगे। एक ऋग्वेदी से प्रशंसित मलयध्वज नामक जैनमुनि भी उस समय थे।[4]

शेंतलै-शिलालेखों में आरम्भवीर और गणसेन भट्टारक का उल्लेख है। अणुओं के समन्वय से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन 'आरम्भवाद' कहलाता है।

---

१. M. A. R. 1904, 288.

२. E. I. Vol. IV, p. 136.

३. A. R. I. E. 1916, p. 122.

४. पुदुकोट्टै शिलालेख सं० ९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह सिद्धान्त आर्हत मत में (जैनधर्म में) स्वीकृत है। अतः 'आरम्भवीर' का उल्लेख एक जैनाचार्य के रूप में हुआ है।

राजा सोमारन् जटैयन् के काल में जैनधर्म की प्रभावना करनेवाले भट्टारकों के जीवननिर्वाह के लिए की गयी व्यवस्था का पता कळुगुमलै (गुध्र-पर्वत) के शिलालेखों से चलता है।[1] ई० ८९३ के एक शिलालेख से इस प्रकार के धर्मप्रचारक विनयसेन सिद्धान्त भट्टारक तथा उनके शिष्य कनकसेन सिद्धान्त भट्टारक के विषय में जानकारी मिलती है।[2] इसी प्रकार दूसरे शिला-लेख से, राजा आदित्य के समकालीन गुणकीर्ति भट्टारक और उनके शिष्य कनकवीरक्कुरत्तियर् की जानकारी मिलती है।[3]

चोळों के काल में

पूर्वोक्त दोनों जैनाचार्य चोळ-शासन के काल के थे। चोळाधीश परान्त-कन्–१ के समय (ई० ९४५) के एक शिलालेख में जैनाचार्य विनभासुरगुरु और उनके शिष्य वर्धमान पेरिय अडिगळ् (परमाचार्य) का उल्लेख है।[4] सत्यवाक् नामक गंगनरेश ने वळिळगिरि पर एक मंदिर का निर्माण कराया। वहाँ कुछ श्रमणों की प्रस्तरमूर्तियाँ हैं। वहाँ के शिलालेखों द्वारा बालचन्दर भट्टारर्, गोवर्धन भट्टारर्, श्री बाणरायर् के गुरु भवनंदी (भवणनंदी) भट्टारर् और इनके शिष्य देवसेन भट्टारर् आदि की जानकारी मिलती है।[5] पूर्वोक्त आचार्य भवनंदी को ही अर्वाचीन तमिल व्याकरण-ग्रन्थ 'नन्नूल' के रचयिता कहा जाता है। किन्तु नन्नूल-लेखक भवनंदी राजा चीयगंगन् (सिंह गंग) के समकालीन थे और उन्होंने उसी नरेश के लिए नन्नूल-ग्रन्थ रचा था। पूर्वोक्त शिलालेख से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वे श्री बाणरायर् के गुरु थे।

मलैय कोयिल् (जैन मंदिर) में आचार्य गुणसेन रहते थे, यह बात पुदुक्कोट्टै शिलालेख–४ में उल्लिखित है। चित्तण्णवायिल् (पुदुक्कोट्टै के निकटवर्ती जैन गुफामंदिर) के प्राचीन शिलालेखों में 'तोळु कुन्रत्तु कडवुळन् (पूज्य शिखरवर्ती भगवान्-तीर्थंकर या जैनमुनि), नीलन् तिरुप्पूरणन्

---

१. S. I. I. Vol. V.

२. I. M. P. (Salem) 74.

३. S. I. I. Vol. III p. 92 एवं I. M. P. (Arkat) 744.

४. I. M. P. (North Arkat) 216.

५. E. I. Vol. IV. p. 140.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(श्रीपूर्ण), तिट्चै चरणन् (दीक्षाचरण ?), तिरुचात्तन्, श्री पूर्णचन्द्रन्, नियत्तक् करन् पट्टक्काळि आदि जैनाचार्यों के नाम दिये हुए हैं।

समणर मले

मधुरै के 'समणर मलै' (श्रमण गिरि) में ईसवी दसवीं-ग्यारहवीं सदियों के शिलालेख हैं। उनमें निम्नलिखित जैन-नाम मिलते हैं।[1]

१. कुरण्डि अष्ट उपवासी भट्टारकर्
२. इनके शिष्य-गुणसेनदेव
३. इनके शिष्य-कनकवीर पेरियडिगळ्
४. अष्ट उपवासी के दूसरे शिष्य-महानंदी पेरियार् (स्वामी)
५. कुरण्डि कनकनंदी भट्टारकर् (इन्हीं का नाम अभिनन्दन् भट्टारकर् भी है।)
६. गुणसेन देव के शिष्य-वर्धमान पंडितर्
७. इनके शिष्य-गुणसेन पेरियडिगळ्
८. गुणसेन देव चट्टन्
९. दैवबल देवन्
१०. अन्दलैयान्
११. अरैयं काविति संघनंदि
१२. श्री अच्चणंदी की माता गुणवती
१३. आच्चान् श्रीपालन्, और
१४. कनकनंदी।

कळुगु मले

कळुगु मलै (गृध्र पर्वत) प्राचीन जैन केन्द्र था। उत्तरकालीन शिलालेखों में जैनों के निम्न नाम मिलते हैं, जैसे—

१. गुणसागर भट्टारर् (इनके शिष्य थे, पेरॅयिर्कुडि शात्तन् देवन्।)
२. तिरुक्कोट्टाट्रु पादमूलत्तान्
३. कन्मन् पुट्पनंदी
४. मलै कुळत्तु श्रीवर्धमान पेरुमाणाक्कर् श्रीनंदी
५. तिरुक्कोट्टाट्रु उत्तनंदी गुरुवडिगळ्
६. उनके शिष्य-शांति सेनप् पॅरियार्
७. तिरु नरुं कुन्द्रम् बलदेव गुरुवडिगळ्

---

१. A. R. I. E. 1908/2, 3-30, 332; 1910/61-68.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. उनके शिष्य-कनकवीर अडिगळ्
९. पटिच्चमण भट्टारर्
१०. उनके शिष्य–भवणंदी पेरियार् (भवणनंदी स्वामी)
११. तिरु मलैयर् मॉनि (मुनि) भटारर्
१२. उनके शिष्य–दयापालप् पॅरियार्
१३. पुष्पनंदी भटारर्
१४. उनके शिष्य–पॅरुनन्द भटारर्
१५. अरिट्टनेमी भटारर् (अरिष्टनेमी भट्टारक) [१]
१६. तिरुक्कोट्टाट्रु विमलाचन्द्र गुरुवडिगळ्
१७. उनके शिष्य—शांतिसेन अडिगळ्

कर्णाटक के श्रवणबेळगोळ की तरह, तमिलनाडु के गृध्रगिरि और मदुरै के गिरि जैनधर्म के प्रधान केन्द्र थे।

अन्य स्थल

तिण्डिवनम् के वेलूर में जयसेन नामक जैनाचार्य थे[२]। तॉण्डूर् में वज्र इळम्पॅरुमानडिगळ् रहते थे।[३] तिरुमलै (उत्तर आर्काट जिला) में आचार्य परवादिमल्ल और इनके शिष्य अरिष्टनेमी आचार्य दोनों रहते थे। इनके साथ सिंहलवासी जैनों के नाम भी उपलब्ध होते हैं।[४]

दसवीं शती के एक शिलालेख में कोयिलूर् (दक्षिण आर्काट जिला) के कुरन्ति गुणवीर भट्टारर् का उल्लेख मिलता है[५]। राजराज चोळन् के समय (ई० ९८५–१०१४) में गुणवीर महामुनि ने पोळूर् तालुका के तिरुमलै पर एक 'कलिंगु' (बाँध का द्वार) की स्थापना की थी।[६]

सुन्दर पाण्डियन् के शासन-काल में, कनकचन्द्र पण्डित और इनके शिष्य धर्मदेवाचार्य दोनों जीवित थे (पुटुक्कोट्टै शिलालेख संख्या ४७४)। ग्यारहवीं शती के चोळनरेश राजेन्द्रन् से समकालीन एवं तमिल के सुप्रसिद्ध छन्दग्रन्थ 'याप्पॅरुकलक् कारिकै' और 'याप्परुकल वृत्ति' के रचयिता अमित सागरर् (या अमृतसागरर्) के विषय में शिलालेख से पर्याप्त जानकारी मिलती

१. S. I. I. Vol. V p. 121.
२. A. R. I. E. 1919/12, 41.
३. M. A. R. 1934-35 p. 83.
४. S. I. I. Vol. I p. 95-98 & p. 104. 105.
५. M. A. R. 1936-37, p. 68.
६. S. I. I. Vol. I p. 95.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। एक अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि विजयनगर-शासन-काल में (ई० चौदहवीं शती) तिरुप्परुत्ति कुंड्रम् में जैन पुराणग्रन्थ 'मेरुमन्थर पुराणम्' के रचयिता वामन मुनि और उनके शिष्य परवादिमल्ल दोनों विराजमान थे।[1]

उपर्युक्त शिलालेखों में एक ही नाम बार-बार आया है। सम्भवतया एक व्यक्ति का नाम उनमें दुहराया गया होगा और यह भी सम्भव है कि एक ही नाम के कई साधु भिन्न-भिन्न समय में हुए हों। इसके समुचित समाधान के लिए ग्रन्थकर्ता जैनचार्यों के नामों का वर्गीकरण एवं शोध अति आवश्यक है। जो हो, इतने मुनियों तथा आचार्यों के नाम और परिचय प्राप्त होने से स्पष्ट है कि जैनधर्म का तमिलनाडु में पर्याप्त प्रभाव था।

तोलकाप्पियम्

परिचय

तमिल भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है तोलकाप्पियम्। यह एक श्रेष्ठ व्याकरणग्रन्थ ही नहीं, प्रामाणिक लक्षणग्रन्थ भी है। व्याकरणग्रन्थों में तो अधिकतर शब्दों की व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, निरुक्ति आदि का बाहुल्य होता है; पर आचार्य तालकाप्पियर् ने, जिनके नाम पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है, न केवल शब्दों का, किन्तु अक्षरों तक का विशद् विश्लेषण किया है। और विशेषता यह है कि इन्होंने अपने ग्रन्थ में काव्य, छन्द, अलंकार, लक्षण आदि के विशद् वर्णन के साथ ही साथरस, ध्वनि, उक्तिवैचित्र्य, रीति (Convention), वाच्य, अर्थभेद आदि की विशिष्ट तमिल परम्परा का प्रामाणिक परिचय भी दिया है।

तोलकाप्पियर् का मत है कि आंतरिक संवेदन काम (तीसरा पुरुषार्थ) और बाह्य आचार धर्म तथा अर्थ काव्य या ग्रंथ के प्रधान ध्येय हैं। तोलकाप्पियर् के व्याकरण-सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी की तरह प्रत्याहार के रूप में न होकर, ऐन्द्र व्याकरण की तरह अर्थवत् शब्दान्त (वाक्यविन्यस्त) हैं। इसी कारण, प्राचीन कविवरों ने उसकी प्रशंसा में कहा—'ऐन्दिरम् निरैन्द तोलकाप्पियन् (ऐन्द्र व्याकरणज्ञान से पूर्ण पंडितवर तोलकाप्पियर्)'

पडिमै (तपश्चर्या)

कुछ विद्वानों का मत है कि तोलकाप्पियर् जैन थे। उनके ग्रन्थ 'तोल काप्पियम्' के 'शिरप्पु पायिरम्' (परिचायक अभिनन्दन-पद्य) में कविवर पणम्बारनार ने ग्रन्थकर्ता की प्रशंसा में 'पडियोन्' शब्द प्रयुक्त किया है। 'पडिमै' शब्द का अर्थ जैन-परम्परा के मुनियों का पवित्र आचरण या तपस्या

---

१. A. R. I. E. 1923/97 D.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जैसे कायक्लेशपूर्वक तपस्या करनेवाले तपस्वियों के लिए साधारणतः 'श्रमण' शब्द का प्रयोग होता हैं, उसी प्रकार 'पडिमैयोन्' या 'पडियोन्' (तपस्वी) शब्द का प्रयोग केवल जैन मुनियों के लिए हुआ है, ऐसी बात नहीं। सुप्रसिद्ध शैव साहित्य 'तेवारम्' में, तपश्चर्या और व्रतानुष्ठान के अर्थ में 'पडिमम्' (पडिमै) शब्द का प्रयोग मिलता है। उस शब्द का दूसरा अर्थ है मूर्ति, विग्रह या शरीर। स्वयं तोलकाप्पियर् ने भी उस अर्थ में 'पडिमै' शब्द का प्रयोग किया है।

अतः 'पडिमै' शब्द का अर्थ साधारणतः स्वरूप या मूर्ति मानना उचित होगा। आचार्य तोलकाप्पियर् ने ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णवालों के पवित्राचरण के अर्थ में भी 'पडिमै' शब्द का प्रयोग किया है। उन्हीं का यह प्रयोग है,— 'एनोर् पडिमैयम्' (ब्राह्मण-क्षत्रियादि का पवित्राचरण)। संघकालीन कवियों के पद्यसंग्रह 'पतिट्रु पत्तु' में एक हिन्दू राजा का वर्णन है 'निन् पडिमैयान्' अर्थात्, पवित्र आचरणवाला। इसी प्रकार, 'पडिमै' और 'पडियोन्' शब्दों के व्यापक अर्थ के लिए कई प्रमाण अन्य विद्वानों ने भी प्रस्तुत किये हैं। अतः तोलकाप्पियम् के 'शिरप्पु पायिरम्' के रचयिता पणम्बारनार् के 'पडिमैयोन्' शब्द-प्रयोग के आधार पर, आचार्य तोलकाप्पियर् को जैन सिद्ध करना कठिन है।

आररिवुयिर् (छह प्रकार के ज्ञानवाले जीव)

तोलकाप्पियर् को जैन सिद्ध करने के लिए दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि उन्होंने जैन सिद्धान्त के अनुसार छह प्रकार के ज्ञान भेद से जीवों का विभाजन किया था।

छह प्रकार के ज्ञानवाले जीवों का विभाजन इस प्रकार है—

१. स्पर्शज्ञानवाले जीव—पेड़, पौधे, घास आदि।

२. दो ज्ञानवाले—स्पर्शज्ञान के साथ जीभ द्वारा रसज्ञान पानेवाले जीव—सीप, कीड़ा, घोंघा आदि।

३. तीन ज्ञानवाले—पूर्वोक्त दोनों ज्ञानों के साथ गंधज्ञानवाले जीव—चींटी, दीमक आदि।

४. चार ज्ञानवाले—उन तीनों के साथ रूपज्ञान (देखने की शक्ति) वाले जीव—भ्रमर आदि।

५. पाँच ज्ञानवाले—उन चार ज्ञानों के साथ श्रवणज्ञानवाले जीव—छोटे-बड़े पशु-पक्षी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. छह ज्ञानवाले—उन पाँचों ज्ञानों के अलावा, चिंतन और अभिव्यंजना की शक्तिवाले 'पकुत्तरिवु' (विवेचनज्ञान) होने से, मनुष्य 'आररिवुयिर्' (छह ज्ञानवाले) होते हैं।

आचार्य तोलकाप्पियर् का यह विभाजन जैन सिद्धान्त के अनुसार बन पड़ा है। इसीलिए उन्हें जैन सिद्ध करनेवाला तर्क पेश किया जाता है। किंतु, जैन सिद्धांत के अनुसार, पाँच ज्ञानवाले जीवों की श्रेणी में ही मनुष्य, जानवर आदि आ जाते हैं फिर भी संवेदन तथा विवेचन का ज्ञान मनुष्य की भाँति जानवरों को नहीं है। तोलकाप्पियर् ने अपने विभाजन में 'आररिवुयिर्' नामक छठाँ भेद करके मानो जैन पद्धति को विशद् किया है।

तमिल में जीवों के विभाजन की अपनी विशिष्ट रीति है। वस्तुओं के दो विभाग हैं—१. उयर् तिणै (ऊँचा कुल) और २. अह्रिणै (उससे भिन्न कुल)। छह प्रकार के ज्ञानवाले मनुष्य आदि 'ऊँचे कुल' में गिने जाते हैं और छह से कम ज्ञानवाले मनुष्यों तथा अन्य जीवों को 'उससे भिन्न (निम्न) कुल' में गिना जाता है। इस आधारभूत सिद्धान्त का ही आचार्य तोलकाप्पियर् ने अपने ग्रन्थ में समर्थन किया है। इस अध्याय का नाम उन्होंने 'मरपियल्' (रीतिप्रकरण) रखा है। अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तोलकाप्पियर् ने तमिल की विशिष्ट रीति का उल्लेख किया, न कि अपने या किसी के सिद्धान्त का समर्थन किया। यहाँ सिद्धान्त-समर्थन या मत-प्रचार की कोई नौबत ही नहीं आयी; वह भी, एक प्रामाणिक व्याकरण-रीति-ग्रन्थ में साम्प्रदायिक सिद्धान्त का समावेश, जहाँ तक तोलकाप्पियर् की बात है, कदापि सम्भव नहीं लगता। उनका उद्देश्य तो तमिल की रीति-नीति का प्रामाणिक परिचय देना था। उन्होंने इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी उल्लेख किया। अतः यह कहना क्या उचित होगा कि तोलकाप्पियर् वैदिक मत के अनुयायी थे? अन्ततोगत्वा, हमें इस निर्णय पर पहुँचने में कोई आपत्ति नहीं कि तोलकाप्पियर् ने निर्लिप्त तथा तटस्थ भाव से तत्कालीन रीति-नीति का प्रामाणिक परिचय दिया, और यह भी सम्भव है कि उनको जैन धर्म की जानकारी थी, तथा उनके समय में जैन धर्म तमिलनाडु में फैल चुका था।

तोलकाप्पियर् के 'आररिवुयिर्' (षड्ज्ञानी जीव) का विभाजन ग्रहण कर, उनको 'वैदिक धर्मानुयायी' माननेवाले भी कम नहीं हैं। उनकी दलील है—'जैन विद्वान् जीवों को पाँच ज्ञानभेदों के आधार पर पाँच विभागों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभाजित करते हैं। इसका आधार प्रसिद्ध जैनाचार्य भवणंदी (भवणनंदी) के लोकप्रिय तमिल व्याकरण ग्रन्थ 'नन्नूल्' में मिलता है। यद्यपि जैनों ने 'ऐयरिवुयिर्' (पंचज्ञानी जीव) को चिन्तनशील और अचिन्तनशील नामक दो भागों में विभक्त किया था, फिर भी उन्होंने 'आररिवुयिर्' नामक छठां विभाग नहीं माना। पंचेन्द्रियों के साथ मन को भी भिन्न इन्द्रिय मानने की परम्परा हिन्दूधर्म में ही पायी जाती है। इसका आधार गीता आदि में मिलता है। अतः वैदिक धर्म के इस सिद्धान्त का समर्थन ही 'तोलकाप्पियम्' ग्रन्थ में हुआ है। इसका उद्धरण तथा अनुमोदन तमिल वेद 'तिरुक्कुरळ्' के सुविख्यात व्याख्याकार श्री परिमेळगर् ने तथा संघकालीन ग्रन्थ कलित्तॉकै के व्याख्याता श्री नच्चिनार्क्किनियर् ने अपनी व्याख्या में किया है।

किन्तु यह दलील भी एकतरफा ही मानी जायगी। भले ही जैनों ने 'षड्ज्ञानी जीव' का विभाजन न किया हो, फिर भी वे पंचज्ञानी जीव में ही 'संज्ञी' और 'असंज्ञी' के भेद मानकर, पूर्वोक्त नये विभाजन का समन्वय कर चुके थे। जैनग्रन्थ 'अष्ट पदार्थसार' में मन को प्राण की कोटि में रखा गया है। अतः उपर्युक्त जीव-विभाजन को किसी मुख्य मत या सिद्धान्त के दायरे में न बैठाकर, 'विशिष्ट तमिल-रीति' मान लेना समुचित होगा।

कर्मबन्ध से विमुक्त

तोलकाप्पियर् ने अपने ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' के 'मरपियल्' (रीति-प्रकरण) में, मूल ग्रन्थ तथा अनुकरण-ग्रन्थ के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए, मूल ग्रन्थ के बारे में लिखा था 'विनैयिन् नींगि विळंगिय-अरिवन्' (अर्थात्, कर्मबंध से विमुक्त एवं उज्ज्वल ज्ञानवाले)। इस पद की अपने ढंग से व्याख्या करते हुए कुछ विद्वान् कहते हैं, 'पहले कर्मबंध में फँसकर, फिर उससे विमुक्त होनेवाले तथा सत्यज्ञान (केवल ज्ञान) वाले अर्हत् भगवान् का ही उल्लेख इस वचन में किया गया है। अतः तोलकाप्पियर् जैन माने जाते हैं।'

जैनेतर विद्वानों का कहना है कि 'विनैयिन् नींगिय' (कर्मबंध से विमुक्त) का अर्थ है, स्वभाव से ही स्वयं कर्मबंध से विमुक्त तथा सत्यज्ञानी भगवान् सर्वेश्वर।

इस प्रकार विद्वान् लोग अपने-अपने मत-सिद्धांत के अनुसार इस वचन का अर्थ लगाते हैं। ऐसे अर्थ-विन्यास की कोई सीमा नहीं है। तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तमिलभाषी जनता के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्त की प्रभावशाली छाप—जैनधर्म की विकसित परम्परा की प्रतिच्छाया—आचार्य तोलकाप्पियर् के रीतिग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' में स्पष्ट दिखाई देती है।

'न'-कारांत वर्णावली :

तमिल की वर्णावली 'अ' से शुरू होकर 'न' पर समाप्त होती है।[1] तोलकाप्पियर् ने अपने ग्रन्थ में एक सूत्र द्वारा वर्ण-क्रम निर्धारित किया है। व्याख्याताओं ने उस क्रम के उद्देश्य के बारे में विभिन्न युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

इळंपूरणर् नामक व्याख्याकार ने लिखा है, 'न' अक्षर पुंलिंगद्योतक है। (उदा० राजन्, रामन् आदि शब्दों का अन्त्याक्षर 'न्' पुंलिंग रूप में आता है।) दिगम्बर-मान्यता के अनुसार स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता। तपस्या करके स्त्रीलिंग को छेदकर पुनः पुरुषरूप में जन्म लेने के बाद ही मोक्षलाभ कर सकती हैं। दूसरी ओर श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार स्त्री को मोक्ष हो सकता है। श्वेताम्बर-मान्यता है कि 'मल्लि' नामक तीर्थंकर स्त्री थी। दिगम्बरों का कहना है कि मल्लीदेवी स्त्री पर्याय में तपस्या करने के बाद अगले जन्म में पुरुष पर्याय धारण करने पर वे तीर्थंकर मल्लिनाथ कहलाये और मोक्ष प्राप्त किया। अतः 'न'-कार को तमिल वर्णमाला का अन्त्याक्षर बनाने का उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह अक्षर मोक्ष प्राप्ति के योग्य पुरुषत्व का द्योतक है। इसलिए उसकी विशेषता तथा महत्ता दिखाने के लिए तोलकाप्पियर् ने उस अक्षर को अंत में रखा है।"

इस बात का उल्लेख वैदिक धर्म के पंडित श्री नच्चिनार्किनियर् ने भी अपनी व्याख्या में किया है। 'पंडित श्री नच्चिनार्किनयर् कुछ काल तक जैन धर्मानुयायी रहने के बाद, वैदिकधर्म में वापस आये'—इस अनुश्रुति की पुष्टि शायद उक्त उल्लेख से ही होती है। किन्तु, व्याख्याता की दलील को मानकर आचार्य तोलकाप्पियर् को जैन सिद्ध करना उचित नहीं लगता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि 'न'-कारान्त वर्णमाला की व्यवस्था जैनाचार्यों की देन थी। मगर, इसके प्रामाणिक आधार की आवश्यकता है। विद्वानों को इस विषय में खोज करना चाहिए।

---

१. यह 'न' अक्षर 'त'वर्ग का अन्तिम अक्षर नहीं है। यह तमिल का विशिष्ट अक्षर है। उच्चारण 'न' और 'ण' के बीच का होता है। यह अधिकतर पदान्त में आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मात्तिरै' (मात्रा)

तोलकाप्पियर् ने मात्रा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि चुटकी बजाने या पलक मारने की अवधि को 'मात्रा' कहते हैं भट्टाकलंक नामक जैन पंडित ने अपने कन्नड व्याकरणग्रन्थ में 'मात्रा' की यही व्याख्या की है और प्रमाण में एक प्राचीन संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किया है। उस श्लोक के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं। जैनाचार्य अपने लक्षणग्रन्थ में मूल तथा आधार के रूप में केवल अपने पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की ही उक्तियों को उद्धृत करेंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। उनके ग्रन्थों में जैनेतर आचार्यों के ग्रन्थों के कई उद्धरण भी सहज-प्राप्य हैं। प्रत्युत, वाग्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'मात्रा' पर पर्याप्त कार्य किया है। अतः तोलकाप्पियर् ने मात्रा की जो व्याख्या की वह सर्वसम्मत अनुसंधान का ही परिणाम है। अतः इस आधार पर उनके धर्म का निर्णय करना युक्तिसंगत नहीं होगा।

'पेरॅण्कळ' (बहुसंख्याएँ)

'तोलकाप्पियर् ने अपने ग्रन्थ के 'एळुत्तधिकारम्' (अक्षराधिकार) में बहुसंख्यावाचक 'तामरै' (कमल), 'वळळम्' (बाढ़), 'आम्बल्' (कुमुद) आदि संज्ञाओं का विवेचन किया है। संस्कृत में भी उस प्रकार-बहुसंख्याके वाचक शब्द हैं, फिर भी 'कुमुद' शब्द केवल आचार्य उमास्वातिरचित 'स्वोपज्ञभाष्यम्' में प्रयुक्त हुआ है। उमास्वाति जैन आचार्य थे, इसलिए तोलकाप्पियर् ने भी जैन होने के कारण उमास्वाति का अनुकरण कर 'कुमुद' शब्द अपनाया।'—यह कुछ विद्वानों का अभिमत है। किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि तोलकाप्पियर् ने न तो किसी संस्कृत व्याकरण का समर्थन किया, न जैन गणितशास्त्र का ही प्रचार किया। उन्होंने केवल अपने समय में प्रचलित भाषापद्धति और उसकी व्यावहारिक रीति का ही विवेचन किया। उपर्युक्त बहुसंख्यावाचक शब्द उनके समय से ही लोक-व्यवहार में प्रचलित हो चुके थे। यह माना जा सकता है कि जैनाचार्यों ने तमिल में लिखना उस समय प्रारम्भ कर दिया और उन्हींके द्वारा वे शब्द जनसाधारण के व्यवहार में आ गये होंगे।

'पण्णत्ति' (एक काव्य-विशेष)

तमिल काव्य-विशेष 'पण्णत्ति' की चर्चा तोलकाप्पियर् ने की है। कुछ विद्वानों का मत है कि तोलकाप्पियर् ने प्राकृत भाषा में रचित जैन-छन्द शास्त्र के आधार पर ही उक्त पण्णत्ति का विवेचन किया। किन्तु यह कहना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्यादा उचित होगा कि तोलकाप्पियर् के काल में जैनाचार्यों ने तमिल में ही छंदशास्त्रविषयक ग्रंथों की रचना की, जिनका प्रचार विद्वन्मण्डली में हुआ। अतः इस कारण से तोलकाप्पियर् को जैन नहीं माना जा सकता। उन्होंने केवल प्रचलित रीति का उल्लेख अपनी रचना में किया। जैनशास्त्रज्ञों अथवा व्याख्याकारों ने 'पण्णत्ति' की व्याख्या करते समय किसी भी मूल जैन-ग्रन्थ को आधार रूप में उद्धृत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, तोलकाप्पियर् ने 'पण्णत्ति' को पहेली-कथा का अंग बताया, जैन छन्दशास्त्र के अनुसार केवल छंद-ग्रन्थ नहीं कहा।

तोलकाप्पियर् के विषय में व्याख्याकार तेय्वच्चिलैयार् ने अपनी टीका में कहा—'इन् नूल् शॅय्दान् वैदिक मुनिवन् (इस ग्रन्थ तोलकाप्पियम् के रचयिता वैदिक मुनि थे)।'[1]

तोलकाप्पियर् ने आकाश को पंचमहाभूतों में से एक माना। उन्हीं का सूत्र है—

"निलन्तो नीर्वळि विशुम्पोडैन्दुम्
कलन्द मयक्कम् उलकमादलिन्"

—मरपियल्–८९

अर्थात्, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश इन पाँचों भूतों का समूह ही जगत् है।

'तोलकाप्पियर् पंच भूतों की मान्यतावाले वैदिक मत के ही अनुयायी थे। जैनाचार्य यद्यपि आकाश का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तथापि वे उसे पंचभूतों के अन्तर्गत नहीं मानते। अतः उन्हें जैन मानने का पर्याप्त प्रमाण नहीं।' यह है दूसरे पक्ष का तर्क। उल्लेख-निर्देश की बातें लेकर किसी रचयिता के अभिमत या धर्म का निर्णय करना उचित नहीं। तोलकाप्पियर् ने एक स्थान पर दुर्गा की स्तुति की है, तो दूसरी जगह विष्णु की वन्दना की है और वेद-वैदिक, ऊँच-नीच आदि की भी चर्चा की है। इन सब तथ्यों से यह पता चलता है कि उनके समय में ही वैदिक तथा जैन दोनों धर्मों का प्रभाव लोक-जीवन पर था। जैनाचार्य नार् कविराज नम्बी आदि ने तमिल के आचार-विचार पर लिखी गई अपनी पुस्तकों में निष्पक्ष भाव से दोनों धर्मों के प्रभाव का वर्णन किया है।

---

१. देखिए, 'कालम् उलगम्···' नामक सूत्र की टीका (तोलकाप्पियम्)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः तोलकाप्पियर् को किसी विशिष्ट धर्म या सम्प्रदाय का सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ ही प्रतीत होता है। वे शुद्ध विद्योपासक थे और उनकी दृष्टि में केवल तमिल भाषा थी, तमिल का साहित्य तथा आचार-विचार थे। अतः वे तटस्थ भाव से जहाँ जो उपादेय विषय मिलता था, उसे अपनाते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने लक्षणग्रंथ तोलकाप्पियम् के आरम्भ में मंगलाचरण ही नहीं किया। इसीलिए सब धर्मवाले उन्हें अपने धर्म का अनुयायी सिद्ध करना चाहते हैं।

तमिल व्याकरण का विकास

कहना चाहिए कि वैदिक, जैन तथा बौद्ध पण्डितों के तुलनात्मक भाषा-ज्ञान के प्रभाव से तमिल व्याकरण का पर्याप्त विकास हुआ है। उन सबकी अपार विद्वत्ता तथा संस्कृत आदि अन्य समृद्ध भाषाओं का मार्मिक ज्ञान—यह सब तमिल व्याकरण के विकास के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुए। उनकी यह विशेषता थी कि उन्होंने दूसरी भाषा के व्याकरण के नियमों को तमिल में बलात् घुसेड़ा नहीं; प्रत्युत, तमिल की अपनी विशिष्ट रीति-नीति तथा व्याकरण पद्धति का प्रामाणिकता पूर्वक पालन किया। इसे उनकी आदर्श सेवा कहा जा सकता है।

तोलकाप्पियर् के समय में नाटकीय संवाद जैसे फुटकर पद्य अधिक प्रमाण में प्रचलित थे। उनका संकलन कर, 'अकम्' (आत्मगत) तथा 'पुरम्' (बहिर्गत) की श्रेणी में उन्हें विभाजित किया गया। यह तत्त्व-चिंतन के आधार पर होनेवाली पद्य रचना के विकास का परिचायक है। जो सबके लिए साधारण जीवनतत्त्व, संवेदन (प्रेम आदि), उत्कर्ष (सदाचारमूलक) आदि बातों को अभिव्यक्त करता हो, उसे 'अकम्' (आत्मगत पद्य) कहते हैं। जो किसी निर्दिष्ट चरितनायक की अनुभूति या उसके आचरण का वर्णन करता हो, उसे 'पुरम्' (बहिर्गत या व्यक्तिगत पद्य) कहते हैं। यह विभाजन वैदिक तथा जैन धर्म के प्रसार की देन मालूम होता है। लक्ष्य (साहित्य) ग्रंथों के उपयुक्त लक्षणग्रन्थ प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं लोगों को है। उनका अनुभव तथा महत्वपूर्ण सहयोग तमिल के विकास के लिए भी मुख्य साधन एवं संबल साबित हुआ।

पद्यरचना

साहित्य-सामान्य के लिए तोलकाप्पियम् में 'चेय्युळ्' (पद्य) का नाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आया है और लक्षण, रीति तथा व्याकरण ग्रंथों को 'नूल्' (सूत्र) शब्द से निर्दिष्ट किया है। जैसे पर्वत को भी छोटा दर्पण प्रतिच्छाया द्वारा दिखा देता है, वैसे ही छोटा सूत्र बड़ी दुरूह बातों को भी व्यक्त कर देता है। पद्य-गद्य का विभाजन तथा प्रचलन उस समय था। पद्यों के बीचोबीच गद्य प्रयुक्त किया गया, जैसे चम्पू-काव्य में होता है। सम्पूर्ण गद्यग्रंथ भी उस समय के पाये जाते हैं। उन गद्य-ग्रंथों में अधिकांश पंचतंत्र—जैसे नैतिक इति-वृत्त, पशु-पक्षियों के मुँह से व्यक्त कराये गये, नीति-उपदेश एवं उपहास-व्यंग्य, उपमा-दृष्टान्त आदि अलंकार द्वारा वर्णित पहेली-बुझौवल, जन-जीवन की झाँकी-भरी लोकोक्तियाँ, मुहावरे और मंत्रवाक्य—ये ही थे। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे वाक्योंवाले ग्रंथ, छन्दों के उदाहरणवाले पद्य, गद्यपद्यात्मक प्राचीन कथाएँ, शृंखलाबद्ध लंबी पद्यरचना जिसमें ऊँचे आदर्श बताये जाते हैं, उद्बोधक नीति कथाएँ जो देहाती एवं देशी भाषाओं के मिश्रित रूप में रची गयी हैं, सरस लोकगीत और गीति-नाटक—यह सब प्रकार भी तोलकाप्पियर् के समय में प्रचलित थे। इनमें जैनधर्म की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

तोलकाप्पियम् और जैन प्रभाव

यद्यपि तोलकाप्पियर् को जैनाचार्य सिद्ध करने का कोई उपयुक्त या ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथापि उनके ग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' से यह पता अवश्य चलता है कि तमिल भाषा तथा साहित्य के विकास में जैनधर्म का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। जैनधर्म को तमिलनाडु में जनमंगलपोषक बनने का गौरव इसलिए प्राप्त हो सका कि तत्कालीन जैन साधुओं तथा आचार्यों ने बड़ी तत्परता एवं निःस्वार्थ भाव से पवित्र लोकसेवा की। उनके शुद्धाचरण और प्रकाण्ड पाण्डित्य ने भी जनसाधारण को आकृष्ट किया था। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और बुद्धवादी मुनि की जीवनियों से उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रकट है और जैनाचार्यों के धर्मप्रचार की यह भी विशेषता रही कि वे राजा-रंक का भेद नहीं मानते थे। उनका कार्यक्षेत्र जितना विशाल था, उतना ही पवित्र तथा प्रेरणादायक था उनका उदार भाव। मुख्यतः वे उस ही प्रदेश की व्यावहारिक भाषा पर अधिकार प्राप्त कर, उसके द्वारा ही अपने धर्म का प्रचार करते थे। इसी कारण, अन्य धर्म की अपेक्षा जैनधर्म बहुत शीघ्र ही अतिशय वेग से तमिलनाडु में पामर से पंडित तक फैल गया।

तोलकाप्पियम् का रचना-काल क्या था, इसका निर्णय करना कठिन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

.CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसमें बताये गये कई नियम संघकालीन साहित्य में ही लुप्त हो गये। उदाहरणतः, उपमानिर्देशक प्रत्यय, रीतिप्रकरण की विशिष्ट विधियाँ, 'च'-कार के वाक्यारम्भ में न आने की विधि, 'चेल्' (जाओ), 'वा' (आओ) के विशिष्ट प्रयोग—यह सब अर्वाचीन संघकाल में, जो तीसरे संघ के नाम से प्रसिद्ध था (ई० पू० २ शती से ई० ४ शती तक), व्यवहारलुप्त हो गये। इसलिए उससे भी पूर्ववर्ती साहित्य के आधार पर ही तोलकाप्पियर ने विधि-नियमों का निर्द्धारण किया होगा। अतः उनको ई० पूर्व दूसरी शती के पूर्व का मानना उचित होगा।

तोलकाप्पियर ग्रंथ को 'ऐन्दिरम् निरैन्द तोलकाप्पियम्' (ऐन्द्र व्याकरण के प्रभाव से पूर्ण तोलकाप्पियम् ग्रन्थ) कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ऐन्द्र व्याकरण के समय में तोलकाप्पियर रहे होंगे। पाणिनि के बाद ऐन्द्र व्याकरण का प्रचलन नहीं रहा।

इधर कुछ वैदिक विद्वान् पाणिनि का मार्गदर्शक ग्रन्थ ऐन्द्र व्याकरण ही मानते हैं। इसका उल्लेख प्रसिद्ध शैवसन्त अप्पर ने इस प्रकार किया है—'इंदिरत्तै इनिदाक ईन्दार्' (इन्द्र व्याकरण को सुन्दर ढंग से तोलकाप्पियर ने प्रस्तुत किया)।'

जैन विद्वानों का मत है कि 'ऐन्द्र' शब्द जैनाचार्य देवनंदी के, जिनका अपरनाम पूज्यपाद था, 'जैनेन्द्र व्याकरण' का परिचायक है और तोलकाप्पियर ने इसी जैनेन्द्र व्याकरण के आधार पर अपने ग्रंथ की रचना की है। ऐसा मानने पर तोलकाप्पियर का काल-निर्णय करने में बाधा खड़ी हो जाती है। अतः 'ऐन्द्र' शब्द से पाणिनि के पूर्ववर्ती ऐन्द्र व्याकरण मानना ही समुचित प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि पहले विद्वानों द्वारा उपेक्षित ऐन्द्र व्याकरण को जैनाचार्यों द्वारा समादर मिलने तथा आचार्य पूज्यपाद के नये व्याकरण के कारण विद्वज्जनानुमोदन प्राप्त हुआ हो।

चार प्रकार के शब्द

कुछ विद्वानों का मत है कि यास्क ने शब्द के जो चार विभाग नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में किये उन्हीं को तोलकाप्पियर ने 'पेयर्', 'विनै', 'इडै चोल्' और 'उरि चोल्' के नाम से अंगीकार किया। इडै चोल का अर्थ सम्बन्ध सूचक (conjunction) और उरि चोल् का अर्थ विशेषण (attributive) है। अतः इन्हें यास्क के अनुसार उपसर्ग और निपात बताना उचित नहीं होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि 'पाणिनि के सूत्र 'सुप्तिङन्तम् पदम्' का अनुवाद तोलकाप्पियर ने पेयर् (संज्ञा) और विनै (क्रिया) के रूप में किया है।' संज्ञा और क्रिया का विभाजन सब भाषाओं में सामान्य बात है। अतः पाणिनि और पतंजलि के मंतव्यों का निर्देश तोलकाप्पियम् में यत्र-तत्र होने से ही, उस ग्रंथ की मौलिकता पर संदेह कदापि नहीं किया जा सकता।

इलक्कणम्

'इलक्कणम्' शब्द तमिल में व्याकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द 'लक्षण' का अपभ्रंश मालूम होता है। वररुचि और पतञ्जलि दोनों ने अपने ग्रंथों में लक्षण शब्द का प्रयोग व्याकरण के अर्थ में किया है। इसलिए उनके समय के पूर्व से ही 'लक्षण' शब्द का प्रचलन रहा होगा। तोलकाप्पियम् के सूत्रों में वररुचि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मत का अनुकरण दिखाई देता है; अतः इस ग्रंथ को वररुचि के समय से पहले का मानना उचित होगा।

तोलकाप्पियम् के 'आंगवै आॅरुपालाक···' वाले सूत्र में बत्तीस (३२) व्यभिचारी भावों का उल्लेख है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में तैंतीस (३३) व्यभिचारी भाव निर्दिष्ट हैं। काव्यप्रकाश में भी ३३ ही व्यभिचारी भाव कहे गये हैं। इसी प्रकार, 'मेय्प्पाडु' (रस) के आठ भेद तोलकाप्पियम् में बताये गये हैं, जब कि संस्कृत ग्रंथों में नव रसों का विधान हुआ है। अवस्था या दशा के विषय में भी थोड़ा मतभेद दिखाई देता है। इन सब तथ्यों से, यह अनुमान लगाना उचित होगा कि आचार्य भरत के पूर्व ही यह मतभेद चल पड़ा था, जो तत्कालीन कुछ विद्वानों में समादृत भी था। इस क्रम मे, तोलकाप्पियर को जो अंश जंचा, उसे अपना लिया।

भरतमुनि ने सप्त समृद्ध भाषाओं में एक का नाम 'दाक्षिणात्या' बताया हैं। यह निश्चय ही तमिल भाषा होनी चाहिए। क्योंकि, तमिल में नाट्यधर्म, लोकधर्म, रस, छंद, राग तथा अभिनय आदि के बारे में प्राचीन काल से स्वतंत्र अनुसंधान होता आया था। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर ही आचार्य भरत ने तमिल का उल्लेख किया।

प्राचीन काल में अनुसंधानपूर्वक साहित्य में जो निष्कर्ष या तथ्य सामने आये उनमें से अनेक तोलकाप्पियम् में पाये जाते हैं, जब कि उनका उल्लेख तब अन्यत्र अनुपलब्ध है। उदाहरण के लिए 'इलक्कणम्' (लक्षण) शब्द व्याकरण के अर्थ में पहले प्रयुक्त हुआ था; पर कालांतर में उसका अलंकार में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थान्तर हो गया। उसका मूल स्वरूप तोलकाप्पियम् में अब भी सुरक्षित है। इसी प्रकार 'चेय्युळ्' (पद्य) शब्द का प्रचलन प्राचीन काल में था। 'चेय्युळ्' का व्युत्पत्ति परक अर्थ है, जो किया जाता है, वह। इसी का समानार्थक 'क्रिया' शब्द प्राचीन ग्रंथ 'ललितविस्तर' में, पद्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ध्वनि के बारे में कई प्राचीन निष्कर्ष तथा अनुसंधान तोलकाप्पियम् के 'इरैच्चि', 'उळ्ळुरै' नामक अध्यायों में पाये जाते हैं।

संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों के ठीक-ठीक कालनिर्णय के अभाव में तोलकाप्पियम् में उल्लिखित तथ्यों के बारे में जिनके मूल स्रोत संस्कृत ग्रंथ हैं, निष्कर्ष निकालना कठिन है। कुछ प्रामाणिक शोधों से, लोग इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि ई० दूसरी शती के काव्यग्रंथों से, जो अन्तिम संघकालीन माने जाते हैं, तोलकाप्पियम् पूर्ववर्ती ग्रंथ है। अन्तिम संघ के पूर्व भयंकर समुद्रप्लावन हुआ। इसका काल सिंहल के 'महावंश' में ई० पू० १४५ कहा गया है। उस समय पाण्डिय देश की कुमरि नदी समुद्रप्लावन से नष्ट हो गयी। पांडियनरेश निलन्तरु तिरुविर् पांडियन के शासन-काल में कुमरि नदी की चर्चा मिलती है। उस राजा ने ही तोलकाप्पियम् का प्रकाशन कराया। अर्थात् समुद्रप्लावन के पूर्व ही तोलकाप्पियम् की रचना हो गयी थी, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अंतिम संघ काल के पहले ही इस ग्रंथ का प्रचार हो गया था।

संघकालीन ग्रन्थ

तोलकाप्पियम् प्राचीनतम लक्षण ग्रंथ है। अतः उससे पूर्व भी पर्याप्त लक्षण ग्रंथ होंगे। वे ही संघकालीन ग्रन्थ हैं। 'एट्टुत्तॉकै' (आठ लघु ग्रन्थों का संग्रह), 'पत्तु पाट्टु' (दस गाथाएं) आदि संग्रह संघकालीन ग्रन्थ हैं। ये फुटकर रचनाओं तथा कविताओं के संग्रह हैं। संघकालीन विद्वानों ने विद्वत्-संघ स्थापित कर तमिल की श्रीवृद्धि की। भाषा तथा साहित्य पर कई पहलुओं से शोध-कार्य उन्होंने किया।

साहित्यिक उल्लेखों तथा अनुश्रुतियों से पता चलता है कि तमिल विद्वानों के तीन संघ थे। पहला संघ दक्षिण मदुरै में था, जो हिन्दमहासार के गर्भ में विलीन हो चुका। दूसरा संघ कपाटपुरम् में था। इस नगर का वर्णन वाल्मीकि रामायण के सुंदर कांड में मिलता है। यह नगर भी समुद्रप्लावन से विनष्ट हो गया। तीसरा संघ वर्तमान मदुरै नगर में था। प्रथम और द्वितीय संघों का समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृतपुराण काल कहा जा सकता है। ऐसी अनुश्रुति है कि तोलकाप्पियम् द्वितीय संघ कालीन पांड्यनरेश निलन्तरु तिरुविन् पांडियन् की सभा में, पंडितवर अतंकोट्टाशान् की अध्यक्षता में तोलकाप्पियम् का प्रथम प्रकाशन हुआ। यह भी कहा जाता है कि तोलकाप्पियर अगस्त्य के शिष्य थे। अगस्त्य की अध्यक्षता में ही द्वितीय संघ स्थापित हुआ और वे तमिल के प्रथम व्याकरणाचार्य माने जाते हैं। किन्तु उनका एक भी पद्य उपलब्ध नहीं है। आज जितने संघकालीन ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ अन्तिम संघ के हैं। अन्य कुछ ग्रन्थ पूर्ववर्ती संघ के कहे जाते हैं, पर इस बारे में मतैक्य नहीं है।

संघ ग्रंथों पर जैन प्रभाव

संघ साहित्य के कई पद्यों में जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। 'यादुम् ऊरे यावरुम् केळिर्....'[1] वाले पद्य में समदर्शिता, सार्वजनीन सेवावृत्ति और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना के साथ कर्म फल की अनिवार्यता का भी वर्णन है। यद्यपि ये वचन अन्य धर्मों में भी मिलते हैं, तथापि उनका विशिष्ट विवेचन जैनधर्म में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त, संघकालीन कवियों में कुछ नाम ऐसे मिलते हैं, जिनके जैनी होने की सम्भावना है। उनमें से दो कवियों का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है।

उलोच्चनार

मुनि-दीक्षा ग्रहण करते समय, केशलुञ्चन करने की जो विशिष्ट क्रिया की जाती है, उसे तमिल में 'उलोच्चु' कहते हैं। केशलोच के अनुष्ठान का वर्णन करने अथवा केशलोच करने के कारण संघ के एक कवि का नाम 'उलोच्चनार' पड़ा। इनके नाम पर तैंतीस पद्य उपलब्ध होते हैं, जो उन्हीं के रचे हुए प्रतीत होते हैं। इन पद्यों में जैन धर्म सम्मत सांसारिक जीवन की कष्ट बहुलता की भाँति अन्तर्जीवन की दुखप्रधान दशा का वर्णन है।

निगण्टनार्

दूसरे संघकालीन कवि का नाम है, निगंटन् कलैक्कोट्टुत् तण्डनार। इनका एक पद्य 'नट्रिणै' नामक संघकालीन ग्रन्थ में उपलब्ध है। उसमें 'नेय्-

---

१. इस संघकालीन पद्य के रचयिता थे कणियन् पूंकुन्ड्रनार और इस पंक्ति का अर्थ है, सारा देश हमारा जन्मस्थान है और समस्त देशवासी हमारे बन्धु हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल् निलम्' (समुद्र-तटवर्ती प्रदेश) की कष्टबहुल स्थिति का वर्णन है। इनके परवर्ती व्याख्याकारों ने लिखा है कि 'कलैक्कोट्टुत् तण्डु' नामक ग्रन्थ उक्त जैन कवि की रचना है, कुछ विद्वानों का मत है कि वह ग्रन्थ निघंटु (शब्द कोश) रहा होगा। इनके जैनत्व को सूचित करने के लिए ही, उनके नाम के पूर्व 'निगण्टन्' (निगण्ठ < निर्ग्रन्थ) का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः ये दिगम्बर मुनि रहे होंगे। निघंटु के रचयिता होने के कारण, इनके नाम के पूर्व 'निगण्टन्' (निघंटुकर्ता) का विशेषण लग गया है, यह भी कई शोधकर्ताओं का मत है। फिर भी, लक्षणग्रंथ, व्याकरण तथा कोश-निघंटु आदि ग्रन्थों की रचना द्वारा जैन विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय तथा भाषाओं की जो अनुपम सेवा की है, उसका भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संघकाल का निर्णय

अधिकांश संघ साहित्य तीसरे संघ का ही मिलता है। अतः 'संघकाल' तथा 'संघ साहित्य' शब्द अंतिम अर्थात् तृतीय संघ का निर्देशक है। साधारणतः पल्लवों के आगमन के पूर्व का समय संघकाल माना जा सकता है। ई० तृतीय शती के मध्य में पल्लवों का सम्पर्क तमिलनाडु के काँचीपुरम् में बढ़ने लगा।

इतिहासवेत्ताओं के मतानुसार ई० चौथी सदी के अन्त में पाटलीपुर का ध्वंस हुआ। पाटलीपुर की समृद्धि नंदों द्वारा वहाँ भूगर्भ में सुरक्षित की गयी धनराशियों की चर्चा सोन (शोण) नदी के तट पर उस नगरी के अवस्थित होने की बात संघकालीन पद्यों में पायी जाती है।[1] इससे ज्ञात होता है कि पाटलीपुर के ध्वंस के पूर्व संघकाल था।

यूनान और रूम के यात्रियों ने ई० प्रथम और दूसरी शतियों की अपनी भारतयात्रा के संस्मरणों में तमिलनाडु के वाणिज्य-व्यवसाय तथा आचार-विचार का जो आँखों देखा वर्णन किया है, वह संघ-पद्यों से अधिक साम्य रखता है। अतः संघकाल का समय और भी पहले माना जा सकता है।

शिलप्पधिकारम् के वंचि काण्डम् में उल्लेख है कि सिंहल-नरेश कयवाहु ने चेरनरेश चेंगुट्टुवन द्वारा आयोजित सती देवी कण्णकी की मूर्ति प्रतिष्ठा के उत्सव में भाग लिया था। शिलप्पधिकारम् (तमिल महाकाव्य) के रचयिता इळंगों अडिगळ् के मुख्य काव्यपात्र चेरनरेश चेंगुट्टुवन के छोटे भाई थे

---

१. अहनानूरु पद्य-सं० २०५ और कुरुन्तॉकै, पद्य०सं० ७५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वे स्वयं काव्यवृत्तांत के समकालीन थे। ऐतिहासिक छानबीन से पता चलता है कि सिंहलनरेश कयवाहु का समय ई० दूसरी सदी था। अन्य प्रमाणों से भी उक्त महाकाव्य का रचना काल ई० दूसरी शती सिद्ध है। संघ काल की विकसित एवं परिष्कृत काव्यधारा का एकमात्र प्रतीक है 'शिलप्पधिकारम्' अतः उसके पूर्व के संघसाहित्य का काल-निर्णय करते समय हमें ई० दूसरी शती से भी आगे बढ़ना होगा।

द्रमिळ संघ

'बौद्ध संघ', 'श्रमण संघ' आदि शब्द तत्तद् मतावलम्बी भिक्षुओं या साधुओं के दल के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। सम्भवतया, 'तमिळ् संघम्' उक्त नामों के अनुकरण से व्यवहार में चल पड़ा होगा। किंतु, 'तमिळ् संघम्' को साम्प्रदायिक संगठन-संघ समझना भ्रम होगा। एक द्राविड संघ के होने की बात कन्नड के शिलालेखों में उल्लिखित है।[1] वहाँ उल्लेख 'द्रमिळ संघम्' के रूप में हुआ। जैनग्रंथ 'दर्शनसार' में द्रविड संघ का उल्लेख पाया जाता है। उसके रचयिता देवसेन ने स्वयं लिखा है कि उक्त संघ की स्थापना ई० ४७० में आचार्य वज्रनंदी ने की थी। यह द्रविड़ संघ तमिल साहित्य के इतिहास के सुप्रसिद्ध संघत्रय में नहीं आता। एक ही संघ में एकत्रित हुए जैन साधुओं का मूल संघ चार गणों में विभक्त हो गया। उनके नाम थे, नंदीगण, सेनगण, सिंहगण और देवगण। इन गण-संघों के विद्वानों ने अपने नाम के अंत में स्व-गण के नाम को भी जोड़ लिया। नंदीसंघ से द्रमिळसंघ के अलग होने की बात परवर्ती शिलालेखों से ज्ञात होती है। द्रमिळसंघ का एक विभाग ही 'अरुंकलान्वयम्' था। 'अन्वय' शब्द इधर कक्षा या विभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस 'अरुंकलम्' विभाग के विद्वानों ने 'अरुंकल-चॅप्पु' आदि ग्रन्थों की रचना की, जिनके साथ अपने संघ विभाग के नाम को भी जोड़ दिया। अरुंकलान्वयम् को नंदीगण के विभाग के रूप में कन्नड-शिलालेखों में निर्दिष्ट किये जाने से, यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उस समय सभी जैनसंघों में 'अरुंकलम्' (उत्तम आभूषण) आदि कई तमिल शब्द व्यवहृत हुए थे। देव और नंदी शब्दों को कई जैनाचार्यों ने अपने नामों के अंत में जोड़ लिया। ऐसे अनेक

---

१. Epigraphia Carnatica, Vol. V., Hassan Jq. 131 ; Epi. Carn. Vol. IV, Gurdlupet Jq. 27.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनों का निर्देश 'तेवारम्' आदि शैव संत साहित्य और शिला लेखों में है। यह जैनसंघ तमिल की श्रीवृद्धि में सदा तत्पर रहा है, अतः उसे भी 'तमिळ्संघम्' के नाम से गौरवान्वित करना उचित ही होगा।

तिरुक्कुरळ्

शैव संत साहित्य तेवारम् के समय (ई० सातवीं शती) तक जैनधर्म तमिलनाडु में अपनी जड़ जमा चुका था। इसके साथ ही तमिल साहित्य में भी कई नवीन प्रयोग होने लगे। 'अकवल् पा' नामक छंद विशेष ही अधिकांश संघकालीन रचनाओं के लिए व्यवहृत हुआ था। इसका स्वरमाधुर्य उपदेश को ही प्रधान माननेवाले जैन रचनाकारों के लिए अनपेक्षित होने से, उन्होंने अपने उद्देश्य के लिए उपयुक्त 'वेण् पा' नामक छंद में ही काव्यरचना शुरू की। यद्यपि संघपद्यों में यह छंद यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ है, तथापि इसका अधिक प्राधान्य संघकाल के अवसान में या 'तेवारम्' आदि भक्ति साहित्य के काल में ही हुआ था।

तिरुक्कुरळ् और संघग्रन्थ

इस परिवर्तन का मार्गदर्शन तिरुक्कुरळ ने ही किया था। तिरुक्कुरळ् के रचयिता स्वनामधन्य महर्षि तिरुवळ्ळुवर के कई आशय संघग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। उदाहरणस्वरूप, 'चॅय्दि कॉण्ड्रोक्कुं उय्दि इल्लैंन....' यह संघ पद्य ('पुरनानुरु' का पद्यांश); तिरुक्कुरळ् का यह कुरळ् अंश—उय्विल्ले चॅय्नन्ड्रि कॉण्ड्र मक्कुं' (कृतघ्नों की उन्नति सर्वथा असम्भव है)—सरल व्याख्या-सा लगता है। इसी प्रकार कपिलर् नच्चॅळ्ळैयार् आदि संघकालीन कवियों के पद्यों में भी तिरुक्कुरळ् के भाव पाये जाते हैं।

तिरुवळ्ळुवमालै

यह ग्रंथ तिरुक्कुरळ् की प्रशंसा में रचे गये पद्यों का संग्रह है। इन पद्यों के रचयिता संघकालीन कवि बताये जाते हैं। मगर यह भ्रममूलक तथा सुनी सुनाई बात है। बारहवीं शती के जैनाचार्य नेमिनाथर् के 'नेमिनाथम्' नामक तमिल व्याकरण ग्रंथ की समकालीन व्याख्या में उक्त 'तिरुवळ्ळुवमालै' का एक पद्य उद्धृत है। इसी प्रकार 'कल्लाडम्' नामक भक्तिग्रंथ में भी उस 'मालै' का एक पद्य उद्धृत् है। संघकाल में हिन्दू पौराणिक कथाओं के समा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेश के समय ई० सातवीं शती में 'तिरुवळ्ळुवमालै' की रचना हुई होगी। पौराणिक कथाओं के समावेश के प्रमाण ई० सातवीं शती के शैवसंत तिरुनावुक्करशर् के पद्यों और प्राचीन पांड्य राजाओं के शिलालेखों तथा अन्तिम संघकालीन ग्रंथ 'इरैयनार् अकप्पॉरुळ्' (भावपक्ष का लक्षण ग्रंथ) में स्पष्ट मिलते हैं।

संघकालीन ग्रन्थ माने जाने वाले 'एँट्टुत्तॉकै' और पत्तुपाट्टु' (पद्यसंग्रह)की शैली को तिरुक्कुरळ् और शिलप्पदिकारम् की शैली से भिन्न सिद्ध करने के लिए कुछ विद्वान् शब्दों के प्रयोगभेद को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। 'कलित्तॉकै' और 'पारिपाडल्' में भी, जो संघसाहित्य में गिने जाते हैं, वह शैली भेद पाया जाता है। वे दोनों ग्रन्थ 'गन्धर्वमार्ग' या चॅन्दुरैमार्गम्' नामक गीत-प्रणाली के हैं। 'शिलप्पदिकारम्' में उन दोनों शैलियों के साथ 'वेण् तुरै मार्गम्' नामक नाटकीय शैली भी अपनायी गयी है। अतः पंडितों से निर्धारित शैलियों के साथ समयानुकूल नवीन शैली को अपनाना उन्मुक्त चिंतक कवियों के लिए सहज ही है। तिरुवळ्ळुवर ने अपने लोकहितकारी महान् ग्रन्थ के लिए सार्वजनीन एवं सरल शैली अपनायी। इसीलिए इस नवीन शैली में बोलचाल की सरल भाषा का-सा प्रवाह है।

तिरुक्कुरळ् में एक सौ पच्चीस संस्कृत शब्द मिलते हैं। तत्कालीन जन भाषा में घुले-मिले शब्दों को ही स्पष्ट अभिव्यंजना के लिए तिरुवळ्ळुवर ने अपनाया था। ई० पू० दूसरी-तीसरी शती के गुफा-शिलालेखों में भी कई संस्कृत-शब्द पाये जाते हैं। यद्यपि उन १२५ शब्दों में सबको संस्कृत मानने के लिए कई विद्वान् तैयार नहीं हैं, तथापि सबको संस्कृत मानने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि दो प्रतिशत संस्कृत शब्द भी तिरुक्कुरळ् में नहीं हैं।

तॉकै (समास)

कुछ विद्वानों का मत है कि तिरुक्कुरळ् के प्रथम पद्य का 'आदिभगवन्' शब्द जो तॉकै चॉल् (समस्तपद) है, नयी शैली का परिचायक है, जो संघ-कालीन साहित्य में नहीं मिलती। किन्तु ऐसी बात नहीं है। चित्तिरमाडम् (सुंदर भवन या चित्रोंवाला भवन) शब्द, 'चित्तिरमाडत् तुंचिय नन्मारन्' नामक पाण्ड्यनरेश के साथ संघकालीन पद्य में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'गूढाकारम्' समस्तपद के रूप में संघ-साहित्य में आया है। तमिल शब्द के साथ संस्कृत शब्द के सम्मिलित रूप को हरिसमास कहते हैं। यह प्रयोग प्राचीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्यकारों द्वारा व्यवहार में लाया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि वह हरिसमास तेलुगु और कन्नड भाषाओं में उपेक्षित होने पर भी, तिरुक्कुरळ् में पाया जाता है। इसके लिए जो पद उदाहरण में दिया गया था, वह 'ऑरू-बन्दम्' पद, संस्कृतमिश्रित नहीं है, पूरा तमिल पद ही है। अतः 'दशनान्कु' (दस चार-चालीस या चौदह) आदि हरिसमास के नमूने संघकालीन कवि जक्कीरर् के 'नॅडुनल्वाडै' नामक ग्रन्थ में पाये जाते हैं। अतः यह समास-प्रयोग प्राचीनकाल से ही व्यवहार में है। तिरुक्कुरळ् में जो-जो प्राचीन प्रत्यय, क्रिया-रूप और मात्रापूरक पाये जाते हैं, वे सब संघकालीन पद्यों में भी हैं और जिन्हें कुछ विद्वान् अर्वाचीन मानते हैं, वे भी संघ-साहित्य में मिलते हैं। अतः ऐसे अपूर्ण प्रमाण द्वारा तिरुक्कुरळ् को अर्वाचीन सिद्ध करने की जो कोशिश कुछ लोग करते हैं, उसमें कितना सार है, यह वे ही जानें !

एक कथा चली आ रही है कि तिरुवळ्ळुवर राजा एलोलसिंगन् के आचार्य थे और उन्हीं के अनुग्रह से राजा के जहाज संकट से बचकर पार हुए। इस घटना का स्मरण, आज भी नाविक तथा गाड़ीवान 'एलेलो एलरा !' के तराने द्वारा करते रहते हैं। इसको आधार मानकर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि एलोल सिंगन् ई० पू० १४५ में सिंहल में शासन करने वाले तमिलनरेश सिंगन ही थे; अतः तिरुवळ्ळुवर का समय ई० पू० दूसरी शती मानना उचित होगा।

प्रो० चक्रवर्ती नयिनार ने तिरुवळ्ळुवर के बारे में यह मत व्यक्त किया है—'एलाचार्य नामक जैन पंडित ने 'तिरुक्कुरळ्' की रचना की है। इन्हीं का असलीनाम कुंदकुंदाचार्य था।[1] ये ई०पू० प्रथम शती में मद्रास के निकटवर्ती 'वंदवाशि' नामक स्थान के पास एक पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। इनके चरणचिह्न वहाँ अब भी हैं जिनकी पूजा श्रद्धालु जैनी रोज करते हैं। इन्हीं के श्रावक शिष्य थे तिरुवळ्ळुवर। तिरुवळ्ळुवर अपने आचार्य के ग्रन्थ 'तिरु-क्कुरळ्' को संघ (विद्वन्मण्डली) में ले जाकर स्वीकारार्थ प्रथमतया वहां पढ़ सुनाया। यह वृत्तान्त जैन परंपरा में प्राचीन काल से ही मान्यता-प्राप्त है।

किन्तु इस अनुश्रुति का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता है।

---

१. यह नाम तमिल में 'कुन्दन कुन्दनाचारियर्' और 'कुण्डन कोण्डना-चारियर' के रूपों में भी व्यवहृत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिरुवळ्ळुवर और जैनधर्म

तिरुवळ्ळुवर को लम्बे समय से जैन ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास चलता आया है। उनके नामों में एक 'देवर्' है, जो जैन वाची माना जाता है और 'नायनार' का जो उपाधि-पद तिरुवल्लुवर को बाद में प्राप्त हुआ, वह भी केवल जैन परम्परा में, विशेषतया दक्षिण में, सुप्रचलित नाम है। किन्तु तिरुमाळिकै देवर्, तिरुनीलकण्ठ नायनार आदि शैवसंतों के नाम भी पूर्वोक्त-पदों के साथ मिलते हैं। वे उपाधिपद मध्य काल में अन्य धर्मावलम्बियों के साथ भी प्रयुक्त होने लगे। 'नीलकेशी' नामक तमिल जैन ग्रन्थ के व्याख्याता शमण (श्रमण) दिवाकर मुनिवर् ने तिरुक्कुरळ् को 'एमदु ओत्तु' (हमारा ग्रन्थ) बताया है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि तिरुक्कुरळ् को सब लोग 'पॉदु मरै' (सामान्य वेद) कहते-मानते आये हैं।

आचार्य तिरुवळ्ळुवर ने अपने ग्रन्थ में जन-जीवन को सभी पहलुओं में समुन्नत तथा सुसम्पन्न बनानेवाली उपादेय बातों को सूत्र शैली में निबद्ध किया है। उनकी जनमंगलप्रेरित विराट् भावना की यह विशेषता है कि उनके वेदतुल्य अमर ग्रन्थ तिरुक्कुरळ् में सभी धर्मावलम्बियों के सर्वजनहितकारी उपदेश स्थान पा गये हैं। सम्भवत: इसी कारण, उस ग्रन्थ को प्रत्येक मतावलम्बी अपना कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। यह बात तो निश्चित है कि जैन तथा बौद्ध धर्मों ने सर्वभूत दया एवं अहिंसा का जो विचार दिया, उसके आधार पर, सदाचार से विचलित न होकर साधारण मनुष्य भी गार्हस्थ्य संन्यास, सामुदायिक जीवन, राज्य-शासन तथा प्रेममार्ग—किसी के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है; इस सिद्धान्त को काव्यमय ढंग से ही नहीं, उत्तम शास्त्रीय रीति से भी अभिव्यक्त करनेवाला सर्वदर्शनसम्मान्य पूज्य ग्रन्थ तिरुक्कुरळ् को छोड़कर और दूसरा नहीं हो सकता। यह ग्रन्थ 'अरम्' (धर्म), 'पॉरुळ्' (अर्थ) और 'इन्बम्' (काम)—इन तीन अध्यायों में विभक्त है।

तिरुक्कुरळ् को जैन ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए दिये जानेवाले प्रमाणों में यह भी एक है—'जैसे, तॉलकाप्पियम् के प्रारम्भ की ईश्वरवन्दना में प्रयुक्त विनैयिन् नींगि विळंगिय अरिवन्' (कर्मबन्धन से मुक्त एवं उज्ज्वल ज्ञानवाला) मंगलाचरण अर्हत् भगवान् का निर्देश करता है, उसी प्रकार तिरुक्कुरल् के छठे 'कुरळ्' (पद्य) में वर्णित 'पॉरिवायिल् ऐन्दवित्तान्' (पंच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रिय-सुखों पर विजय पानेवाले भगवान्) वाक्य भी जिनदेव का ही निर्देश करता है।' यह तो मानी हुई बात है कि तिरुक्कुरळ् में जहाँ-जहाँ भगवान् का उल्लेख या वर्णन आया है, वह हिन्दू तथा जैन दोनों धर्मों पर लागू होता हैं। अतः यह स्वीकार करना उचित होगा कि तिरुवळ्ळुवर ने ईश्वर के सामान्य स्वरूप को ही व्यक्त किया, जिसकी मान्यता समस्त सम्प्रदाय वालों में है।

तिरुक्कुरळ् के उपदेश

'अरम्' (धर्म)

सभी धर्मों और मतों के सारभूत तत्त्वों का समन्वयस्थल तिरुक्कुरळ् है। स्वच्छ प्रेम ही जीवनतत्त्व है, शुद्ध प्रेम और श्रद्धामयी गृहणी तथा संतान ही जीवनाधार हैं तथा आतिथ्य-सत्कार की महिमा, प्रिय एवं हित मितवचन, कृतज्ञता की अनिवार्यता, संयम की महत्ता, सदाचरण की विशुद्धता, निरामिष भोजन की विशेषता, तपस्या की महिमा, सत्य, अस्तेय, अहिंसा एवं शांति-प्रियता की उपादेयता इत्यादि कई लोकमंगलकारी सदुपदेश तिरुक्कुरळ् के प्रथम विभाग में हैं। अपने-पराये की भेदबुद्धि से मुक्त तपस्वी की दशा का अच्छा वर्णन है। जन्म-मरण का तत्त्वविवेचन, मोक्षज्ञान, अनासक्ति और कर्मफल के अनुगमन का वर्णन यह सब प्रथम 'अरम्' अध्याय में सुंदर रीति से वर्णित है। सभी धर्मों के नेत्रभूत प्रेम, दया और तत्त्वज्ञान का समर्थन प्रधान-तया किया गया है।

तिरुवळ्ळुवर ने 'पॉरैयुडैमै' (सहिष्णुता) का जो आदर्श स्थापित किया, वह सचमुच अपूर्व एवं उच्च कोटि का है। उस प्रकरण का पहला पद्य है—

"अकळ्वारैत् तांगुम् निलम्बोलत् तम्मै
इकळ्वार्प् पॊरुत्तल् तलै।"

अर्थात्, जैसे धरती अपने पर फावड़े मारनेवाले को भी खड़े होने की जगह देती है, उसी प्रकार मनुष्य को अपने अपराधी के दुष्कर्म सहकर उसे अपनाना चाहिए। यही सच्ची सहिष्णुता है, जो उत्तम धर्म माना जाता है।

आगे चलकर, सहिष्णुता की जो पराकाष्ठा उन्होंने बतायी, वह है, परकृत अपराधों को सह लेना तो साधारण धर्म है, पर उनके स्वल्प स्मरण तक को अपने मन में घर करने नहीं देना; अर्थात्, उसी क्षण उन्हें उदारता के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकदम भूल जाना ही सर्वोत्तम धर्म है। इस प्रकार, प्रत्येक धर्म के वर्णन में तिरुवळ्ळुवर ने अपना आदर्श प्रतिष्ठित किया है।

'पॉरुळ्' (अर्थ)

तिरुक्कुरळ् के दूसरे 'पॉरुळ् पाळ्' (अर्थविभाग) में राजनीति तथा सामुदायिक जीवन के बारे में कई उपादेय बातें वर्णित हैं। यद्यपि इसमें कथित विषय राजनीति से अधिक सम्बन्धित हैं, तथापि साधारण जनजीवन के लिए भी वे उपयोगी एवं आचरणीय हैं। इसीलिए राजतन्त्र के समय में बतायी गयी बातें, अब गणतन्त्र के स्वतन्त्र जनजीवन के लिए भी लागू होती हैं। तिरुवळ्ळुवर ने इस अध्याय में अपना स्पष्ट निर्णय दिया है कि शासनसत्ता की स्थिरता एवं निर्दोष परिचालन के लिए विद्वानों, अच्छे विचारकों तथा योग्य राजनीतिज्ञों से भरी मंत्रणासभा (संसद्), और विद्या तथा तदनुरूप अनुष्ठान वाले मनीषी—ये तीनों साधन अनिवार्य हैं। तिरुवळ्ळुवर राजनैतिक दाँव-पेंचों तथा कुचक्रों से भलीभाँति परिचित थे, किन्तु सफलता या विजय को एकमात्र उद्देश्य मानकर साधन या आचरण की भ्रष्टता का अंगीकार उन्होंने कभी नहीं किया। वे साध्य की तरह साधन को भी पवित्र एवं आदर्शोन्मुख रखने के पक्षपाती थे। 'विनैत्तूय्मै' (कार्य की पवित्रता) नामक अलग अधिकारम् (प्रकरण) उन्होंने तिरुक्कुरळ् में लिखा। राजनीति और सामुदायिक जीवन के लिए उदारचित्त और सदाचरण को ही उन्होंने आधार माना। इसीलिए, इस अध्याय के अंत में, जन्म की गरिमा, अच्छी संस्कृति, स्नेहगुण, अधर्मभीरुता, समदर्शिता, सत्यभाषिता और आत्मसम्मान को प्राणवत् मानने-वाले भद्र मनुष्यों का वर्णन किया गया है।

'इन्बम्' (काम)

तिरुक्कुरळ् के तृतीय अध्याय 'इन्बम्' में आदर्श दाम्पत्य जीवन का, संघकालीन साहित्य से अनुमोदित रीति-नीति के आधार पर विशद् वर्णन किया गया है। उसका सारांश यह है—एक स्त्री का एक ही पति हो सकता है तथा पति भी एकपत्नीव्रत निबाहेगा। ऐसा स्त्री-पुरुष-युगल अपना आदर्श रखेगा तथा अनुपम कहलाएगा। शरीर से भिन्न होने पर भी दोनों पति-पत्नी आचार-विचार तथा अटूट स्नेह-सौजन्य से अभिन्न एकप्राण-से रहेंगे। वे परम्परागत सदाचार से कभी विचलित नहीं होंगे। उनका जीवन निःस्वार्थ भावना से ओतप्रोत हो, परहित तथा परोपकार में अपनी सफलता मानेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामशास्त्र को इस प्रकार की गंभीर एवं पवित्र रीति से शायद ही किसी आचार्य ने प्रस्तुत किया है। सम्भवतया, प्राचीन तमिल साहित्य की विशिष्ट शाखा 'अहप्पॉरुळ्' (जीवन का अन्तर्मुखी पक्ष) से परिचित होने के कारण, तिरुवळ्ळुवर कामशास्त्र विषयक अपूर्व अध्याय प्रस्तुत करने में सफल हुए। इसमें उन्होंने यह परिवर्तन या कहें कि क्रान्तिकारी परिशोधन किया कि संघकाल में प्रचलित तथा आचार के रूप में स्वीकृत गणिकासंगम की परम्परा का अपने अध्याय में संकेत तक नहीं किया। योग्य युवक-युवती के स्वच्छ प्रेम के विकसित रूप तथा उनके पवित्र दाम्पत्य में निखरे शोभन परिणाम को ही तिरुवळ्ळुवर ने अपने अध्याय का आधार बनाया। उदात्त भावनाओं से पूर्ण उनके 'इन्बम्' (काम) अध्याय की यही विशेषता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदिनॅण्कीळ् कणक्कु[१]

जैन साहित्य की धारा

जैन साहित्य की धारा तीन शाखाओं में बँट गयी। तोलकाप्पियम् की तरह व्याकरण को सरल-सुबोध रूप में प्रस्तुत किया गया। इसमें शब्दों की निरुक्ति तथा वर्गीकरण करनेवाले निघंटुग्रन्थ भी शामिल हैं। दूसरी धारा में, काव्यग्रन्थ आते हैं। तीसरी धारा में वे ग्रन्थ हैं जिनमें जैन धर्म की विशेषताओं को प्रभावना के ढंग पर प्रस्तुत किया गया है। धर्म सिद्धान्तों को सर्वसाधारण के लिए सुन्दर तथा रोचक रूप में साहित्यिक विधा में प्रस्तुत करना सरल बात नहीं है। आचार्य तिरुवळ्ळुवर ने दुःसाध्य कार्य को सुसाध्य बना दिया। उनकी वह अभूतपूर्व सफलता ही अन्य आचार्यों तथा साहित्यनिर्माताओं के लिए पथप्रदर्शक बनी। इस प्रकार, जैनाचार्यों ने व्याकरण, लक्षण तथा निघंटु ग्रन्थों, काव्यग्रन्थों और धर्मग्रन्थों—इन तीन विधाओं द्वारा तमिल-वाणी को सुसम्पन्न बनाया।

ऊपर तिरुक्कुरळ् का किंचित् परिचय दिया गया है। इस सिलसिले में उससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों का परिचय देना उचित होगा, जिनका नाम है 'पदिनॅण् कीळ् कणक्कु' (अठारह धार्मिक या नैतिक ग्रन्थों का संग्रह)। इन अठारह रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

ग्रन्थ का नाम	रचयिता
१. नालडियार	अनेक जैनमुनियों के फुटकर पद्यों का संग्रह
२. नान् मणि कडिकै	विळम्बि नागनार्
३. इनियवै नार्पदु	पूतम् चेन्दनार्
४. इन्ना नार्पदु	कपिलर्
५. कार् नार्पदु	मदुरै कण्णन् कूत्तनार
६. कळवळि नार्पदु	पॉय्कैयार्

१. इसका अर्थ है 'अठारह धार्मिक या नैतिक ग्रन्थों का संग्रह'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ का नाम	रचयिता
७. ऐंतिणै ऐंपदु	मारन् पॉरैयनार्
८. ऐंतिणै एलुपदु	मूवादियर्
९. तिणै मॉलि ऐंपदु	कण्णन् चेन्दनार्
१०. निणै मालै नूट्रैम्पदु	कणि मेधावियार्
११. तिरुक्कुरल्	तिरुवल्लुवर्
१२. तिरुकडुकम्	नल्लातनार्
१३. आचारक् कोवै	पॅरुवायिन् मुल्लियार्
१४. पलमॉलि नानूरु	मुन्तुरै अरैयनार्
१५. चिरु पंच मूलम्	माक्कायन् माणाक्कनार् माक्कारि आशान्
१६. मुदु मॉलि कांचि	मदुरै कूडलूर् किलार्
१७. एलादि	कणि मेधावियार्[1]
१८. कैन्निलै[2]	अज्ञात

ये अठारहों ग्रन्थ प्रायः 'मूदुरै' (लोकोक्ति या कहावत-सम्बन्धी—Gnomic Verses) गीतों के संग्रह हैं। जीवन के विविध पहलुओं को सत्य के आधार पर चित्रित करनेवाली कहावतें और लोकोक्तियाँ समस्त भाषाओं में सुरक्षित हैं। तोलकाप्पियर् ने भी इनका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। इनको केवल कहावतें या लोकोक्तियाँ न मानकर, विद्वानों का साहित्यिक भाषा में प्रणीत सरल जनपदीय साहित्य मानना चाहिए। इनमें तत्कालीन जनजीवन का प्रतिविम्ब पड़ने पर भी प्रणेता तथा संकलनकर्ता विद्वानों के वहुभाषाज्ञान का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। उनका मुख्य ध्येय यही रहा कि ये सूक्तियाँ किसी एक प्रदेशवासियों की न रहकर, सर्वदेशीय हों।

इन ग्रन्थों के नामकरण में रचयिताओं ने अपनी विषयवस्तु की झलक भी दे दी है। 'इनियवै नार्प्पदु' (मधुर हित चालीसी) और 'इन्ना नार्प्पदु' (अहित चालीसी) से ग्रन्थ का उद्देश्य प्रकट होता है। विभिन्न तत्त्वों के संकलनों के लिए 'नान् मणिक्कडिकै' (चार मणियों की मंजूषा), 'चिरु पंच

---

१. इन्होंने १०वें ग्रन्थ 'तिणै मालै नूट्रैम्पदु' की भी रचना की है।

२. कुछ विद्वान् इसके स्थान पर 'इन्निलै' नामक ग्रन्थ को मानते हैं, जिसके रचयिता थे पॉय्कैयार्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलम्' (पाँच मूल तत्त्व) आदि नाम दिये गये हैं। साधारण तत्त्वों को आलंकारिक शैली में बताने का क्रम इन ग्रन्थों के समय में खूब चल पड़ा मालूम होता है।

धर्मोपदेशपरक ग्रन्थ

उक्त अठारह ग्रन्थों में, धर्मोपदेशपरक ग्रन्थ भी हैं। किन्तु दोनों रीतियों (सूक्ति तथा धर्मतत्त्व) का समन्वय इन ग्रन्थों में इस प्रकार हुआ है कि उनका अलग-अलग विभाजन करना कठिन है। इनके अधिकांश पद्य धर्मोपदेश शैली के हैं। उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने से, वे बहुत प्रभावकारी हुए हैं। जैन विद्वानों की विशिष्ट शैली के अनुसार अधिकांश ग्रन्थ 'आडूउ मुन्निलै' (पुरुषसम्बोधक) और 'मकडूउ मुन्निलै' (स्त्रीसम्बोधक) के रूप में रचित होने से, उन्हें पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे पद्य हमारे ही हितार्थ, और हमको ही सम्बोधित करके लिखे गये हैं।

जैन धर्म के विशिष्ट ग्रन्थ

इन अठारहों ग्रन्थों में अधिकांश जैनाचार्यों द्वारा रचित हैं। उनका नीतिपरक तथा धर्म-उपदेश प्रधान साहित्य तमिल वाङ्मय का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। अर्वाचीन नीति ग्रन्थ के रूप में हिन्दू तपस्विनी तथा कवयित्री औवैयार के प्रसिद्ध पद्य नन्नेरि, नीतिनूल्, नीतिनेरि विळक्कम् आदि रचनाओं पर अष्टादश ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

(अ) अरुंकल चेप्पु

यह नीति निर्देश के साथ-साथ जैनधर्म की विशेषता को अभिव्यक्त करने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ उक्त अष्टादश ग्रन्थों से अर्वाचीन माना जाता है। यह ग्रन्थ 'कुरळ् पा'[1] छन्द में लिखा गया है। यह 'अरुंकलान्वयम्' नामक जैनसंघ के पंडितों द्वारा रचित है।

(आ) अरनेरि सारम्

इसका अर्थ है धर्माचरणों का सार। मुनैप्पाडियार नामक जैनाचार्य ने 'वेंण् पा' छन्द में इस ग्रन्थ की रचना की है। इसका सारतत्त्व है, 'धनलिप्सा और भोगलिप्सा संग्रस्त इस संसार में धर्माचरण पर श्रद्धा रखनेवाले साधु पुरुष

---

१. 'कुरळ् पा' संस्कृत के अनुष्टुप् वृत्त की तरह छोटा तथा आकर्षक तमिल छन्द है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही कर्मबन्धन से मुक्ति पा सकते हैं।' धर्मजिज्ञासुओं के लक्षण और कर्तव्य के विषय में लेखक ने ग्रन्थारम्भ में विस्तृत विवेचन किया है। तदनन्तर बताया है कि श्रद्धालु शिष्यों तथा धर्मजिज्ञासुओं के निमित्त ही 'धर्माचरण-सार' ग्रन्थ का प्रणयन किया है। अपने धर्मानुयायियों तथा श्रद्धालुओं के लिए ग्रन्थ रचने का प्रारम्भ सम्भवतः इन्हीं के समय में हुआ है। अपने मत-सिद्धांत की स्थापना और प्रभावना के लिए अन्य मतों या धर्मों का खण्डन आदि भी इस ग्रन्थ में है। इसमें शिव को अर्हन् बताया गया है। एकान्तवाद का खण्डन अन्य जैनाचार्यों की भाँति इस ग्रन्थकर्ता ने भी किया है।

यह 'अरनॅरिसारम्' ग्रन्थ संघकालीन पद्यों, 'पतिनॅण् कीळ् कणक्कु' ग्रन्थों तथा अन्य काव्यग्रन्थों के सँकलनों में स्थान पा चुका है। अतः इसका रचनाकाल वही माना जा सकता है जो नेमीनाथर् और भवणन्दी (भवण-नन्दी) का है अर्थात् ई० चौदहवीं शती। दूसरा ग्रन्थ 'अरुंकल चॅप्पु' लगभग सात सौ वर्ष पूर्व रचा गया, ऐसा मान सकते हैं।

इन अष्टादश लघु ग्रन्थों के प्रभाव से जो प्रवृत्ति तमिल साहित्य में बढ़ने लगी, उसका किंचित् दिग्दर्शन यहाँ कराया गया। शिलप्पधिकारम्, मणि-मेखलै आदि महाकाव्यों का अवतरण उसी प्रवृत्ति की निष्पत्ति है। तमिल वेद (तिरुक्कुरल्) की महत्ता बताते समय, उसके सहसंकलनों पर भी प्रकाश डालना उचित होगा।

'पतिनॅण्कीळ्_कणक्कु' के लक्षण

अम्मै

उक्त ग्रन्थ-संग्रह का पारिभाषिक नाम है 'अम्मै'। इसका उल्लेख तोलकाप्पियर् ने अपने लक्षण ग्रन्थ में किया है। 'अम्मै' ग्रन्थों में शब्दलाघव, अर्थगांभीर्य तथा माधुर्य की प्रधानता होती है; धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का विवेचन एवं उद्बोधक व्याख्या ही वर्ण्य विषय होती है। 'मंडूक-प्लुति' की शैली के कारण विषय वर्णन की विशृंखलता होने पर भी, उद्देश्य-पूर्ति में शिथिलता नहीं आती। उनके पद्य छोटे, किन्तु प्रभावशाली और कोमल छंद के होते हैं।

कणक्कु

'नॅडुं कणक्कु', 'कणक्कायनार्', 'समयक् कणक्कर्' आदि तमिल शब्दों में 'कणक्कु' शब्द ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'दिवाकरम्' नामक तमिल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निघंटु में 'कणक्कु' का अर्थ अक्षर भी बताया गया है। प्रथा, नियम; क्रम—ये अर्थ भी 'कणक्कु' शब्द के हैं। अतः क्रमबद्ध अक्षरों या भावों से युक्त ग्रन्थों को भी 'कणक्कु' कहते हैं। इनके अन्तर्गत 'पेरेडु' और 'कैयेडु' नामक सांकेतिक शब्दों को, परवर्ती शैवसंत तिरुनावुक्करशर् ने अपने गीतों में 'वरिनॅडुम् पुत्तकम्' (क्रमबद्ध लंबी पुस्तक-कविता) एवं 'कीळ् कणक्कु' शब्द-प्रयोग द्वारा निर्दिष्ट किया है। अक्षरमालिका या अक्षरमाला को भी 'नॅडुङ् कणक्कु' या 'अरिच् चुवडि' कहते हैं। किन्तु यहाँ 'कणक्कु' शब्द ग्रन्थ के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रमाणस्वरूप, 'कीळ्कणक्कु' (लघुग्रन्थ) और 'मेवर्कणक्कु' (बड़ा ग्रन्थ)—इन दोनों का तमिल साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

जो ग्रन्थ छोटे-छोटे पद्यों में, शास्त्रीय विषय या कथा की तरह क्रमबद्ध न होकर, स्वतंत्र तथा स्फुट भावों या नैतिक विषयों का वर्णन करता है, उसे 'कीळ्कणक्कु' कहते हैं। कई पंक्तियोंवाले पद्यों में विस्तृत विषय का जो वर्णन करता है, उसे 'पन्निरु पाट्टियल्' नामक लक्षण ग्रन्थ में 'मेवर्कणक्कु' (बड़ा ग्रन्थ) कहा गया है।

इन नामों का प्रचलन अनुमानतः दसवीं शती से हुआ होगा। ग्यारहवीं सदी के ग्रन्थ 'वीर चोळियम्' की व्याख्या में 'पतिनॅण् कीळ् कणक्कु' का निर्देश है। और, दसवीं शती के छंदशास्त्र 'याप्परुंकल कारिकै' के व्याख्याकार ने भी उक्त ग्रन्थ का निर्देश किया है।

अष्टादश ग्रन्थों का समुच्चय जिसे तमिल में 'पतिनॅण् कीळ् कणक्कु तॉकै' कहते हैं, संघकाल के अनंतर ही अपनी विशिष्ट संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ। फिर भी, कई ग्रन्थ तोलकाप्पियम् के बताये 'अम्मै' नामक लक्षण के अंतर्गत उस समुच्चय में आते हैं। उनकी प्राचीनता और लोकप्रियता के कारण ही, इळंपूरणार्, गुणसागरर् आदि लक्षणग्रन्थ-व्याख्याताओं ने अपने समकालीन 'तेवारम्' आदि शैव साहित्य के पद्यों का उद्धरण न देकर इस समुच्चय के लघु ग्रन्थों के पद्यों के ही उद्धरण अपनी व्याख्याओं में दिये हैं। 'इन्ना नार्पदु' (अहित चालीसी) नामक ग्रन्थ में शिव, बलराम, कृष्ण और कार्तिकेय—इन देवताओं की आराधना का वर्णन होने से वह संघकालीन या उसके आस-पास का माना जा सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन त्रिदेवों की पूजा का वर्णन 'इनिय नार्पदु' (हित मधुरचालीसी) ग्रन्थ में है। यह ग्रन्थ संघकाल का परवर्ती हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शैवसंत साहित्य 'तेवारम्' के समय में (ई० तीसरी शती से सातवीं तक) 'आतन्' शब्द अपढ़, मूर्ख और अंधे के अर्थ में व्यवहृत होता था। पर उक्त समुच्चय के एक ग्रन्थ 'तिरुकडुकम्' के रचयिता का नाम 'नल्लातनार्' (उत्तम आतन्) है। अतः यह स्पष्ट है कि 'तेवारम्' के समय के पूर्व ही उक्त ग्रन्थ का प्रणयन एवं प्रसार हो गया था। 'आतन्' शब्द के दूसरे प्राचीन अर्थ हैं—अर्हत् भगवान्, उनका भक्त, प्राण और गुरु। अतः इन अर्थों में से किसी एक उपयुक्त अर्थ के आधार पर ही, वह 'नल्लातनार्' (उत्तम गुरु या प्राण अथवा उत्तम अर्हत्-भक्त) नाम रख लिया गया होगा। इस लिए उस 'नल्लातनार्' के 'तिरिकडुकम्' ग्रन्थ को भी तीसरी शती के पूर्व का मानना उचित होगा। उस नाम से ही प्रतीत होता है कि 'नल्लातनार्' एक जैनाचार्य थे। इसके अतिरिक्त छंद, वर्णनशैली, भाषा के गठन आदि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मुदु मॉळि कांचि', 'कळवळि नार्पदु' और 'तिरुक्कुरळ्' इन तीनों ग्रन्थों को छोड़कर अन्य सब ग्रन्थ संघकाल के परवर्ती ही होने चाहिए।

इनमें अधिकांश ग्रन्थ जिनके रचयिता जैनाचार्य थे, संघकालीन माने जाते हैं। इसकी पुष्टि एक प्राचीन पद्य से होती है। इसका तात्पर्य संभवतः आचार्य वज्रनंदी द्वारा स्थापित एवं संचालित द्राविड संघ हो सकता है। यह संघ ई० ४७० में मदुरा (मदुरै) नगरी में जैनाचार्यों के तत्त्वावधान में प्रतिष्ठापित होकर अपने सम्प्रदाय के साथ, तमिल भाषा-साहित्य की श्रीवृद्धि में सक्रिय था।

इन अष्टादश लघु ग्रन्थों के अधिकांश रचयिता मदुरा अथवा पाण्ड्य देश के निवासी थे। इस बात का आधार यह है कि उन आचार्यों के नामों के साथ स्थान वाचकशब्द जुड़े हैं। उदाहरणार्थ, मदुरै तमिलाशिरियर मकनार् (तमिल आचार्य के पुत्र) पूतंचेन्दनार, म० त० मकनार् पूतंचेन्दनार् के शिष्य कारियाशान् और कणि मेदैयार, मदुरै कण्णङ् कूत्तनार्, मदुरै कूडलूर् किळार्, पारोक्कत्तु (पाण्डिय देश का एक भाग) पुल्लंकाडनार्, मारन् पॉरैयनार् आदि।

नलडि नानूरु और पळमॉळि नानूरु

'नालडि नानूरु' का अर्थ है चार चरणवाले चार सौ छन्द। इसे 'नालडियार' भी कहते हैं। यह चार सौ छन्दों का उत्तम संग्रह है, जिनके रचयिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक जैनाचार्य थे। इसे जैनसम्प्रदाय का स्मृति-ग्रंथ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के बारे में एक अनुश्रुति प्रचलित है—

"एक समय पांड्य देश में भारी अकाल पड़ा। उस समय वहाँ सहस्रों जैनाचार्य रहते थे। दुर्भिक्ष की भीषणता जब असह्य हो गयी, तब जैनाचार्यों ने उपहारस्वरूप एक-एक पद्य रचकर पांड्यनरेश को अर्पित कर, वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उन पद्यों में से बहुत-से पद्य तो विनष्ट हो गये थे। शेष बचे हुए चार सौ पद्यों का संग्रह ही, बाद में 'नालडि नानूरु' या 'नालडियार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

इस संग्रह की मधुरिमा से मुग्ध होकर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० पोप ने उस संग्रह के कई गीतों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ तिरुक्कुरळ् की तरह विषयविभाजन के आधार पर अधिकारों (अध्यायों) में वर्गीकृत नहीं है। इसमें कई अद्भुत तत्त्वों का मार्मिक वर्णन है। ऐसे सरल, सुबोध तथा अचूक प्रभावपूर्ण सुन्दर नीतिपद्य अन्यत्र शायद ही मिलें। कई पद्यों में संस्कृत के नीतिश्लोकों का भावावतरण अवश्य हुआ है, फिर भी उनमें तमिल वाणी की सहज मधुरिमा एवं विशिष्ट अभिव्यंजना अवश्य भरी हुई हैं।

'नालडियार' संग्रह में जैनधर्म के जीवनसम्बन्धी तथा जनमंगलकारी अधिकांश मूल तत्त्व हैं, जो बड़े मार्मिक शैली में लिखे हुए हैं। पदुमनार् नामक जैनाचार्य ने इन चार सौ पद्यों का सङ्कलन किया और उन पद्यों को अधिकारों (अध्यायों) में विभक्त किया। उन्होंने ही इस संग्रह की सुंदर व विशद व्याख्या भी तमिल में की।

काल-निर्णय

'नालडियार' संग्रह में 'मुत्तरैयर्' नामक सामन्त राजाओं का उल्लेख मिलता है। 'मुत्तरैयर्' तीनों राजाओं (पाण्ड्य, चोल और पल्लव) के सामन्तों का नाम मालूम होता है। 'तरैयर्' ही सामन्त या छोटे राजा का उपाधिनाम था। पल्लव तरैयर पाण्ड्य तरैयर आदि नाम इतिहास में पाये जाते हैं। इन सामन्तों ने सातवीं शती में पल्लव महाराजाओं की सहायता कर बड़ी ख्याति प्राप्त की। ये पांड्य देश के तंजावूर को अपनी राजधानी बनाकर शासन करते थे।

'नालडियार' के सङ्कलनकर्ता आचार्य पदुमनार ने अपने समकालीन पेरु-मुत्तरैयर नामक सामन्त का उल्लेख किया है। कुछ इतिहासवेत्ताओं का कहना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि सातवीं शती के पेरुंपिडुकु मुत्तरैयर का ही नाम पेरुमुत्तरैयर होना चाहिए। सातवीं शती के मध्यवर्तीकाल में पल्लवनरेश परमेश्वर पल्लवन् की उपाधि 'पेरुंपिडुकु' थी। अतः यह सिद्ध होता है कि सामन्त पेरुमुत्तरैयर परमेश्वर पल्लवन् का समर्थक राजा था और 'नालडियार' ग्रन्थ का सङ्कलन सातवीं शती में ही हुआ था।

यद्यपि इस ग्रंथ का सङ्कलन सातवीं शती में हुआ था, फिर भी रचनाकाल उससे पूर्व था। उसके कई पद्य 'आडूउ मुन्निलै' (पुरुष सम्बोधक) और 'मकडूउ मुन्निलै' (स्त्री सम्बोधक) की प्राचीन पद्धति में रचे गये हैं। 'कानकनाडन्' (काननदेशीय); 'मलैनाडन्' (पर्वत प्रदेशीय), 'कडर्करै चेर्प्पन्' (समुद्रतट देशीय) आदि नरेशों के नाम उन पद्यों में उपलब्ध हैं, किन्तु पता नहीं ये राजा किस काल और राज्य के थे। भाषा और शैली की दृष्टि से 'नालडियार' के पद्य 'तिरुक्कुरळ्' के बाद रचे हुए प्रतीत होते हैं।

पऴमॉऴि नानूरु

'पऴमॉऴि नानूरु' (चार सौ धार्मिक लोकोक्तियों का पद्यात्मक ग्रन्थ) भी जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करनेवाली कृति है। इसके रचयिता थे जैनाचार्य मुन्तुरै अरैयनार। मुन्तुरै पाण्ड्य देश के एक स्थान का नाम है। उस स्थान के निवासी होने के कारण उन्होंने अपने नाम के साथ 'मुन्तुरै' को जोड़ लिया होगा।

इस 'पऴमॉऴि नानूरु' ग्रंथ का मंगलाचरण अर्हंत् भगवान् की स्तुति के रूप में है। इसमें कई सुविख्यात संघकालीन महाराजाओं की प्रशंसा की गयी है। अतः यह ग्रंथ निश्चय ही संघकाल के बाद रचित है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि तमिलनाडु में प्रचलित लोकोक्तियों को अन्तिम चरण के रूप में रखकर, पौराणिक कथाओं एवं धार्मिक तत्त्वों के द्वारा लोकोक्ति की निधि की महत्ता स्पष्ट की गई है। वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय—आदि उदात्त भावनाएं आचार्य मुन्तुरै अरैयनार के प्रत्येक पद्य में झलकती हैं। इस ग्रन्थ की शैली से प्रकट होता है कि यह रचना 'नालडियार' संग्रह के पद्यों से भी पूर्ववर्ती है। 'नालडियार' के पद्यों की अपेक्षा इस ग्रंथ की शैली सशक्त एवं गम्भीर प्रतीत होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिरु पंच मूलम् और एलादि

(समुच्चय के अन्तर्गत दो रचनाएँ)

'चिरुपंचमूलम्' सौ पद्यों का एक लघु ग्रंथ है। इसके रचयिता हैं माक्कायन् माणाक्कनार्[1] 'माक्कारि आशान्'। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में, अर्हत् भगवान् की स्तुति में लिखा है—मुऴुदुणर्न्दु मुन्नाऴित्तु मूवादान्' (सम्पूर्ण ज्ञानवाले तथा आदि-अन्त रहित भगवान्)। तमिल की स्वनामधन्य कवयित्री औवैयार के नीतिपद्यों को 'चिरुपंचमूलम्' से प्रेरणा मिली। इस ग्रन्थ में गुरु, शिष्य, सिद्ध पुरुष और कवि के बारे में लाक्षणिक एवं प्रशंसात्मक पद्य हैं। 'आतर्' और 'भूतर्' ये दोनों शब्द मूर्खवाचक अर्थ में इनके समय में प्रयुक्त किये गये थे, जिसका प्रमाण इस लघु ग्रन्थ के पद्यों में ही मिलता है। अतः 'तिरिकडुकम्' के रचयिता 'नल्लातनार्' ('आतर्' का दूसरा रूप ही 'आतनार्' के बाद ही, अर्थात् तीसरी या उसके परवर्ती शती में ही, इस 'चिरु पंच मूलम्' की रचना हुई होगी। 'नल्लातनार्' उत्तम गुरु या अर्हत् भक्त के शिष्ट अर्थ में पहले व्यवहृत हुआ था। बाद के शैवाचार्यों ने अर्थ वैपरीत्य का प्रचार व्यंग्य-प्रयोग द्वारा किया होगा; जैसे कि 'बुद्ध' शब्द का 'बुद्धू' (मूर्ख) रूप प्रचलित हुआ।

इस ग्रन्थ में जीव हिंसा को घोर पाप के रूप में प्रभावपूर्ण ढंग से दर्शाया गया है और साथ ही, जीव-रक्षा की महत्ता भी अच्छी तरह दर्शायी है। इस ग्रन्थकर्ता का मत है कि जो धर्माचरण से अविचलित रह चुके हैं, वे ही राजा के रूप में अवतरित होते हैं।

'चिरु पंच मूलम्' का व्यंजक एवं व्यवहार-प्रचलित अर्थ है, पांच कन्दों से बनी औषध (लेह्य)। इसी प्रकार, इस ग्रन्थ में पांच उत्तम धर्मतत्त्वों को व्यक्त करनेवाले जैनधर्म का तथ्यपूर्ण वर्णन है।

एलादि

यह भी जैनधर्मविषयक लघु ग्रन्थ है। इसके रचयिता 'कणिमेधावियार' हैं। इनको 'कणिमेधैयार' भी कहते हैं। ये पूर्वोक्त 'चिरु पंच मूलम्' के रचयिता माक्कारि आशान् के सहपाठी थे। 'एलादि' का अर्थ है 'इलायची आदि', तात्पर्य यह है कि इलायची आदि छह वस्तुओं को मिलाकर बनायी गयी

---

१. इसका अर्थ है, आचार्य माक्कामन् के शिष्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

औषध और इसी प्रकार यह ग्रंथ भी जनजीवन को पवित्र एवं स्वस्थ बनाने वाले छह उत्तम धर्मों का वर्णन करता है। छह उत्तम धर्मों का सम्मिलित निर्देश होने से यह भी 'एलादि' औषधि के समान तन-मन को स्वस्थ तथा पवित्र बनाता है।

कणिमेधैयार ने पूर्वसंचित पुण्य की अवश्यंभाविता पर जोर दिया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने मुक्ति की महत्ता और उसे प्राप्त करने के उपायों का सुंदर वर्णन किया है। विद्या और शिक्षा की महत्ता को ही इन्होंने अधिक उपादेय समझा। 'विद्याधनं सर्वधनात् प्रधानम्', 'विद्याभूषणमेव भूषणम्' आदि भाव इनके पद्यों में अधिक पाये जाते हैं।

इन्हीं कणिमेधैयार ने नायक-नायिका भाव और स्वस्थ गार्हस्थ्य जीवन पर 'तिणैमालै नूट्रैम्पदु' नामक डेढ़-सौ पद्योंवाले दूसरे ग्रंथ की रचना की। इसी प्रकार के ग्रन्थों में कार नार्पदु, ऐंतिणै ऐंपदु, ऐंतिणै एळ्पदु, तिणै मोळि ऐंपदु और कैन्निलै उल्लेखनीय हैं, जो जैनेतर कवियों द्वारा रचित होने पर भी समुच्चय के अठारह लघु ग्रंथों के अन्तर्गत हैं। इनके द्वारा तत्कालीन स्वस्थ पारिवारिक जीवन का पता चलता है और इनमें संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्द अधिक ही पाये जाते हैं।

जैनेतर होने पर भी जैनतत्त्व-प्रभावित ग्रन्थ

'इन्ना नार्पदु' (अहित चालीसी), 'इनिय नार्पदु' (हित चालीसी), 'तिरि कडुकम्', 'नान् मणि घटिकै', 'आचार कोवै', 'मुदु मॉळि कांजि' आदि ग्रंथ जो उक्त समुच्चय के अंतर्गत हैं, जैनेतर कवियों द्वारा विरचित होने पर भी, प्रधानतया जैनधर्म तत्त्वों का समर्थन करते हैं।

'ऊनैत् तिन्रु ऊनैप् पॅरुत्तल् मुन् इन्ना' मांस-भक्षण कर मांस को (अपने शरीर को) बढ़ाना पाप या अहित है। 'इन्ना नार्पदु' का यही उपदेश 'इनिय नार्पदु' ग्रंथ में भी है। उसमें कहा है, 'ऊनैत् तिन्रु ऊनैप् पॅरुक्कामै मुन् इनिदे' मांस खाकर मांस (शरीर) को न बढ़ाना ही अच्छा या हितकारी है।

इसी प्रकार 'तिरुकडुकम्' में भी इस उपदेश का दूसरा रूप दिया गया है कि 'जो रोज मांसभक्षण करता हुआ, दूसरे जीव से स्नेह करने का दम्भ भरता हो, उसके उस ढोंगी स्नेह से क्या लाभ है ?' 'नान् मणि घटिकै' में जीवहत्या, आमिषभोजन आदि का प्रभावपूर्ण ढंग से खंडन है। इन सब धार्मिक तत्त्वों के उपदेश संघकालीन ग्रंथ 'पट्टिनप्पालै' में भी गौण रूप में हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो 'पतिनॅण् कीळ्कणक्कु' के समय में प्रधान वर्ण्य विषय थे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवनोपयोगी धार्मिक तत्त्व अपने विपक्षी या विरोधी सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित होने पर भी शैव, वैष्णव आदि कवियों ने उनका समादर किया और यथासम्भव उनको जनमन में बिठाने का प्रयास भी किया।

'पतिनॅण् कीळ् कणक्कु' की अन्य विशेषताएँ

इन ग्रंथों द्वारा तत्कालीन सामाजिक दशा का पता चलता है। 'चिरु पंच मूलम्' के एक पद्य का आशय यह है कि चमड़े के नकली बछड़े को पास में खड़ाकर दूध दुहते हैं, ऐसे निकृष्ट दूध को, जिसकी पवित्र पेय पदार्थों में मुख्य गणना है, शिष्ट लोग छूना भी पाप समझेंगे। भ्रूणहत्या, गर्भपात, शिशुमरण, अकालमृत्यु आदि उस समय की सहज घटनाएँ थीं। 'इनिय नार्पदु' में 'शिशुओं को स्वस्थ रखना परम हित है' का उपदेश है। 'चिरु पंच मूलम्' में भ्रूणहत्या, गर्भपात आदि को घोर पाप कहकर, कुमारी कन्याओं की रक्षा और देखरेख बड़ी सावधानी से करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। 'अत्युत्कटैः पुण्यपापैः इहैव फलमश्नुते' पुण्य या पाप की अति हो जाने पर, उसका फल इसी जन्म में मिल जाता है—इस तत्त्व का समर्थन इन ग्रंथों में अधिकतर हुआ है।

दान को परम धर्म मानने की जो परम्परा पुराने समय से चली आयी है, उसमें परिस्थिति के अनुकूल कुछ सुधार भी इन ग्रंथकर्ताओं ने किये और उनको भी धर्म का चोला पहनाकर जनता के समक्ष पेश किया। अपना सबकुछ निछावर करके भी अपनी दानशीलता का परिपालन करनेवाले पारिवळ्ळल्, कुमणन्, पेकन्, कर्ण, हरिश्चन्द्र आदि महादानियों की गुणगाथा गानेवाली साहित्य-परम्परा में एक नूतन प्रक्षिप्त रीति का समावेश कर दिया जैनाचार्यों ने।

'इन्ना नार्पदु' (अहित चालीसी) की एक पंक्ति देखिए, 'इन्ना पॉरुळिल्लार वण्मै पुरिवु' (अपने पास पर्याप्त धन न रखनेवालों के लिए दानी बनना अहितकर है)।" इसी मत का पृष्ठपोषण 'इनिय नार्पदु' (हित-चालीसी में इस प्रकार हुआ है, 'वरुवायरिन्दु वळंगल् इनिदे' (आमदनी के अनुसार ही दानपुण्य करना हितकर है)। इस विषय में 'तिरिकडुकम्' का उपदेश देखिये, 'वरुवायुळ् काल् वळंगि वाळ्दल् (आमदनी का एक चौथाई हिस्सा दान में बाँटना सफल जीवनयापन करनेवाले का कर्तव्य है।')

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके अतिरिक्त कर्ज न लेना भी धर्माचरण माना गया। 'कडमुण्डु वाळ्दामै काण्डलिनिदे (ऋणी न बनकर जीना ही हितकर है)—'इनिय नार्पदु'।

संस्कृत प्रभाव

'पतिनॅण् कीळ्कणक्कु' संग्रह के ग्रंथों में संस्कृत के स्मृति तथा नीति-ग्रंथों का प्रभाव भी पर्याप्त रूप में दिखाई देता है। इस संग्रह के एक ग्रन्थ 'आचार कोवै' के रचयिता पॅरुवायिल् मुळ्ळि के बारे में एक पद्यांश बताता है कि पुराने ग्रंथों एवं आचार्यों द्वारा प्राप्त किये सदाचारों को संगृहीत कर सुबोध भाषा में उक्त विद्वान् ने यह ग्रंथ लिखा। प्रचलित जन-प्रथाओं का वर्णन भी इसमें है। उदाहरणार्थ, भोजन आरम्भ करने के पूर्व हथेली पर जल लेकर 'परिषेचन' (थाली या पत्तल की मंडलाकार जलरेखा बनाना) करना आदि दैनन्दिनी आचार-प्रथाएं वर्णित हैं। संस्कृत के आचारग्रंथों में बताया गया है कि बिना परिषेचन किये खाने से, भोजन अपवित्र ही नहीं होता, बल्कि भूत-पिशाचादि उसके पोषक तत्त्व को ले जाते हैं। किन्तु तमिल के 'आचारकोवै' में बताया गया है, "बिना स्नान किये, पैर धोये और परि-षेचन किये खाने पर भी इतना पाप नहीं, जितना केवल कुल्ला तक न करके खाने से लगता है।" इससे उक्त ग्रन्थकर्ता का आशय यह मालूम होता है कि केवल कुल्ला करके भोजन करना भी मान्य आचार ही होगा। अतः कुछ स्मृतियों तथा आचार ग्रन्थों के पूर्व ही इसकी रचना हो चुकी होगी, ऐसा लगता है।

दायभाग के जो नियम स्मृतिग्रंथों में वर्णित हैं, उनको जैनाचार्यों ने भी अपने उन लघुग्रंथों द्वारा अनुकरणीय बताया है। ये नियम दक्षिण के लिए शायद जैनाचार्यों द्वारा ही संस्कृत से लाये गये मालूम होते हैं। जैना-चार्य कणि मेधावियार ने अपने ग्रन्थ 'एलादि' में दायभाग के बारे में जो नियम बताया है, उसका पद्य यह है—

"माण्डवर् माण्ड अरिविनाल् मक्कळैप्
पूण्डवर् पोट्रि पुरक्कुंगाल्—पूण्ड
ओरसने[1] कोत्तिरचन्[2] कानीनन्[3] कूटन्[4]
किरितन्[5] पौनर्भवन्[6] पेर्.

---

१. औरस (पुत्र)। २. गोत्रज। ३. कानीन।
४. गूढपुत्र। ५. क्रीतपुत्र। ६. पुनर्भविक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In-Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत्तम् मयिलन्न शायलाय् मन्नियं शीर्
दत्तन्[१] चकोटन्[२] किरित्तिरमन्[३]—पुत्तिरि-
पुत्रन्[४] पवित्तनोडु[५] पॉय्यिलुपकृतन्[६]
इत्तिरत्त एंबिनार् पेर्.

पिता के देहावसान के उपरान्त उनकी सम्पत्ति के ये बारह पुत्र क्रमशः उत्तराधिकारी हो सकते हैं और इनमें औरस पुत्र को छोड़कर अन्य प्रत्येक पुत्र अपने से पूर्व-निर्दिष्ट पुत्र के न होने की स्थिति में ही पैतृक सम्पत्ति का भागीदार हो सकता है।

इन अठारह लघुग्रन्थों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—शब्दलाघव, संगत उपमा, रोचक तथा प्रभावपूर्ण दृष्टान्तरूप उपकथाएँ, सरल सरस भाषा और अभिव्यंजना। तमिल की लोकप्रिय तथा स्वनामधन्या कवयित्री औवैयार तथा अन्य आचार्यों द्वारा रचित एवं सर्वाधिक समादृत नन्नॅरि, नीतिनॅरि-विळक्कम्, नल् वळि; वाक्कुण्डाम्, नीतिनूल्, अरनॅरिसारम् आदि नीतिग्रंथों का प्रेरणास्रोत 'पतिनॅण् कीळ्कणक्कु' संग्रह ही है।

जैनाचार्यों ने बौद्ध भिक्षुओं की तरह साधारण जनता की सेवा विद्याभ्यास, स्नेहपूर्ण सहयोग तथा हार्दिक सहानुभूति द्वारा की और उस युग के अधिकांश जैनाचार्य लब्धप्रतिष्ठ वैद्य भी थे। अतः सेवा-शुश्रूषा के साथ अच्छी औषधियों द्वारा जनता की चिकित्सा कर लोकप्रियता एवं श्रद्धा प्राप्त करने का सुयोग जैनियों को प्राप्त था। इसी कारण उन्होंने वैद्य के रूप में जनता से प्राप्त श्रद्धा-आस्था की कृतज्ञतास्वरूप अपने ग्रंथों के नामों में भी 'तिरिकटुकम्' (तीन औषध-वस्तुओं से बनी दवा चूर्ण), एलादि (इलायची-आदि छह वस्तुओं से तैयार किया गया लेह्य औषध), 'चिरु पंच मूलम्' (पाँच कंदों से बनाया गया लेह्य औषध) आदि का प्रयोग किया है।

धार्मिक और नैतिक लघु कथाएँ

जानवरों को मुख्य पात्र बनाकर, उनके आचरण या आख्यान द्वारा धार्मिक और नैतिक तत्त्वों का रोचक ढंग से प्रतिपादन करने की परिपाटी पुरातन काल से चली आयी है। उपनिषदों और इतिहास-पुराणों में भी ऐसी बोधक कथाएँ पायी जाती हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश; बुद्धजातक और ईसप की

---

१. दत्तक। २. सगोत्र। ३. कृत्रिम।
४. पुत्री का पुत्र—दौहित्र। ५. पौत्र। ६. उपकृतपुत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेरक कथाएँ, जो पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर रची गयी थीं, आज भी सार्वजनीन प्रसिद्धि से गौरवान्वित हैं। नेवले-ब्राह्मणी की कथा तमिल महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' में भी प्रवेश पा गयी, और तत्कालीन कई ग्रन्थों में भी उद्धरण, दृष्टान्त आदि के रूप में कई नैतिक कथाएँ पायी जाती हैं। अठारह 'कीळ्कणक्कु' ग्रन्थों में तो मुख्यतया पंचतंत्र, जातक, जैन महापुराण आदि की बोधक नीतिकथाएँ उपलब्ध होती हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसी लोककथाएँ सुदूर देश-विदेश तक फैलकर, वहाँ के साहित्य द्वारा जन-मन में घर कर चुकी हैं। प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' में भी पंचतंत्र की कई रोचक कथाएँ वर्णित हैं। तमिल महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' के रचयिता जैन कवि तिरुत्तक्क देवर् के नाम से 'नरिविरुत्तम्' (गीदड़ का वृत्तान्त) नामक एक छोटा पद्य ग्रन्थ पाया जाता है। इसमें पंचतंत्र के 'मित्रलाभ' की कथा सुन्दर पद्यों में वर्णित है।

शैव संत साहित्य 'तेवारम्' में इस बात का उल्लेख है कि जैनाचार्यों ने धार्मिक और नैतिक तत्त्वों को जनसाधारण में प्रसारित करने के उद्देश्य से मुख्यतया बालोपयोगी साहित्य के रूप में, 'एलि विरुत्तम्' (चूहे की कथा), 'नरि विरुत्तम्', किळि विरुत्तम् (तोते की कथा) आदि छोटे-छोटे पद्य-ग्रन्थों की रचना की। इनमें निर्दिष्ट 'नरि विरुत्तम्' 'गीदड़ वृत्तान्त' से भिन्न है। 'वृत्तम्' का अर्थ छन्द भी है। उसके अनुसार प्राचीन जैनाचार्यों के 'एलि विरुत्तम्' आदि ग्रन्थ 'कलित्तुरै' नामक तमिल छन्द में रचित थे। तमिल में मुख्यतया कलित्तुरै को ही, जिसका अपरनाम 'कट्टळै कलित्तुरै' है, 'विरुत्तम्' (वृत्त) कहते हैं। अतः वे ग्रन्थ 'विरुत्तम्' छन्द में रचे जाने के कारण भी 'एलि विरुत्तम्' आदि नाम पा गये। जैन कवि तिरुत्तक्क देवर् रचित 'नरि विरुत्तम्' में तो 'विरुत्तम्' छन्द नहीं है। अतः उसका अर्थ 'गीदड़ का वृत्त (वृत्तान्त)' लेना संगत होगा।

'किळि विरुत्तम्' सम्भवतया संस्कृत की 'शुक सप्तशती' से सम्बन्धित हो सकता है। जैनाचार्यों ने कई ऐसी लोककथाओं का प्रान्तीय भाषाओं से संस्कृत में अनुवाद किया था। इसकी चर्चा एक श्वेताम्बर जैन विद्वान् ने अपने संस्कृत ग्रन्थ में की है। अतः यह भी सम्भव है कि उक्त 'किळि-विरुत्तम्' आदि नीति-कथाएँ तमिल से ही 'शुक सप्तशती' आदि के रूप में संस्कृत में आयी होंगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनाचार्यों ने साधारणतया धार्मिक और नैतिक तत्त्वों के प्रचार के लिए ऐसी बोधक लघुकथाओं की रचना की थी। देश, काल, परिस्थिति आदि के अनुकूल परम्परागत कथाओं में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी वे कर देते थे। ऐसी प्राचीन और नवीन कथाएँ जैनाचार्यों द्वारा ही तमिल को मिलीं, जो पद्य और गद्य दोनों के रूप में रची गयी थीं। खेद की बात है कि अब तक कई गद्यात्मक नीति-ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुए और वे ताड़पत्रों के रूप में सुरक्षित हैं।

'मणिप्रवाल' शैली (तमिल-संस्कृत मिश्रित शैली) के प्रवर्तन में जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योग रहा। इस बात का उल्लेख शैव 'तेवारम्' में इस प्रकार पाया जाता है कि 'जैनों ने शुद्ध मधुर तमिल (चॅन्तमिळ्) का प्रयोजन नहीं जाना।' मतलब यह हो सकता है कि संस्कृत को आवश्यकता से अधिक मिलाकर तमिल के विशिष्ट एवं स्वतन्त्र स्वरूप को कलुषित कर दिया गया।

जो भी हो, कलभ्रों के शासन-काल में जब कि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के आधिक्य से तमिल की दुर्गति हुई, तब जैनाचार्यों ने ही अपनी साहित्यसेवा तथा धर्मप्रचार द्वारा तमिल की रक्षा की थी। उन्होंने अपने धार्मिक प्रचार का माध्यम बनाया तमिल भाषा को; इसी कारण भाषा तथा धर्म दोनों का साथ-साथ विकास एवं प्रसार होता गया।

जैनाचार्यों के विशुद्ध तमिलप्रेम का एक ज्वलन्त उदाहरण है 'तिरुनाथ कुन्ड्रम्' (श्रीनाथ गिरि) का शिलालेख। यह शिलालेख तमिल के प्राचीनतम अभिलेखों में से है। इसमें उत्कीर्ण तमिल पंक्तियाँ हैं—"ऐंपदेळ् चैनम् नोट्र चंतिर नंति आचिरिकर् निचीतिकै अर्थात् सत्तावन जैन-साधुओं की परिचर्या या आराधना (सेवा) करनेवाले चन्द्रनन्दी···आचार्य की निचीतिका (?)।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. काप्पियम्—१

शिलप्पधिकारम्

'काप्पियम्' (काव्यग्रन्थ) या 'तॉडर निलैचॅय्युळ्' (एक विषय या चरित पर आधारित पद्यसमूह) संघकाल में प्रचलित नहीं हुए। 'पॅरुम् पंच काविय्म्' या 'ऐम्पॅरुम् काप्पियम्' (पंच महाकाव्य) और 'चिरु पंच काविय्म्' या 'ऐंचिरु काप्पियम्' (पंच लघुकाव्य) के नाम पर बाद में ही विभाजन हुआ था। पंच महाकाव्य ये हैं :—

१. शिलप्पधिकारम्, २. मणिमेखलै, ३. जीवक चिन्तामणि, ४. कुण्डल केशी और, ५. वलैयापति।

'शिलप्पधिकारम्' के रचयिता

शीर्षस्थानीय महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' के रचयिता श्री इळंगो अडिगळ् थे। वे काव्य के प्रमुख पात्र चेरनरेश चेंगुट्टुवन् के छोटे भाई थे। इस महाकाव्य की असाधारण विशेषता यह है कि इसका चरितनायक कोवलन् एक साधारण वणिक् है और चरितनायिका भी उनकी पत्नी कण्णकि, जो वणिक्पुत्री थी। वणिक् पूर्व प्रथानुसार राजा, महाराजा या किसी अवतार पुरुष को चरितनायक न मानकर, एक वणिक्-युवक और उसकी पत्नी को प्रमुख पात्र बनाने की शुरुआत इसी काव्य से हुई है। अतः इससे पता चलता है कि उस काल में वणिकों की समाज में खूब प्रतिष्ठा थी।

काव्य कथा

कोवलन् और कण्णकि दोनों के आनन्दमय जीवन में, सुन्दर नर्तकी माधवी का प्रवेश खलबली मचा देता है। भोगलिप्सु कोवलन् माधवी के मोहपाश में पड़कर सती कण्णकि को भूल जाता है। जब सारी सम्पत्ति माधवी की भेंट चढ़ गयी तो कोवलन् को स्वयं अपनी दीन दशा पर ग्लानि होती है। अब माधवी की मीठी उपहासभरी झिड़कियाँ उसके खिन्न मन में गड़ने लगीं। वह प्रेयसी से रूठकर हमेशा के लिए उसे छोड़, अपनी पत्नी कण्णकि के पास चला जाता है। कण्णकि के एक बहुमूल्य नूपुर को बेचकर उससे फिर व्यवसाय करने का निश्चय करता है। दोनों अपने जन्मस्थान, पूम्पुहार नगरी को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर, पाण्ड्य राजधानी मदुरै की ओर चल पड़े। मार्ग में जैन साध्वी कवुन्ति अडिगळ् के दर्शन हुए। उस सभ्य एवं गुणी दम्पति के प्रति जैनसाध्वी का स्नेह सहज ही उमड़ आया और उन्होंने दोनों को जैनधर्म के सिद्धान्तों का विशद् ज्ञान कराया। वे सती कण्णकि के सदाचरण तथा उत्तम व्यक्तित्व से इतनी प्रभावित हुईं कि उसको 'कर्प्पुं कडवुळ्' (पातिव्रत्य की देवी) के नाम से विभूषित करने लगीं।

तीनों मदुरा नगरी पहुँचे। मार्ग में ही कोवलन् को अपनी प्रेयसी माधवी के प्रेम की जानकारी एक ब्राह्मण द्वारा मिलती है। मदुरा नगरी की सीमा-वर्ती ग्वालों की बस्ती में, जैनसाध्वी कवुन्ती अडिगळ् की अभ्यर्थना पर, एक ग्वालिन के अतिथि बनकर कोवलन्-कण्णकि ठहरे। कोवलन् अपनी पत्नी से एक नूपुर लेकर, उसे बेचने के लिए शहर में गया और राजपथ में एक दर-बारी स्वर्णकार से उसकी भेंट हुई। वह स्वर्णकार धूर्त और चोर था। उसने पहले ही महारानी का मरम्मत के लिए प्राप्त एक नूपुर हड़प लिया था। संयोग से, ऐन मौके पर कोवलन् अपनी पत्नी के नूपुर के साथ उसके चक्कर में फंस गया। खास बात यह थी कि महारानी का नूपुर और कोवलन् का नूपुर दोनों एक जैसे दीखते थे। इसलिए चालाक स्वर्णकार को अपनी चाल चलने का एक अवसर मिल गया। वह कोवलन् को एक स्थान पर बिठाकर, तुरन्त पाण्ड्य नरेश के पास पहुँचा और कोवलन् को महारानी के नूपुर का चोर बताया। उस समय पाण्ड्यनरेश प्रणयकलह के कारण रूठी हुई अपनी रानी को मनाने के लिए जल्दी जा रहा था। एक तो कामोद्रेक से उसकी मति असंतुलित थी, और दूसरे, महारानी से सम्बन्धित शिकायत थी। अतः तुरन्त राजा ने, "अगर चोर हाथों हाथ मिल ही गया हो, तो उसे मारने के लिए ले आओ!"—यह कहने के बदले क्रोधावेश में यह कह दिया कि "उस चोर को मारकर आओ।"

राजाज्ञा शीघ्र ही कार्यान्वित की गयी। यह दुःखद वृत्तान्त कानोकान शहर भर में फैल गया। जब कण्णकि ने सुना, तो शोकविह्वल हो मूर्च्छित हो गयी। वह पतिव्रता एक ओर अपने प्राणप्रिय भर्ता के अन्यायपूर्वक मारे जाने से असीम दुःखी थी, तो दूसरी ओर गुणी पतिदेव पर चोरी का मिथ्या अप-राध लगने का उसे असह्य सन्ताप भी था। क्रोधाविष्ट कण्णकि मुक्तकेशिनी बन सीधे पांड्य राजा की सभा में गयी और उसे ललकारती हुई बोली, "मेरे पति देव निर्दोष हैं। मेरे पास इसका प्रमाण है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुरन्त कण्णकि ने अपने पति के छीने गये नूपुर को भरी राजसभा में जोर से पटक दिया। आश्चर्य ! उस टूटे नूपुर में से चमकते माणिक निकलकर चारों ओर बिखर पड़े। रानी के नूपुर में तो पांड्य देश के सम्पत्ति स्रोत मोती भरे हुए थे। अब रहस्य खुल गया और पांड्य राजा को अपने निकृष्ट अन्याय पर इतना दुःख हुआ कि तत्काल ही उसकी हृदयगति रुक गयी और वहीं सिंहासन से नीचे गिरकर निष्प्राण हो गया। उसकी देवी भी पतिवियोग की ज्वाला से झुलसकर वहीं 'सती' हो गयी। शोक एवं क्रोध से संतप्त सती कण्णकि का हृदयताप इससे भी शांत नहीं हुआ। ऐसे भ्रष्टाचारी वंचक स्वर्णकार और वासना के वश में पड़कर न्यायतुला से विचलित पाण्ड्य नरेश की राजधानी को भस्मसात् कर देना ही कण्णकि को उचित प्रतीकार जँचा। उसने अपने दाहिने स्तन को मरोड़कर अलग किया और रुधिरसिक्त उस स्तन-मांस को मदुरा नगरी पर फेंक दिया। रक्त पड़ते ही सहस्रों ज्वालाओं के साथ भीषण अनल ने मदुरा को घेर लिया; और पल-भर में वह नगर अग्नि शिखाओं का ग्रास बन गया। उस समय मदुरा नगरी की अधिष्ठात्री देवी कण्णकि के सामने प्रकट होकर बोली, "ये सब दुर्घटनाएँ पूर्व-जन्मकृत कर्म के फल हैं। अतः तुम दुःखी मत होओ।" और, उसी देवी के निर्देशानुसार कण्णकि शान्त होकर वैगैनदी के किनारे से पांड्यदेश छोड़कर चेरदेश (केरल) की ओर पैदल ही चल पड़ी। पन्द्रहवें दिन चेरदेश की सीमावर्ती एक पहाड़ी पर 'वेंगे' वृक्ष के नीचे पहुँची। उस समय देवपुरुष के रूप में कोवलन् एक विमान पर आरूढ होकर नीचे उतर आया और अपनी सती-साध्वी पत्नी कण्णकि को साथ लेकर गगनपथ से चला गया। इस अद्भुत दृश्य को वहाँ के 'कुरवर्' नामक पहाड़ी लोगों ने देखा और तुरन्त जाकर चेरनरेश चेंगुट्टुवन् से अपनी आँखोंदेखी घटना का वर्णन किया। चेरनरेश सती कण्णकि का सारा वृत्तान्त अपने मित्र एवं कविवर चात्तनार से सुनकर गद्गद हो गया। श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित हो उसने निश्चय किया कि हिमालय से शिला लाकर सती देवी कण्णकि की मूर्ति बनवाई जाय, अतएव दल-बल सहित चेरराजा ने उत्तर की ओर विजययात्रा की और मार्ग में संघर्ष करने वाले उत्तर भारतीय नरेशों को परास्त किया। मुख्यतया कनक और विजय नामक दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को 'कुयिलालुवम्' (हिमाचल में एक स्थान)[१]

१. व्याख्याता ने इस स्थान के बारे में लिखा है कि यह हिमगिरि पर अवस्थित है और यहाँ एक अर्धनारीश्वर का मन्दिर था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामक प्रदेश पर रणांगण में पराजित किया। और चेंगुट्टुवन् हिमालय से लायी शिला को गङ्गा में नहलाकर, उन पराजित नरेशों के सिरों पर लदवाकर अपनी राजधानी लौट आया। उसे मन्दिर में विधिवत् प्रतिष्ठित किया। उस समय कण्णकि देवी स्वयं प्रकट रूप में आविर्भूत होकर चेरनरेश को आशीर्वाद देती हैं, पाण्ड्यनरेश का अपराध क्षमाकर उसे पितातुल्य कहकर उसकी प्रशंसा करती हैं। इस महोत्सव में भाग लेनेवालों में सिंहल (लङ्का) के तत्कालीन राजा कयवाहु (गजबाहु) भी थे और उत्तर भारत से बन्दी बनाकर लाये गये राजा कनक और विजय दोनों को चेरनरेश ने मुक्त कर सम्मान्य मित्र बना लिया।

'शिलप्पधिकारम्' का नामकरण

इस महाकाव्य के तीन प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं, (१) प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वजन्म के कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। (२) पतिव्रता स्त्री की मनुष्य ही नहीं, देवता भी पूजा करते हैं। और (३) जो शासक जनमंगल-प्रेरित प्रजापालन के अपने पवित्र कर्तव्य से च्युत हो जाता है, वह विनष्ट हो जाता है।

इन्हीं तीन मुद्दों के आधार पर इस काव्य की रचना हुई है। एक अबला (स्त्री) पातिव्रत्य की निष्ठारूपी अनल में अपने ज्ञात-अज्ञात दोषों को जलाकर तप्त, स्वच्छ स्वर्णमूर्ति-सी प्रकाशित होती है—यह भी इस काव्य का एक सन्देश है।

इस उत्प्रेरक कथा की अन्तर्मुखी भावनाएँ वस्तुतः नूपुर को माध्यम बनाकर ही ध्वनित होती हैं। सती कण्णकि अपने शुभ विवाह के अवसर पर नूपुर पहन लेती है और जब पति कोवलन् उसकी अवहेलना कर नर्तकी माधवी के प्रेम-पाश में फँस जाता है, तब वह नूपुरों को अपने पैरों से निकाल देती है। माधवी से रूठकर जब कोवलन् वापस लौट आया, तो व्यवसाय चलाने के लिए एक नूपुर सन्दूकची से निकालकर कण्णकि पति को सौंप देती है। पावन सतीत्वचिह्न की यही विलक्षण महिमा थी कि सती कण्णकि के पैर को अलंकृत करनेवाली वस्तु कदापि बेची नहीं जा सकती और उसे पण्य वस्तु बनाने का परिणाम भयंकर होगा। अंततः यही हुआ। इसका फल न केवल कोवलन् को, बल्कि समस्त मदुरावासियों को भी भोगना पड़ा—अपने प्राणों की बलि चढ़ाकर! उस नूपुर को अपहृत करनेवाले सुनार का सारा वर्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही आग में झुलसकर मरा और उसी के कारण पाण्ड्य नरेश की मृत्यु हुई, साथ ही पति वियोग से तड़पती हुई महारानी भी मर गयी। अंत में, सती कण्णकि देवी के रूप में प्रसन्नता के साथ चेरनरेश चेंगुट्टुवन् को दर्शन देती है और उस समय उसके पैरों को नूपुर अलंकृत करते हैं। इस प्रकार नूपुर इस काव्य की प्रमुख घटनाओं के लिए केन्द्रवर्ती अवलंब बन गया है। इस कारण इस महाकाव्य का नाम 'शिलम्बु को अधिकृत किया गया काव्य' के अर्थ में ये 'शिलप्पधिकारम्'[1] पड़ा।

कवि का साम्प्रदायिक पक्ष

कविवर इळंगो अडिगळ् जैनसाधु माने जाते हैं। कुछ लोग उन्हें शैव भी मानते हैं। दोनों मान्यताओं के विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके बड़े भाई चेरनरेश चेंगुट्टुवन् शिवभक्त थे। अतः परम्परा से ये भी शैवमतावलम्बी हो सकते हैं। किन्तु काव्यवर्णन में जैन धर्म की जितनी प्रमुखता है, अन्य मतों की नहीं है। काव्य के चरित नायक कोवलन् और उसकी पत्नी कण्णकि दोनों जैन धर्म के अनुयायी थे। उनकी मार्गदर्शिका एवं उपदेशिका कवुन्ति अडिगळ् जैन साध्वी ही थी। इस साध्वी के मुँह से ही नहीं, जैन काव्य की पद्धति के अनुसार, दो चारणों, ऋद्धिधारी (गगनचारी) साधुओं के द्वारा भी जैन धर्म का विशद् वर्णन कवि ने कराया है। अतः इस 'शिलप्पधिकारम्' को जैन काव्य मानना ही संगत होगा।

कवि इळंगो अडिगळ् की विशेषता यही है कि उन्होंने तटस्थ तथा समादर भाव से उस काल में प्रचलित एवं प्रख्यात समस्त धर्मों का प्रामाणिक एवं सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार उनके काव्यपात्र भी अपने-अपने धर्म, गुण एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में सहज-स्वाभाविक हैं, सम्पूर्ण हैं।

यही कारण है कि कोई भी समीक्षक अथवा अन्वेषक इळंगो अडिगळ् को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का पक्षपाती साबित नहीं कर पाता। यद्यपि वे जैन धर्मानुयायी थे, तथापि उन्होंने वैष्णव तथा शैव मत का वर्णन इतनी उत्तम रीति से किया है कि पाठक उनके सर्वधर्मसमभाव या समन्वयदृष्टि का आदर किये बिना नहीं रह सकता। जब श्रमणधर्म (जैन धर्म) का वर्णन करते हैं,

---

१. तमिल में 'शिलम्बु' का अर्थ है नूपुर, और संधि नियमानुसार शिलम्बु+आधिकारम्='शिलप्पधिकारम्' बना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब कवि स्वयं श्रेष्ठ जिनधर्मी मालूम होते हैं; जब 'कुरवर्' (भील जैसे पहाड़ी व्याध लोग) लोगों के द्वारा किये गये 'मुरुकन्' (कार्तिकेय) की स्तुति-गाथा का प्रसंग आता है, तो प्रतीत होता है कि कवि स्वयं 'मुरुकन्' के उपासक हैं। जब 'वेडुवर्' (काननवासी व्याध) लोगों द्वारा की गयी कालीदेवी की पूजा का वर्णन आता है, तो संदेह होता है कि यह कवि काली-उपासक तो नहीं है ? और, इसी प्रकार ग्वालों के द्वारा गोपाल-कन्हैया (विष्णु) की पूजा के उपलक्ष्य में किये गये 'आय्चियर् कुरवै' (ग्वालिनों का गान सहित सामूहिक नृत्य) का सजीव वर्णन पढ़कर पाठक अवश्य कविवर को किसी वैष्णव भक्तकवि आळ्वार का प्रतिरूप समझेंगे। प्रत्येक धर्म एवं देवता के वर्णन में कविश्रेष्ठ ने तत्तद् धर्मावलंबी भक्तों की श्रद्धा एवं स्वानुभूति का सजीव दर्शन कराया है। इस प्राचीन महाकाव्य में इतनी उदार भावना का समावेश सचमुच असाधारण महत्त्व की बात है।

मंगलाचरण

काव्य का प्रारम्भ "तिंगळै पोट्टुम्···" (चन्द्रमा की वंदना करेंगे····) से होता है। यही काव्य का मंगलाचरण है। कवि प्रकृतिपूजक अथवा विशिष्ट देवतापूजक भी नहीं है। कवि का उद्देश्य तो चोलनरेश और उनकी राजधानी पुम्पुहारनगरी की प्रशस्ति करना रहा है। परवर्ती व्याख्याकारों ने भी एक स्वर से कवि के इसी आन्तरिक उद्देश्य का समर्थन किया है। कवि यह नहीं चाहते थे किसी भी मतावलंबी की यह धारणा बने कि कवि अमुक मत या सम्प्रदाय का पोषक और प्रचारक है। पात्रों के व्यक्तित्व एवं विशेषताओं का निर्वाह तथा प्रासंगिक रूप में जैनधर्म के तत्त्व का इतने सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है कि वह अन्य धर्मानुयायियों के लिए अनुकरणीय उदाहरण है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का ही विशद् वर्णन 'शिलप्पधिकारम्' में नहीं हुआ, अपितु एक नारी अपने सतीत्वबल से देवी बन जाती है और देश-विदेश में उसके लिए मंदिर खड़े कर दिये जाते हैं और उसकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है। कवि ने नारी के शील, उसकी मर्यादा, महत्ता तथा शक्तिमत्ता का बड़ा ही प्रभावकारी वर्णन किया है।

संघकाल में इसका स्थान

'शिलप्पधिकारम्' में जैन धर्म के तत्त्वों के अतिरिक्त, तमिल के विशिष्ट संगीत, नृत्य और रंगमंच सम्बन्धी कई अद्भुत तत्त्व वर्णित हैं। इसीलिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकांश समालोचक इस महाकाव्य को 'नाटककाप्पियम्' (नाट्यकाव्य) कहते हैं। इसकी तीसों गाथाएँ (कविताएँ) संघकालीन फुटकर कविताओं की तरह अपने में स्वतन्त्र एवं पूर्ण हैं। कथावस्तु एक होने के कारण एक गाथा से दूसरी गाथा का क्रमिक संबंध बना हुआ है, जो संघकालीन कविताओं में अलभ्य है। इसीलिए इस ग्रन्थ को संघसाहित्यधारा का नूतन विकसित प्रतीक कहा जाता है। संघकालीन कविताओं में वीरगाथाओं एवं प्रशस्तियों के साथ-साथ मानवजीवन के साधारण पर पवित्र या प्रशंसनीय पहलुओं का स्वाभाविक चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में है। यह काव्य भी मानव-जीवन की महत्ता तथा पवित्रता का पूर्णतया समर्थक है। इसमें कवि आत्म-विभोर होकर अपनी अनुभूतियों का जो सजीव चित्रण करता है, वह भी संघ साहित्य के प्रभाव का परिणाम है। फिर भी कवि की मौलिक प्रतिभा का चमत्कार पदे-पदे झलकता है। इसलिए कह सकते हैं कि यह महाकाव्य संघकाल के पर्यावसान के समय की अथवा उसके पश्चात् की रचना है। इस काव्य में पल्लवों कां संकेत तक नहीं है, इसलिए इतना तो निश्चित ही है कि पल्लवों के पूर्व ही यह काव्यरत्न निर्मित हो चुका है।

रचना काल

सती कण्णकि द्वारा मदुरै नगरी को भस्मसात् करने की तिथि के बारे में कविवर ने यह निर्देश किया है, 'आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष के शुक्रवार को जब अष्टमी तिथि और कार्तिक नक्षत्र का मिलन होगा, अग्निदेव पाण्ड्य राजधानी मदुरै का विनाश करेंगे और पाण्ड्यनरेश की भी दुर्गति अवश्यंभावी है।'[१] इस तिथि के विषय में तमिल वाङ्मय तथा ज्योतिष-शास्त्र के प्रकांड विद्वान् स्व० एल० डी० सामि कण्णु पिल्लै के अनुसार वह समय ता० २३ जुलाई ७५६ ई० था। आपने अपने इस निर्णय की पुष्टि के लिए महाकाव्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार अडियार्क्कु नल्लार की टिप्पणियों का सहारा लिया है। किन्तु पिल्लैजी दूसरे स्थलों पर मान्य व्याख्याकार की बातों को असंगत साबित करने में भी नहीं हिचके थे। सुविख्यात इतिहासवेत्ता रामचन्द्र दीक्षितर् जी ने एक अधिकारी खगोल शास्त्री के नाते पर्याप्त अनुसंधान के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि मधुरै नगरी ईस्वी दूसरी शती में अनलक-वलित हुई और उन्हीं टिप्पणियों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया

---

१. दे० शिलप्पधिकारम्, मदुरै काण्डम्, पद्य पंक्ति, १३३-३६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन्हें स्वमतसमर्थन में पिल्लैजी ने प्रयुक्त किया है। यहाँ एक बात पर ध्यान देना उचित है कि जब कि पिल्लैजी ने व्याख्याता की टिप्पणी-गत बातों को असंगत माना, तब उनका कालनिर्णय भी, जो प्रायः उस टिप्पणी पर ही अवलंबित है, कैसे संगत माना जा सकता है ? और बाद में श्री दीक्षितर् जी ने अकाट्य प्रमाणों से यह साबित कर दिया कि मदुरै का अग्निकांड दूसरी शती में ही हुआ था। काव्य की अन्य बातों और पहलुओं पर तटस्थतापूर्वक विचार किया जाए तो दीक्षितर् जी का निर्णय ही संगत प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'जीवक चिन्तामणि' 'पेरुं कथै' (बृहत्कथा) आदि काव्यग्रन्थों के निर्माणकाल में ही 'शिलप्पधिकारम्' की भी रचना हुई होगी। शैवसंत साहित्य तेवारम् के समय में संस्कृत और तमिल का साहित्यिक समन्वय प्रारंभ हो चुका था; अतः संभव है कि तत्कालीन विद्वानों तथा कवियों को संस्कृत काव्यशैली का अनुकरण कर अपनी भाषा में भी काव्यग्रन्थ रचने की इच्छा एवं प्रेरणा हुई हो।

'काप्पियम्' (काव्य) शब्द का प्रयोग शिलप्पधिकारम् में नहीं मिलता है। किन्तु विश्व-भर में आदिकालीन महान् ग्रंथों को काव्य या महाकाव्य ही कहा गया है। होमर का ग्रीक भाषा में रचित ग्रन्थ, वाल्मीकि का संस्कृत रामायण ग्रंथ आदि महाकाव्य 'आदिकाव्य' नाम से विख्यात हैं।

तमिल साहित्य में संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव 'अरनानूरु', 'पूरनानूरु' आदि विशिष्ट ग्रन्थों में नहीं के बराबर है। परवर्ती जैन तथा बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत का सम्मिश्रण लोकभाषा और साहित्यिक भाषा में अधिक किया। ई० पू० तीसरी शती के गुहावर्ती शिलालेखों से इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। साम्प्रदायिक एवं भक्तिपरक ग्रंथों में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता सहज है। इसलिए शिलप्पधिकारम् में धर्म तथा देवता संबंधी वर्णनों में संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्द मिलते हैं। मुख्यतया अर्हत् भगवान् की स्तुति वर्णन में पूरी नामावली ही दे दी गयी है।

तत्कालीन तमिल विद्वान् संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन में रुचि रखते थे और सीधे संस्कृत न जाननेवाले भी अनूदित और आधारित तमिल ग्रंथों द्वारा भी अपनी ज्ञानपिपासा शांत कर लेते थे। इसीलिए मयमत, करवटमत एवं भरत के नाटचशास्त्र आदि से भलीभाँति परिचित थे। इसके अतिरिक्त उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय देश में बहुप्रचलित कथाओं (दंतकथाओं, लोककथाओं और पुराण-इतिहास-ऐतिह्य वृत्तान्तों) से वे लोग अनभिज्ञ नहीं थे। पञ्चतन्त्र की ब्राह्मणी नकुलवाली प्रसिद्ध कथा इसीलिए 'शिलप्पधिकारम्' में स्थान पा सकी कि जनमन में सहज ही पैठ गयी थी।

'पतिनॅण्कीळ् कणक्कु' संग्रह और शिलप्पधिकारम्

इळंगो आडिगळ् ने शिलाप्पधिकारम् में तिरक्कुरळ् का उल्लेख किया है। अतः यह काव्य उससे बाद का सिद्ध होता है। किन्तु पतिनॅण्कीळ् कणक्कु अर्थात् अठारहो ग्रन्थों के संग्रह ग्रंथ के बाद ही शिलप्पधिकारम् की रचना हुई, ऐसी बात नहीं है। उस संग्रह में से 'नान् मणिक्कडिकै', 'आचार कोवै' आदि ग्रंथों की बातों के उद्धरणों के जो प्रमाण पेश किये जाते हैं, उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि दोनों ग्रन्थों की समान बातें प्राचीन ग्रन्थों की अपनी नहीं हैं। वे तत्कालीन लोकोक्तियाँ और नीतिवाणियाँ थीं। अतः संभव है कि वे 'शिलप्पधिकारम्' के रचनाकाल में भी प्रचलित रही हों। उन्हीं को इळंगों अडिगळ् ने अपने महाकाव्य में प्रयुक्त किया होगा।

'शिलप्पधिकारम्' में उल्लेख है कि कपिलवस्तु में बुद्धदेव अवतरित होकर धर्मोपदेश देंगे और वह उपदेश सुनने के बाद ही कोवलन्-कण्णकि को निर्वाण-प्राप्ति होगी। इस बात को लेकर कुछ विद्वानों का आक्षेप है कि यह घटना बुद्ध देव की समसामयिक कैसे हो सकती है। किन्तु इसका समाधान यह किया गया है कि काव्य में उल्लिखित बुद्धदेव शुद्धोधन पुत्र शाक्यवंशीय नहीं हैं। बुद्ध के कई अवतार बताये जाते हैं। अतः सम्भव है कि ई० दूसरी शती में अवतरित किसी अपर बुद्धदेव की चर्चा उसमें हो।

कोवलन्-कण्णकि की कथा आगे चलकर तमिल देश में फैल गयी। सत्रहवीं शती में 'अकवल्' छंद में उसी कथा पर लघुकाव्य की रचना हुई। इसमें से कई पद्य, परिमेलळ्कर, मयिलैनाथर, नच्चिनार्क्किनियर, पेराशिरियर, 'याप्पे-रुंगलवृत्ति' (छंदशास्त्र) के व्याख्याकार इळंपूरणर आदि विद्वानों द्वारा अपनी व्याख्याओं तथा टिप्पणियों में उद्धृत किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त सती कण्णकि की अमर कथा भी कई लोकगीतों, लघु-काव्यों और निबन्धों द्वारा समादृत थी। ये पद्य आदि प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्याओं, टिप्पणियों आदि में उपलब्ध हैं। संघकालीन ग्रन्थ 'नॅत्तिणै' नामक ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन है कि 'तिरुमा उण्णि नामक एक सती स्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'वेंगै' वृक्ष के नीचे खड़ी थी, जिसका एक स्तन स्वयं उसीने नष्ट कर दिया था। 'उण्णि' का अर्थ है कर्णिका जो कमलबीज माना जाता है। सम्भवतया कण्णकि का संस्कृत रूप 'कर्णिका' बनाकर, उसके अनुवाद के रूप में 'उण्णि' का प्रयोग किया गया। 'शिलप्पधिकारम्' में भी बताया गया है कि व्याध लोगों ने जिनको 'कुरवर्' कहते हैं, कण्णकि को 'वेंगै' वृक्ष के नीचे देखा। अतः दोनों घटनाओं में समानता अवश्य है। संघकाल में 'शिलप्पधिकारम्' कथा तथा काव्य का प्रचार-प्रसार काफी हो चुका था।

इस महाकाव्य को संघकाल का उत्तरकालीन ग्रन्थ मानना उचित होगा। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। आक्षेप की जो गुंजाइश दिखाई देती है, वह शायद भ्रमपूर्ण है। अथवा बाद के काव्यप्रेमियों द्वारा जोड़ी गयी बातों के आधार पर ही होगी। इस ग्रन्थ को संघकालीन मान लेने के लिए केवल यह एक प्रमाण ही पर्याप्त होगा कि तत्कालीन धार्मिक स्थिति का पूरा यथार्थ चित्रण इसमें मिलता है। बलराम, मुरुगन् (कार्तिकेय), विष्णु, शिव आदि देवताओं के मन्दिर के वर्णन ही नहीं, अपितु वन्दनाएँ भी कवि ने अपनी ओर से और अपने पात्रों से करायीं। ऐसी सामासिक एवं समरस संस्कृति और धार्मिक स्थिति को आळ्वार तथा नायन्मार (वैष्णव-शैव) आदि संतों के समय के पहले ही अधिक फैली हुई पाते हैं। इळंगों अडिगळ् ने उक्त संस्कृति और धार्मिक स्थिति का समर्थन अपने काव्य में किया है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री रामचन्द्र दीक्षितर् ने भी कई अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि ई० दूसरी शती में ही 'शिलप्पधिकारम्' का प्रणयन हो चुका था।

इस ग्रन्थ में धार्मिक कट्टरता का आभास तक नहीं मिलता। इसमें विशिष्ट तमिल संस्कृति के मूल तत्त्वों का परिपोषण है जो 'यादुम् ऊरे, यावरुम् केळिर्' (देश-विदेश सब हमारी जन्म भूमि है और सारे लोग हमारे प्रिय बंधु हैं)[1] आदि उत्तमोत्तम सिद्धान्तों से अनुप्राणित है।

मणिमेखलै

मणिमेखलै एक लड़की का नाम है। यही इस काव्य की चरितनायिका है। 'शिलप्पधिकारम्' के चरितनायक वणिक्-पुत्र कोवलन् की प्रेमिका नर्तकी

---

१. यह पंक्ति संघकालीन कविवर श्री कणियन् पूंकुन्रनार् के पद्य का अंश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की कोख से उत्पन्न लड़की थी मणिमेखलै। इस काव्य में बौद्ध तत्त्वों की प्रचुरता है, इसलिए बौद्ध काव्यग्रन्थ के रूप में इसकी गणना होती है।

चरितनायिका मणिमेखलै अपने रूपसौन्दर्य पर मोहित चोल युवराज उदयनकुमार की प्रेमभिक्षा को भी अस्वीकार कर देती है और अपने मन को जबरदस्ती कठोर बना लेती है। उसकी महत्त्वाकांक्षा भोग-उपभोग की पंकिल जीवनधारा से आकृष्ट नहीं थी। इस जीवन की नश्वरता और दैहिक सुखों की क्षणभंगुरता से सदा के लिए मुक्ति पाकर अजर-अमर (निर्वाण) पद की प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा थी। बुद्धदेव के 'आर्य सत्यों' ने उसके अंधकाराच्छन्न जीवनपथ में ज्वलंत दीपस्तम्भ खड़ा कर दिया। 'आत्म हिताय' की अपेक्षा 'लोक हिताय' की उन्नत प्रेरणा उसे सदा कर्मपथ पर अग्रसर करती रही। इसीलिए प्राणिमात्र के उद्धार के लिए और अकालपीड़ित जनता की बुभुक्षा मिटाने के लिए मणिमेखलै अपना सर्वस्व त्यागकर भिक्षुणी बनकर निकल पड़ी। मानो उसकी पुनीत अभिलाषा जानकर ही भगवान् ने उसे 'अमुद सुरभि' (अमृतसुरभि) नामक अक्षयपात्र सुलभ कर दिया। उसी के सहारे उस साध्वी ने बहुत लोकोपकार किया। कई पथभ्रष्टों को सत्यपथ पर लगाया।

'मणिमेखलै' काव्य के रचयिता का शुभनाम था शीत्तलै चात्तनार। वे तमिल के प्रकाण्ड विद्वान् और मधुरवाक् कवि थे। बौद्ध धर्मावलम्बी तो थे ही किन्तु 'शिलप्पधिकारम्' के रचयिता श्री इळंगो अडिगळ् के मित्र होने पर भी उन-जैसे उदार एवं तटस्थ नहीं रह सके। कण्णकि-कोवलन् की कथा को इन्होंने ही इळंगोअडिगळ् को सुनाया; अतः ये पूरी कथा जानते थे और घटना के समसामयिक भी थे। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि इन्होंने इळंगोजी से यह प्रार्थना की कि 'आप सती कण्णकि की पुनीत कथा पर काव्य रचना कीजिए और मैं कोवलन् की प्रेमिका, नर्तकी गणिका माधवी की पुत्री आदर्श गुणवती मणिमेखलै के चरित को काव्य की भाषा दूंगा।' इळंगो जी ने अपने मित्र की अभ्यर्थना स्वीकार कर महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' की रचना की। विद्वानों का मत है कि श्री चात्तनार ने उदारता, सर्वधर्मसमरसता सम्बन्धी अपनी कमी का स्वयं अनुभव करके ही उस महत्त्वपूर्ण पुनीत कार्य को निसर्गोदार इळंगो जी के हाथ में सौंपा होगा।

इस 'मणिमेखलै' काव्य में पिटक ग्रन्थों की प्रचुर पौराणिक बौद्ध कथाएँ पायी जाती हैं। इसी हेतु, इसे कई अलौकिक घटनाओं का संकलन मानना पड़ता है। गणिका की पुत्री होकर भी, लोकोद्धार करने योग्य सम्मान्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिक्षुणी बनी एक निस्स्वार्थ सेविका का चरित्रचित्रण इस काव्य में है। वर्ण व्यवस्था की निन्दा, बौद्धधर्म की उपादेयता एवं साधारण जनता तक के लिए सुलभता का वर्णन, बौद्ध तत्त्वों का तर्क-पूर्ण समर्थन और अन्य धर्मों का खंडन भी इस 'मणिमेखलै' काव्य में हुआ है।

इस काव्य में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान पंडित दिङ्नाग और धर्मपाल के तार्किक मन्तव्यों में से कुछ अंश अनुवाद-रूप में उल्लिखित हैं। ये अंश बाद में प्रक्षिप्त रूप में जोड़ दिये गये मालूम होते हैं।

यद्यपि यह बौद्ध महाकाव्य है, तथापि इसमें जैन धर्म का भी सुन्दर वर्णन है। घटना की परम्परा को देखने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह काव्य 'शिलप्पधिकारम्' का उत्तरार्द्ध है और उसके प्रणयन के बाद ही इसकी रचना हुई है।

'मणिमेखलै' ग्रन्थ का धार्मिक पक्ष

इसमें प्रथम गाथा 'विळा अरै कातै' (पर्व का वर्णन करनेवाली गाथा) में यह घटना वर्णित है—

'सुधामति के पिता जो ब्राह्मण थे, भीषण उदर रोग से पीड़ित होकर जैन मन्दिर में आश्रय लेने गये। पर जैनों ने अन्य धर्मी को अपने यहाँ रखना नहीं चाहा और तत्काल उस रोगी ब्राह्मण को बाहर कर दिया। फिर जब वह रोगी रक्षा की प्रार्थना करते हुए वीथी में भटकता रहा, तब बौद्धों ने दया कर बौद्ध-विहार में आश्रय दिया और यथोचित उपचार की व्यवस्था की।'

इस घटना से बौद्धों की उदारता का परिचय तो मिलता ही है, लेकिन जैनों की धर्म-परिरक्षण की जागरूकता भी प्रकट होती है।

'मणिमेखलै' की २७वीं गाथा 'समयक्कणक्कर तंतिरम् केट्ट कातै' (धर्माचार्यों से मणिमेखला द्वारा पूछी गयी धार्मिक बातों की गाथा) में बताया गया है कि मणिमेखला ने प्रमाणवादी, शैववादी, ब्रह्मवादी, वैष्णववादी, वैदिक (वेदवादी), आजीवक, निगंठवादी, सांख्यवादी, वैशेषिकवादी और भूतवादी—इन मतवादियों से उनके धार्मिक तत्त्वों को समझाने की अभ्यर्थना की और उन विद्वानों ने भी मणिमेखला की प्रार्थना पूरी की। सब धर्म-मतों पर गम्भीर विचार करने के उपरान्त वह साध्वी इस निर्णय पर पहुँची कि बौद्ध-धर्म अधिक व्यवहारसुलभ एवं श्रेयस्कर है।

इस गाथा के अन्त में मणिमेखला के बारे में कवि ने लिखा है, 'ऐ वहै समयमुम् अरिन्दनळ्।' (पाँच प्रकार के सम्प्रदायों या मतों को भी जान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया)।" किन्तु, गाथा में दस वादियों का उल्लेख है। वैदिक मत और प्रमाण मत दोनों एक ही थे। आजीवक तथा निगंठ (जैन) मत के पारस्परिक सम्बन्ध का दर्शन 'शिलप्पधिकारम्' में भी है। 'लोककायतिक मत' के नाम से प्रख्यात भूतवाद भी उस समय काफी प्रचार में था। अतः अन्त में निर्दिष्ट 'ऐ वहै समयम्' (पाँच प्रकार के मत) ये हो सकते हैं : वैदिक मत, प्रमाण मत, आजीवक मत, निगंठ (जैन) मत और लोकायतिक। बाद के बौद्ध-ग्रन्थ 'नीलकेशी' में इन पाँचों मतों के साथ सांख्य और वैशेषिक मतों को भी जोड़ लिया गया है। अतः मालूम होता है, 'मणिमेखलै' में अतिरिक्त रूप से वर्णित वादों को बाद में जोड़ दिया गया है।

इस काव्य में वाद-प्रतिवाद, परमतखण्डन एवं स्वमतमण्डन आदि बातें स्पष्ट स्थान नहीं पा सकीं; फिर भी मणिमेखला प्रचलित समस्त मतों पर छानबीन अथवा टीका-टिप्पणी प्रहार अवश्य करती है; वह भी अपने अभीष्ट धर्म पर दृढ़तर विश्वास के लिए। एक बात तो हमें माननी ही पड़ेगी कि शुष्क धार्मिक चर्चा को लेकर सुन्दर काव्य-ग्रन्थ रचने की परम्परा इस 'मणिमेखलै' से प्रारम्भ हुई है। इसी क्रम में कट्टर धर्म-ग्रन्थ 'कुण्डलकेशी' नामक बौद्ध-ग्रन्थ की रचना हुई। इस ग्रन्थ के प्रत्युत्तरस्वरूप 'नीलकेशी' नामक अद्भुत जैन काव्य ग्रन्थ का प्रणयन हुआ।

नीलकेशी

'नीलकेशी' अर्वाचीन रचना है। इसके रचयिता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। रचयिता ने लिखा है कि उसने एक सपना देखा और उसकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ रचा है। पांचाल देश, कुण्डलवर्तनम् नामक नगर, उसके राजा समुद्रसारन्, उस नगर के चारों ओर फैले 'पलाल्यम्' नामक श्मशान; उस प्रदेश के मन्दिर, उनमें किये जानेवाले हत्याकांड तथा भूत-पिशाचों के घोर कृत्य इत्यादि का रोचक वर्णन 'नीलकेशी' ग्रन्थ में है। यह 'ऐंचिरु काप्पियम् (पंच लघुकाव्यों)' में एक है।[1]

काली देवी के मंदिर में होनेवाली बलिस्वरूप जीवहत्या को मुनि चन्द्र ने रोक दिया। इससे असंतुष्ट हुई काली देवी नीली नामक स्त्री के साथ, अपना

---

१. पंच लघुकाव्यों के नाम ये हैं :
१. यशोधरकाव्यम्, २. चूळामणि, ३. नागकुमार काव्यम्, ४. उदयणकाव्यम् और ५. नीलकेशी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेश बदलकर चन्द्र मुनि के पास पहुँची। वे तपस्या में लीन थे। दोनों स्त्रियों ने मुनि को विचलित करने के कई प्रयत्न किये; पर मुनि को वे डिगा न सकीं। नीली विदुषी थी और मुनिवर की अचंचल निष्ठा देख अपनी पराजय मान गयीं। तत्काल ही उनकी शिष्या बनकर, उनसे धर्मोपदेश सुनने का सुयोग भी प्राप्त किया। क्रमशः अहिंसाधर्म पर उसकी आस्था दृढ़तर होती गयी। जैन धर्म की पारंगत विदुषी के रूप में उसका नाम सर्वत्र विख्यात हो गया। नीली 'नीलकेशी' के नाम से घूम-घूमकर अहिंसा धर्म का प्रचार एवं प्रभावना करने लगी। इसी धर्मयात्रा में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी कुण्डलकेशी को नीलकेशी ने वादविवाद में पराजित किया। बाद में अर्धचन्द्र, मोग्गलायन आदि बौद्धाचार्यों को परास्त किया। फिर आजीवक, सांख्य, भेदवादी और लोकायतवादी से भी शास्त्रार्थ कर विजयी हुई। सब पराजित मतवादियों को अपने बुद्धिबल से जैनधर्मावलंबी बना दिया। ऐसी अप्रतिहत प्रतिभा एवं वादकुशलता सम्पन्न नीलकेशी को राजा ने प्रधान धर्म संस्थापिका के रूप में घोषित किया और उसका सब जगह समादर कराने की घोषणा करायी। इस शुभ वार्ता के साथ यह कथा समाप्त होती है।

'नीलकेशी' के व्याख्याकार

इस ग्रन्थ की महत्ता इसकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या से ही प्रकट है। व्याख्याकार का नाम है समयदिवाकर वामन मुनिवर। ये ही मेरुमन्थर पुराणम् (प्रसिद्ध तमिल जैन ग्रन्थ) के रचयिता हैं। ये मल्लिसेनाचारियर नाम से प्रसिद्ध थे। इनके शिष्य पुष्पसेनाचार्य थे, जो विजयनगर के राजा हरिहर के मंत्री हिरुकप्प के गुरु थे। इनका समय चौदहवीं शती है। बतलाया जाता है कि वामन मुनि 'तिरुप्परुत्ति कुन्ड्रम्' में रहते थे।

'नीलकेशी' का रचनाकाल

प्रसिद्ध तमिल छंदशास्त्र 'याप्पेरुंगलवृत्ति' की व्याख्या में 'नीलकेशी' की चर्चा है जो दसवीं शती की रचना है। अतः यह निश्चित है कि उससे पूर्व ही इस काव्य का प्रणयन हो चुका था। इस ग्रन्थ में अर्वाचीन मत, अद्वैत वेदान्त मत का उल्लेख नहीं मिलता। शैवसंत ग्रन्थ 'तेवारम्' में आजीवक मत का उल्लेख नहीं है, पर 'नीलकेशी' में है। अतः यह 'तेवारम्' के पूर्व की ही रचना है। 'तेवर्' के नाम से प्रसिद्ध तिरुवळ्ळुवर के एक शिष्य ने ही इस 'नीलकेशी' ग्रन्थ की रचना की थी। तमिल के प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री ए० चक्रवर्ती नायिनार इस निर्णय पर पहुँचे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिलालेखों के आधार पर विद्वान् लोग इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि आजीवकमत तमिलनाडु में अर्वाचीन चोल राजाओं के शासनकाल में भी प्रचलित था। यह तो निश्चित है कि नीलकेशी काव्य बौद्ध महाकाव्य 'मणिमेखलै' के बाद ही रचा गया था। बौद्धों के साथ हुए प्रबल विरोध में इस जैन ग्रन्थ की रचना हुई है। ई० सातवीं शती में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रावृत्तान्त में लिखा है कि तमिलनाडु में बौद्धधर्म का प्रसार बहुत कम हो गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उसके पर्यटन-काल के पूर्व ही 'नीलकेशी' ग्रन्थ रचा गया होगा, क्योंकि उसके रचनाकाल में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव तमिल देश में था।

वळैयापति

'वळैयापति' तमिल के पंच महाकाव्यों में अंतिम माना जाता है। इस काव्य की कथा पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। थोड़े पद्य ही अपने नामशेष काव्य का परिचय देते हैं। ये पद्य भी समग्र रूप में कहीं एक स्थान पर नहीं मिले। ये सब सुप्रसिद्ध विद्वान् व्याख्याकार अडियार्क्कु नल्लार, इळंपूरणार, नच्चिनार्क्कु इनियार और परिमेलळगर की व्याख्याओं में बिखरे हुए थे। ये करीब अस्सी पद्य थे जिनका संकलन 'शॅन्तमिळ्' नामक पत्रिका ने किया था।

इस संग्रह के पद्यों में 'निक्कन्त वेडत्तु इरुडिगणम्' (निर्ग्रन्थ वेशधारी ऋषिगण) 'अरिवन्' (जो ज्ञान पा गया हो—जिनदेव) आदि प्रयोग मिलते हैं। अतः इसे एक जैन ग्रन्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं। इन पद्यों में कुछ तो चार चरणवाले हैं, कुछ दो-दो चरणवाले तथा कुछ कुछ छह चरणवाले भी हैं। तमिल के छन्दशास्त्र 'याप्परुंगलवृत्ति' से प्राचीन होने के कारण इसका रचनाकाल दसवीं शती से भी पूर्व का सम्भव है।

पूरा काव्य न मिलने से, इसके रसास्वादन की सुविधा नहीं है। जितने पद्य मिले, उनसे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यह ग्रन्थ प्रांजल शैली में धार्मिक विषयों का वर्णन करनेवाला कोमल काव्य रहा होगा। इसकी श्रेष्ठता तथा विशेषता इससे प्रकट है कि प्रकांड पंडितों ने अपनी व्याख्याओं में इसके पद्य सादर उद्धृत किये हैं। सबसे अनूठी बात यह है कि 'तक्कयाळ् परणि' (तक्षयाग परणि) नामक प्रसिद्ध प्रबन्ध ग्रन्थ के व्याख्याकार ने उसके रचयिता 'कविचक्रवर्ती ओट्टक्कूत्तर' के बारे में आदरपूर्वक लिखा है कि 'कवियळगु वेण्डि वळैयापतियै निनैत्तार अर्थात् कवितामाधुर्य की खोज करते हुए कवि ने (ओट्टक्कूत्तर ने) 'वळैयापति' काव्य का मनन किया।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक तो ओट्टक्कूत्तर उच्च कोटि के मधुरवाक् कवि थे, और दूसरी ओर वे कट्टर शैव थे। फिर भी उन्होंने काव्यमाधुर्य पर रीझकर 'वळैयापति काव्य' का मनन किया, जो कि एक धर्मविरोधी अर्थात् जैन कवि का जैनधर्मीय ग्रन्थ था। काश, यह समग्र ग्रंथ मिल जाता !

पेरुं कथै

इस काव्य को पंच महाकाव्यों में स्थान न मिलने पर भी, रचनाशैली तथा काव्यसौष्ठव की दृष्टि से इसे महाकाव्य कह सकते हैं। 'कुंडलकेशी' और 'वळैयापति' दोनों की अपेक्षा इसका काव्यस्तर ऊँचा ही है।

शिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै की तरह यह काव्य भी 'अकवल्' छन्द में है। इसके रचयिता का नाम कोंकुवेळिर् हैं। इसके पद्य 'शिलप्पाधिकारम्' और 'मणिमेखलै' के पद्यों की तरह 'न'-कारान्त हैं। इस पद्धति को प्रथम लक्षणग्रन्थकार तोलकाप्पियर ने 'इयैपु' और 'वनप्पु' कहा है। उन महाकाव्यों की ही भाँति यह काव्य भी कथानक के अनुकूल एक ही छन्द में है और 'अन्तादि' नामक शब्दालंकार से भी युक्त है।

व्याख्याकारों की टिप्पणियों से मालूम होता है कि इस 'पेरुम् कथै' काव्य का अपरनाम 'उदयणन् कथै' भी था। वस्तुतः यह काव्य भी गुणाढ्य के सुविख्यात ग्रन्थ 'वृहत्कथा' का ही परिमार्जित तमिल रूप है। तमिल काव्य-शैली के अनुसार प्रदेशवर्णन के प्रसंग में, उत्तर भारत का वर्णन तमिल देश के रूप में ही किया गया है। उदयण और वासवदत्ता की जोड़ी कम्बन् के राम व सीता की तरह तमिल-संस्कृति के रंग में रंग गयी है। प्रेमी-प्रेमिका का संदर्शन, सम्मिलन और प्रेमविकास की परम्परा तमिल काव्यशैली के अनुसार ही उपस्थित की गयी है।

यद्यपि इस काव्य में विमान आदि का काल्पनिक वर्णन हुआ है, तथापि समय, समाज और जनजीवन को यह काव्य जितना अधिक प्रतिबिम्बित करता है, उतना अन्य काव्य में अनुपलब्ध है। नारी की महिमा, विद्या का प्रभाव, लोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, राजनीति की चालें, सत्ताधीशों की चालें आदि कई बातें बहुत ही रोचक ढंग से इस 'उदयणन् कथै' में वर्णित हैं। इसके चरितनायक उदयण हैं, फिर भी उसके मित्र यूगी को भी चरितनायक मानना पड़ता है। समग्र काव्यकथा में गति तथा घटनाप्रवाह यूगी के ही अस्तित्व से होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख की बात है कि यह सुन्दर काव्य पूरा नहीं मिला, प्रारम्भ और अन्त के अंश अब तक उपलब्ध नहीं हुए। बीच के ही अंश, जिनको भी अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता, अब पुस्तकाकार में मिलते हैं।

रचयिता

काव्यकार कोंकुवेळिर जैनाचार्य थे। काव्य में कई स्थानों पर जैनतत्त्वों का वर्णन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से कवि ने किया है। ये कोंकुमंडलम् के कुरुम्पु क्षेत्रवर्ती विजयमंगलम् नामक स्थान में पैदा हुए। एक अनुश्रुति के अनुसार कविवर ने इस काव्य को पूरा करने के लिए तीन बार जन्म लिया, तब जाकर यह काव्य पूरा हो पाया।

अडियावर्कु नल्लार आदि श्रेष्ठ विद्वानों ने इस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अनुमान है कि कोंकुवेळिर आचार्य वज्रनन्दी के संघ में विद्यमान थे।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह काव्य गुणाढ्यकृत 'वृहत् कथा' पर आधारित है। आन्ध्रनरेश की सभा के कविवरों में गुणाढ्य भी एक थे। उन्होंने ही पैशाची भाषा में 'वृहत् कथा' की रचना की। ये ई० प्रथम शती के थे। शूद्रक नामक नरेश ने 'वीणावासवदत्तम्' नामक नाटक लिखा। इसका तमिल में अनुवाद किया था कांचीपुरम् के एक कथाशिल्पी ने जो कवि दण्डी का मित्र था। इसका उल्लेख दण्डी ने अपने 'अवन्ति सुन्दरी कथा' में किया है। दक्षिण के नाटककारों ने भास के नाटकों में से वासवदत्ता की कथा पर कुछ रचनाएँ की हैं। महाकाव्य 'मणिमेखलै' में भी वासवदत्ता-आख्यान का उल्लेख है। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त कवि तिरुमंगै आळ्वार ने अपने 'चिरिय तिरुमडल्' नाम पद्य-संग्रह में वासवदत्ताकथा की चर्चा की है। अतः यह बात जरूर स्पष्ट होती है कि उदयण और वासवदत्ता की कथा तमिलनाडु में भी सर्वत्र कही-सुनी जाती थी और अपनी लोकप्रियता के कारण, जैसे कि कालिदास ने भी 'मेघसन्देश' में कहा था—उदयणकथाकोविदग्राम वृद्धान्....' जनमन की भावुक संवेदनाओं को मुग्ध कर रही थी।

इस सुन्दर काव्य के प्रणेता कोंकुवेळिर जैन द्रमिळसंघ के विद्वान् थे। यह संघ कर्णाटक में ही उन्नत दशा में था। कोंकुनाडु कर्णाटक और ठेठ तमिलनाडु का सीमाप्रदेश है। अतः उस संघ का पूरा प्रभाव उन पर परिलक्षित होता है। कुछ विद्वानों का मत है, ई० ५वीं या ६ठीं शती के गंगनरेश दुर्विनीत ने संस्कृत में एक 'बृहत्कथा' की रचना की, जिसमें अन्य 'वृहत् कथा' ग्रन्थों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह शैवधर्म का प्रभाव बिलकुल न लाकर, जैनधर्म का उत्कर्ष दर्शाया गया है। उसी का अनुवाद है कोंकुवेळिर का यह 'पेरुमकथै'।" किन्तु यह निर्णय नहीं माना जा सकता। तमिल रचनाशैलियों का समावेश करके कवि ने इस काव्य में अपनी मौलिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

इस 'पेरुमकथै' काव्य का रचनाकाल सातवीं शती माना जाता है। 'उदयणकुमारकाव्यम्' नामक एक लघु काव्य पाया जाता है जो जैन कवि की रचना है। पर यह तो बहुत अर्वाचीन ग्रन्थ है। कोंकुवेळिर का 'पेरुम् कथै' काव्य तो तिरुमंगै आळ्वार के भी पूर्व का होना चाहिए। 'मणिमेखलै' के रचनाकाल के आसपास भी इसकी रचना हुई होगी, ऐसा माना जा सकता है। इसलिए इस कोमल काव्य को सातवीं शती का ही मानना युक्तियुक्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवक चिन्तामणि

यह पंच महाकाव्यों में से एक है जो सर्वसाधारण को ही नहीं, उच्च कोटि के महाकवियों को भी मुग्ध कर चुका है। प्रसिद्ध शैव पंडित शंकर नमश्शिवायर ने लिखा है, 'उपलब्ध महाकाव्यों में यह सर्वांगसुन्दर होने के कारण, इसका नाम 'चिन्तामणि' उचित ही है।' किन्तु ग्रन्थ का नाम, चरितनायक जीवकन् के जन्म के समय उसकी जननी राजमहिषी द्वारा कहे गये 'चिन्तामणिये किट्टियाय् (तुम मुझे चिन्तामणि की ही तरह प्राप्त हुए हो)' वाक्य के आधार पर रखा गया है। फिर भी उक्त विद्वान् का अभिमत भी सार्थक है।

इस काव्य को 'मणनूलशुभविवाह-ग्रंथ' भी कहते हैं। कारण यह है कि समूची काव्यकथा कई वैवाहिक घटनाओं तथा आयोजनाओं से भरी है। इसके अतिरिक्त चरितनायक जीवकन् के विद्याभ्यास को 'सरस्वती से विवाह', युद्ध में विजयी होने की घटना को 'विजयश्री का पाणिग्रहण', राज्याभिषिक्त होने को 'भूमि के साथ परिणय' और मोक्षप्राप्ति को 'मुक्तिदेवी के साथ विवाह'—इसी प्रकार प्रत्येक घटना को कवि मङ्गल विवाह के रूप में ही चित्रित करते हैं। इस महाकाव्य के रचयिता थे सुप्रसिद्ध जैन साधु तथा कविवर तिरुत्तक्क देवर्।

काव्यकथा

सरयूनदी के तटवर्ती एमांगदम् (हेमांगदम्) देश की राजधानी राजमापुरम् (राजमहापुरम्) में राजा सच्चंदन (सत्यंधर) का शासन था। वह अपनी रानी विजयादेवी के साथ कामभोग में इतना आसक्त हो गया कि शासन का सारा भार महामन्त्री कट्टियंकारन् (काष्ठांकारिक) को सौंप दिया। कुटिलमति महामन्त्री ने राजा को छल से मारकर राज्य का शासन अपने अधिकार में कर लिया। जब राजा सच्चंदन के पास कार्यअधिकार नहीं रहा और विपत्ति सामने आयी तब उसने अपनी महिषी को एक मयूरविमान पर बिठाकर नगर से बाहर भेज दिया। उस समय वह पूर्ण गर्भिणी थीं। दुःखाधिक्य से देवी अर्धमूर्च्छित हो गयीं और दैव योग से मयूरविमान राजधानी के सीमावर्ती श्मशान में उतर गया। वहाँ विजयादेवी को प्रसवपीड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुई और तत्काल ही एक सुकुमार पुत्ररत्न का जन्म हुआ। श्मशान की अधिष्ठात्री देवी ने स्वयं एक सहेली के रूप में आकर विजयादेवी को सहायता की और नवजात शिशु को किसी दूसरे को सौंपने की सलाह दी। उस समय नगर के प्रसिद्ध वणिक् कन्दुक्कटन (गन्धोत्कट) अपने मृत शिशु का दाहसंस्कार करने के लिए श्मशान में आया। विजयादेवी अपने शिशु को भूमि पर लिटाकर एक पेड़ की आड़ में छिप गयी। वणिक् बड़े आनन्द के साथ उस शिशु को लेकर घर गया और लोगों से कहा कि मेरा मृत पुत्र पुनः जीवित हो गया है। पर उसको तो मालूम ही था कि श्मशान में लब्ध शिशु राजा सच्चंदन का सुपुत्र था। शिशु के हाथ में राजमुद्रांकित अंगूठी देखकर उसको यह तथ्य ज्ञात हुआ। शिशु को उठाते समय दैववाणी-सी सुनायी पड़ी, "जीव!" इसलिए वणिक् ने उस पुत्र का नाम जीवकन् रखा और बहुत प्यार से उसका लालन-पालन किया। इधर जीवकन् की जननी विजया देवी तपस्या करने चली गयी।

जीवकन् कई विद्याओं में पारंगत हुआ। 'अच्चणंदी (आर्यनन्दी) से वह विद्याग्रहण करता था; एक दिन आचार्य ने जीवकन् को उसकी जीवनी का रहस्य बता दिया और यह सलाह भी दी कि एक वर्ष तक अपने को प्रकट न करो। इस बीच राजमापुरम् के ग्वालों ने एक दिन अपने शासक कट्टियंकारन् के पास आकर शिकायत की, "महाराज हमारी गायों को जंगल के भीलों ने घेर लिया और हमें भी मारकर भगा दिया। गायों को उनसे छुडाकर हमारी रक्षा करें।" राजा के सैनिक भीलों के सामने हारकर भाग आये, तो जीवकन् स्वयं अपने साथियों के साथ जाकर भीलों से गायों को छुड़ा लाया। उसकी ख्याति फैली। फिर, नगर के प्रधान श्रेष्ठी श्रीदत्तन् की पालिता पुत्री गंधर्वदत्ता को 'वीणास्वयम्बर' में, याळ् (वीणा)—स्पर्धा में पराजित कर दिया और उस सुन्दरी के साथ जीवकन् का विधिवत् विवाह हुआ। गुणमाला नामक युवती को मत्त गज की चपेट से बचाने के कारण, वह भी जीवकन् की जीवनसंगिनी बनी। जीवकन् ने साँप के डसने से मृतप्राय पद्मोत्तमा को जीवित कर दिया। उपहारस्वरूप वह सुन्दरी भी जीवकन् की पत्नी हुई। इसी प्रकार केमचरी, कनकमाला, विमला, सुरमञ्जरी और लक्षणादेवी नामक सुन्दरियों के साथ भी जीवकन् के विवाह हुए। अपने मामाजी तथा विदेह देश के राजा गोविन्दन की सहायता से जीवकन् ने कुटिल मन्त्री कट्टियंकारन् का वध कर, अपना खोया राज्य प्राप्त कर लिया। जनता के अपार आनन्द और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्कामना के सहारे जीवकन् ने अपनी आठों रानियों के साथ सुखी जीवन बिताया। उसके आदर्श सुशासन में सारा देश सुसम्पन्न था, जनता के सुख-हर्ष का क्या कहना ?

एक दिन जीवकन् निकटस्थ तपोवन में गया। वहाँ एक अशोकवृक्ष के नीचे दो चारणऋद्धिधारी मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। जीवकन् ने उनके चरणों में प्रणाम कर मुक्तिप्राप्ति के साधन नियमानुष्ठानों का उपदेश देने की प्रार्थना की। उन्होंने विस्तार से जैन धर्म का तत्त्वोपदेश किया और बताया कि जीवन का मूल ध्येय मुक्तिप्राप्ति है। यह सब ग्रहण कर जीवकन् महल में लौट आया और अपनी आठों देवियों के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने का विचार प्रकट किया। देवियाँ भी उसी के साथ संन्यास ग्रहण करने के लिए तैयार हो गयीं।

एक शुभ दिन जीवकन् ने अपने आठों पुत्रों को पास बुलाकर उनको शासन का भार सौंपा और तपस्या के लिए निकल पड़ा। जीवकन् की आठों रानियाँ भी अपनी सास साध्वी विजयादेवी की सेवा में चली गयीं और विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर तपस्या में लीन हो गयीं।

जीवकन् ने समवशरण में जाकर तीर्थंकर वर्धमान के साक्षात् दर्शन किये और सुधर्म नामक गणधर के पास सर्वसंग-परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनंतर उसने विपुलगिरि पर घोर तपस्या की। तपस्या के प्रभाव से जीवकन् अपने कर्मबंधन से मुक्त हो गया।

काव्य की विशेषताएँ

जीवकचिन्तामणि काव्य रचनाशिल्प तथा रसव्यंजना की दृष्टि से तमिल भाषा का अनुपम और समुज्ज्वल कण्ठाभरण है। कवि तिरुत्तक्कदेवर् काव्यारम्भ में क्रमशः देश, नगर, वीथी, महल, नरेश, महिषी आदि का रोचक वर्णन करते हैं। यद्यपि ये स्थान तथा पात्र काल्पनिक ही हैं, तथापि इनके चित्रण में कवि की मौलिक प्रतिभा तथा आदर्शोन्मुख प्रेरणा स्पष्ट दीख पड़ती है। 'युटोपिया' (Utopia) जैसे काल्पनिक आदर्शदेश के रूप में ही इस काव्य का एमांगदम् (हेमांगद) देश भी है। इसी काव्य शैली के अनुसरण में परवर्ती कवियों ने नाट्टु पटलम् (देशवर्णन-सर्ग), नगर-पटलम् आदि का वर्णन किया है।

स्थानों के अतिरिक्त पात्रों को भी तमिल संस्कृति तथा तमिल प्रकृति के अनुरूप चित्रित करने में कवि ने कहीं भी संकोच नहीं किया। क्या प्रकृति-वर्णन, क्या प्रेमगाथा, क्या समरचित्रण, क्या राजनैतिक षड्यंत्रों का उल्लेख,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या नीरस धार्मिक तत्त्वों का विवेचन—सब जगह कवि की प्रतिभा उन्मुक्त रूप से प्रकट हुई है। 'काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः फल निर्वृत्तये कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे।'—इस काव्यलक्षण का सचमुच किसी सर्वांगपूर्ण कृति में दर्शन करना हो, तो वह यही महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' है, जो कई महाकवियों के लिए आदर्श स्तंभ था और प्रेरणा-स्रोत भी।

'चिन्तामणि' का रचनाकाल

श्रवणबेलगोल में प्राप्त एक शिलालेख में आचार्यों का उल्लेख मिलता है। वे हैं महापुराण के उत्तर भाग के रचयिता गुणभद्र, इनके बाद चिन्तामणि आचार्य और इनके परवर्ती श्रीवर्द्धदेव जो 'चूळामणि' (मूलग्रन्थ) के रचयिता थे, आदि। आचार्य गुणभद्र तो राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्ष के समकालीन थे। अकालवर्ष नवीं शती के अंत में अभिषिक्त हुआ। प्रस्तुत महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' के कवि अपने नाम के अंत में 'देवर्' शब्द को लगाते थे। इसलिए पता चलता है कि ये 'देवगण' के थे जो जैन द्राविडसंघ का एक भाग था। कवि का नाम तिरुत्तक्क 'देवर' संभवतया इसीलिए पड़ा कि वे द्राविड संघ के अंतर्गत देवगण के थे।

'शिरप्पु पायिरम्'[1]

इसमें एक अंश यह है, "वण् पॅरुवंचिप् पॉय्यामोळिप्पुहळ् मैयरु चीर्त्ति तिरुत्तक्क मुनिवन्।" अर्थात् 'प्रख्यात वंचिदेश (आजकल करुवूर के नाम से मशहूर) के नरेश पॉय्यामोळि द्वारा अभिनंदित और मान्यवर तिरुत्तक्क मुनिवन् (मुनि)....। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पॉय्यामोळि 'सत्यवाक्' का अनुवाद हो सकता है। इतिहास से पता चलता है कि सत्यवाक् नामक गंगनरेश दसवीं शती के पूर्व भाग में शासनारूढ़ था। इसने 'वळिळ मलै' (रजत गिरि) पर एक जिनमंदिर खड़ा किया। वंचि प्रदेश, जो करुवूर के नाम से प्रसिद्ध है, चोल और चेर राज्यों के सम्मिलित भाग को कहते हैं। 'वंचि' का दूसरा अर्थ है समरयात्रा (चढ़ाई)। विशिष्ट युद्ध-कौशल के कारण भी संभव है, उक्त गंगनरेश को 'वण्पुकळ् वंचि' (समर यात्रा में

---

१. 'शिरुप्पु पायिरम्' उसे पद्य को कहते हैं, जो ग्रन्थकार के गुरु, सहपाठी, योग्य शिष्य और निपुण व्याख्याकार—इनमें से किसी एक के द्वारा ग्रन्थ और ग्रन्थकार के बारे में रचा जाता है, इससे ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का परिचय संक्षिप्त में मिल जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दक्ष) की उपाधि मिली हो। अतः प्रस्तुत महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' को नवीं शती की रचना मान सकते हैं। दसवीं शती के छंदशास्त्र 'याप्परुंगल-वृद्धि' में इस काव्य के उद्धरण मिलते हैं। इसलिए इसे दसवीं शती के पूर्व की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

नच्चिनार्क्किनियर ने अपनी व्याख्या में तिरुत्तक्क देवर् के कुल के बारे में यह संकेत किया है, "··· मुन्नीर् वलंपुरि (चोळकुलरूपी सागर में उत्पन्न उत्तम शंख है यह कवि)।" अतः मालूम होता है कि वे चोळकुलभूषण थे। पारम्परिक अनुश्रुति भी इस बात का समर्थन करती है।

अरिञ्जयन्

चरितनायक जीवकन् की माता विजयादेवी की महिमा में कविवर ने लिखा है—"अशैविलाप् पुरवि वॅळ्ळत्तु अरिञ्जयन् कुलत्तुळ् तोन्ड्रि वशैयिला वरत्तिन् वंदाळ्···" (चिन्तामणि-२०१.) अर्थात् "अत्यधिक अश्व समूह के स्वामी वीरश्रेष्ठ अरिञ्जयन् के कुल में जन्मी और पवित्र वरदान के रूप में आयी यह विजयादेवी।"

अरिञ्जयन् चोळराजाओं की उपाधि है। अरीन् (शत्रुओं को) जयति-इति (हरा देता है—इस कारण से)—यह 'अरिञ्जय' नाम पड़ा। इसी को 'अरिन्दमन्' भी कहते हैं, जो व्यवहार में था। 'अरिकुलकेसरी' (शत्रुसमूह के लिए सिंह) भी चोलों का उपाधिनाम था। प्रथम विख्यात चोलनरेश अरिञ्जयन् के एक पुत्री थी जिसका नाम 'अरिञ्जकै पिराट्टि' था। इतिहास साक्षी है कि अरिञ्जयन् के पुत्र चोलाधीश राजराजन् ने अपने पिताजी की स्मृति में 'अरिञ्जयेश्वरम्' नामक बड़े मंदिर का निर्माण कराया और इनके नाम पर 'अरिन्द (या अरिञ्ज) मंगलम्' नामक नगर भी बसाया। इनके बाद 'अरिञ्जयन्' नाम के और कोई चोल नरेश नहीं हुए। इनका समय दसवीं शताब्दी था। 'अरिञ्जयन्, अरिन्दमन् और अरिकुलकेसरी' नाम लोगों को अथवा स्वयं राजा को बहुत पसंद आये होंगे; इसलिए तमिल नामों को छोड़, उस नाम से वे प्रख्यात हुए। ये परान्तकन् (प्रथम) के पुत्र थे और आदित्यचोळन् (प्रथम) के पौत्र थे। इनके और इनके पूर्वजों के शासन काल में वीरता, युद्धकौशल आदि की प्रधानता रही है। इनके पूर्वज विजयालय चोळन् की वीरता और शूरता का वर्णन करते हुए इतिहासकारों ने कविवर्णन को सादर उद्धत किया, 'आप अपने वक्षस्थल में ९६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(छियानबे) व्रणचिह्नों से विभूषित हैं जो आपकी विपुल विजयवैजयंती के उत्तम द्योतक हैं।'

चोलाधीश अरिञ्जयन् के पश्चात्वर्ती राजाओं को 'उत्तमशीली'; 'उत्तमन्' आदि उपाधियाँ मिलीं। बाद के राजराजन् के साथ 'चक्रवर्ती', 'सार्वभौम' आदि भावों के उपनाम जोड़े गये थे।

किन्तु, कविवर तिरुत्तक्क देवर् ने विजयादेवी के पिता के रूप में जिस 'अरिञ्जयन्' की चर्चा की, वह तो विदेहनरेश[1] था। पता नहीं, विदेहों और चोळों में कब वैवाहिक संबंध स्थापित हुआ। यह भी संभव है कि मूल ग्रन्थ के नाम को छोड़कर तमिलनाडु में सुप्रचलित नाम को अपना लिया हो और स्वयं चोळकुलसंतान होने के कारण, अपने सम्माननीय पूर्वज का नाम रखने में गौरव का अनुभव किया हो।

काव्य का उद्देश्य और संकेत

कवि चोळकुल के थे, अतः उनके मन में चोळ साम्राज्य का भावी या वर्तमान ढाँचा साकार हुआ होगा। अपनी इच्छा या कल्पना को रूप देने के लिए ही जैन पुराणांतर्गत जीवकन् की कथा को काव्य का विषय बना लिया गया।

जैसे वीरवर जीवकन् ने कई राजपरिवारों से सम्बन्ध स्थापित कर अपने को महाबली बना लिया, वैसे ही चोळराजाओं को भी राजपरिवारों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना उचित है—इस आशय को कविवर ने अपने काव्य में आदि से अन्त तक व्यक्त किया है। इसी का परिणाम या प्रभाव है कि चोळनरेशों ने आस-पास के पल्लव, आन्ध्र आदि अन्य राजकुलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ लिया था।

अत्यधिक कामासक्ति के कारण जैसे सच्चंदन (सत्यन्धर) के राज्य की और सुशासन की दुर्गति हुई, वैसे ही अपने समय में चोलों की स्थिति भी अवनत थी। सम्भवतः उनको जागृत करने के लिए ही कवि को ऐसे प्रभावशाली ग्रन्थ की रचना की अन्तःप्रेरणा हुई। चोळनरेश के 'चक्रवर्ती' होने का जो स्वप्न कवि ने अपनी रचना में देखा, वह बाद में राजेन्द्र चोळन् के समय में साकार हुआ। सबसे बड़ी विशेषता इस काव्य की यह है कि

---

१. तमिल में 'वितेय' दिया गया है। संभव है, इसका असलीरूप विदेश या विदेह हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगों के मन में जैन धर्म को केवल वैराग्य, संन्यास, तपस्या आदि का ही पोषक होने की जो धारणा थी, उसको बदलकर 'लौकिक आनंद के होते हुए भी भोग-उपभोगों में निमग्न होने पर भी जैन धर्म के सहारे मुक्ति-प्राप्ति सहज सम्भव है'—इस धारणा को स्थिर कर दिया। इसीलिए भावुक कविवर ने, जो स्वयं सर्वसामान्य संन्यासी साधु थे, इस समूचे काव्य को 'वैवाहिक ग्रन्थ' ही बना दिया।

इस काव्य का मुख्य संदेश अहिंसा धर्म का समर्थन है। गायों को जंगली भीलों से छुड़ा लाने के प्रसंग में जीवकन् ने सच्चे अहिंसक का परिचय दिया। यद्यपि अन्त में कुटिल और क्रूर अमात्य कट्टियंकारन् (काष्ठांकारिक) की हत्या होती है, फिर भी राजनीति की दृष्टि से वह शत्रुवध न्याय्य ही माना जाता है। कविवर ने सच्चे अहिंसक साम्राज्य का चित्रण किया है। शासन रीति, प्रजापालन आदि सब प्रकार के राजकार्यों में अहिंसा और स्नेह की ही प्रधानता बतायी गयी है। कविवर तिरुत्तक्क देवर् की तरह आदर्श साम्राज्य का सपना कम ही कवियों ने देखा और उसका वर्णन किया और किसी ने किया हो, तो भी उनके बाद ही इसमें जैनधर्म को गर्व करने का अधिकार है ही; फिर भी कविवर की मौलिक प्रतिभा का भी लोहा मानना ही पड़ेगा।

चूळामणि

महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' के प्रकरण में पहले बताया गया है कि श्रवणबेळगोळ से प्राप्त शिलालेख में 'चूळामणि' के रचयिता का नाम 'वर्द्धमान देवर' पाया जाता है। किन्तु तमिल में यह नाम नहीं मिलता; तमिल का रूप है, 'तोला मोळित्तेवर'। कुछ विद्वानों का मत है कि यह लेखक का दूसरा नाम हो सकता है। यह भी विवादास्पद है कि श्रवणबेळगोळ के शिलालेख में जिस 'चूळामणि' ग्रन्थ का उल्लेख है, वह तमिल काव्य है या दूसरा। अतः उसके आधार पर इस तमिल काव्य का कालनिर्णय करना ठीक नहीं होगा।

'चूळामणि' के उपोद्घात पद्य 'पायिरम्' में कहा गया है कि चेन्दन नामक तमिल प्रेमी नरेश की सभा में यह ग्रन्थ प्रथमतः प्रकाशित किया गया।[1]

---

१. किसी ग्रन्थ को प्रथमतः सभा में प्रकाशित करने को तमिल में 'अरंगेट्रम्' (सभारोहण) कहते हैं। उस सभा में बड़े-बड़े समालोचक विद्वान् होंगे। उनकी स्वीकृति एवं अनुमोदन प्राप्त करने के बाद ही वह ग्रन्थ जनता द्वारा समादृत होता था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा चेन्दन के बारे में वर्णन है, 'चेन्दनॅन्नुम् तूमान् तिमिळिन् किळवन्', अर्थात् चेन्दन नाम राजकुलभूषण और तमिल-प्रेमी। 'तमिल-प्रेमी' के विशिष्ट विशेषण के कारण यह राजा पांड्यवंशी हो सकता है। यह विशेषण प्रायः पांड्य राजाओं का ही है और 'चेन्दन' नाम केवल पांड्यों के लिए व्यवहृत हुआ है।

सातवीं शती के पूर्व भाग में 'जयन्तवर्मन् अवनि चूळामणि मारवर्मन्' नामक पांड्यनरेश हो गया था, जो प्रसिद्ध कून् पांडियन् का पिता था। इस ऐतिहासिक आधार पर कुछ विद्वान् मानते हैं कि 'चूळामणि' उस पांड्य राजा के नाम पर रचा होना चाहिए। इसलिए उसका रचना-काल सातवीं शती मानना उचित होगा।

किन्तु मयिलैनाथर आदि व्याख्याकारों का मत है कि अपनी उत्कृष्टता के कारण ही ग्रन्थ का नाम 'चूळामणि' (चूडामणि) पड़ा, जो सार्थक भी है। इसके अतिरिक्त इस काव्य के चरितनायक तिविट्टन (त्रिपृष्ठ) के पिता पयापति (प्रजापति) की, अन्त में 'चूलामणि' (चूडामणि—जैसे सर्ववंद्य एवं सर्वश्रेष्ठ) कहकर प्रशंसा की गयी है। कवि का ही वाक्य देखिये; 'उलहिन् मुडिक्कॉरु चूळामणि आनान्; अर्थात् जगत् के सिर के लिए (वह राजा पयापति) वस्तुतः चूळामणि (उत्तम अंग का उत्तम आभूषण) बन गये।' इसी मंगलवाक्य के साथ काव्य समाप्त होता है।

कवि ने इस काव्य में एक स्थान पर रत्नपल्लव नगर को भी 'चूळामणि' बताया है और राजा का नाम भी 'चूळामणि' लिखा है। चरितनायक तिविट्टन के सिर की कांति का वर्णन करते समय भी उन्होंने 'चूळामणि' का उपयोग किया है। अतः कवि का प्रियतम शब्द जो काव्य के भीतर बहुशः प्रयुक्त हुआ है, महाकाव्य का भी शीर्षक बन गया है।

एक 'तनिप्पाडल्' (फुटकल पद्य) में कहा गया है कि विजयन् कारवेट्टि अरैयन्' की अभ्यर्थना पर तोलामोळि देवर् ने 'चूळामणि' काव्य की रचना की थी। 'कारवेट्टि' शब्द 'काडु वेट्टि' (जंगल का नाश करनेवाला) का अपभ्रंश-रूप है। यह नाम पल्लवनरेशों का उपाधिसूचक है। उस नाम में, 'विजयन्' शब्द उसका नाम न होकर, 'जीतनेवाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ लगता है। तब पूर्वोक्त 'पायिरम्' (प्रारंभिक परिचायक पद्य) में वर्णित चेन्दन् को ही उस नाम से निर्दिष्ट किया गया हो सकता है, 'तमिळिन् किळवन्' (तमिल का प्रेमी या अभिभावक) शब्द केवल पांडियनरेश का ही निर्देशक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, ऐसी बात नहीं है। 'चेन्दन् दिवाकरम्' ग्रन्थ की रचना के लिए समुचित प्रोत्साहन एवं सहयोग एक पल्लवनरेश ने दिया था। उसी प्रकार 'चूळामणि' के प्रणयन के हेतु भी, उत्प्रेरक एवं सहायक बनने का गौरव किसी पल्लव-नरेश को हो सकता है। अतः संभव है कि श्रवणवेळगोळ से प्राप्त शिलालेख में जिस ग्रन्थ का उल्लेख हैं, वह तमिल काव्य 'चूळामणि' ही हो।

पूर्वोक्त 'तनिप्पाडल्' (फुटकल पद्य) में चूळामणि के कवि तोलामोळि देवर् को धर्मतीर्थ का श्रीचरणसेवी बताया गया है, इसलिए यह निर्णय करना उचित जँचता है कि सातवीं और नवीं शताब्दियों के मध्य 'चूळामणि' की रचना हुई। दसवीं शती की छन्दरचना 'याप्परुंगलवृत्ति' की व्याख्या में 'चूळामणि' के पद्य उद्धृत हैं। अतः यह सिद्ध है कि दसवीं शताब्दी के पूर्व ही 'चूळामणि' का प्रणयन हो चुका था तथा वह प्रसिद्ध भी हो गया था।

'चूळामणि' की विशेषताएँ

यह काव्यकथा 'श्रीपुराणम्' से ली गयी है। आचार्य गुणभद्र ने संस्कृत में श्रीपुराणम् (उत्तरपुराण) की रचना की है। वह कथा समादृत हुई, तमिल की उच्चारण एवं प्रयोग-परम्परा के अनुसार नामों का रूपपरिवर्तन हुआ है—किन्तु यह भी सम्भव है कि काव्यपात्रों और स्थानों के नामों के रूप-परिवर्तन में मूल नामों से सहारा लिया गया हो। उदाहरणार्थ काव्यपात्रों के नाम देखिए। महाराज पयापति (प्रजापति); महारानी मिगावती (मृगावती), राजकुमार तिविट्टन् (त्रिपृष्ठ), सयंपवै (स्वयंप्रभा) आदि। स्थानों के नाम हैं—सुरमै सुरम्य देश, पुट्पमाकरण्डम् (पुष्पमहाकरण्डम्) पुष्पवाटिका, आदि।

कथावस्तु

राजा पयापति (प्रजापति) के दोनों पुत्र तिविट्टन् (त्रिपृष्ठ) और विजयन् दोनों ने विद्याधर-चक्रवर्ती अश्वकंठ की अधीनता स्वीकार नहीं की। अतएव अश्वकंठ ने अपने एक वीर को यह आज्ञा देकर भूलोक में भेजा कि उन राजकुमारों की हत्या कर दो। वह विद्याधर वीर सिंह का रूप धारण कर राजधानी की ओर दहाड़ता हुआ आया। यह बात सुनकर वीरवर तिविट्टन् स्वयं ललकारता हुआ निकल आया। उसकी संत्रासक मूर्ति देख सिंहरूपी विद्याधर भयकंपित हो निकटवर्ती एक गुफा के अंदर घुस गया, जहाँ एक वास्तविक सिंह पहले से सो रहा था। तिविट्टन् विद्याधर सिंह का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पीछा करते हुए उस गुफा तक चला गया। राजकुमार की गर्जना सुन तन्द्रामुक्त शेर बाहर निकला और तिविट्टन् पर झपटा। दोनों में घमासान द्वन्द्व छिड़ गया और तिविट्टन् ने उस शेर के मुँह को फाड़कर मार डाला। राजकुमार का पराक्रम देख, दूसरे विद्याधर नरेश ज्वलनजटी ने अपनी पुत्री स्वयंप्रभा का उसके साथ विवाह कर दिया। यह जान अश्वकंठ बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी विपुल सेना के साथ तिविट्टन् से लड़ने आया। दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ। अन्त में तिविट्टन् के हाथों अश्वकंठ का वध हुआ। राज्य में युवराज-पद पर अभिषिक्त होने के बाद तिविट्टन् 'कोटि कुन्द्र' नामक पहाड़ी को हाथ से ऊपर उठा लेने के उपलक्ष्य में 'वासुदेवन्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी पुत्री चोत्तिमालै (ज्योतिमाला) ने अपने मामा के पुत्र अमुदसेनन् (अमृतसेन) को स्वयंवर में माला पहनाकर पति के रूप में वर लिया। उसी स्वयंवर में तिविट्टन् के पुत्र विजयन् और उसके मामा की लड़की—दोनों का विवाह हुआ। अन्त में महाराज पयापति ने दीक्षा ग्रहण कर तपस्या की और कर्मनिर्जरा कर के कैवल्यपद प्राप्त किया। काव्यान्त में कवि कहते हैं, 'कालदेव और कामदेव दोनों पर विजय पाकर महाराज पयापति ने कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया। उनकी साधनाकीर्ति समस्त दिशाओं में फैल गयी। वस्तुतः अपने ज्ञान की प्रभा से वे समस्त जगत् के लिए समुज्ज्वल 'चूळामणि' (चूडामणि) बन गये।'

इस कथा को बहुत मधुर शब्दों में कविवर तोलामोळि देवर् ने संजोया है। राजनैतिक बातें, शासन के विधि-विधान, दूत-संदेश की रीतियाँ, जनता के त्यौहार और व्यवहार, अमात्यों की मंत्रणा-सभा, स्वयंवर, मायावी युद्ध आदि रोचक विषयों का समावेश कर इस कोमल काव्य का प्रणयन किया गया है। तमिल काव्य परम्परा के अनुसार ऐंतिणै (पाँच प्रकार के प्रदेश) का परिचय और देश-नगरादि का वर्णन करने पर भी, संस्कृत काव्य-परम्परा का निर्वाह पर्याप्त मात्रा में हुआ है। प्रसिद्ध शैवसंत पुराण के रचयिता लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री शेक्किळार ने 'चूळामणि' काव्य की शैली अपने ग्रन्थ के लिए अपनायी है।

विष्णु के अवतार कण्णन् (कृष्ण) की कथा और उनकी उपासना तमिलनाडु में बहुत प्रचलित हुई। जनमनहारिणी वह भक्तिधारा मुख्यतया पल्लवों के शासन काल में प्रवाहित थी। उसी समय कई वैष्णव कवियों ने कृष्ण सम्बन्धी अनेक गीत तथा प्रबंध-काव्य आदि रचे। वैष्णवेतर कवि भी उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य-परम्परा के अथवा उस मोहक काव्य-प्रवाह के अनुयायी बने। उनमें प्राकृत काव्य 'चूळामणि' के रचयिता तोलामोळि देवर् अग्रगण्य दीखते हैं।

चूळामणि काव्य का कोई महान् उद्देश्य या उच्च आदर्श नहीं रहा। केवल, राजा पयापति (प्रजापति) को जगद्वन्द्य तथा ख्याति और समादर प्राप्त 'चूडामणि' के रूप में चित्रित करना ही कवि का मुख्य उद्देश्य रहा है। काव्य के अन्त में यद्यपि पयापति का उत्कर्ष दिखाया गया है, तथापि समूचे काव्य में उनके कनिष्ठ पुत्र तिविट्टन् (त्रिपृष्ठ) का चरित्र-चित्रण ही, काव्य की गति एवं सौन्दर्य का परिचायक है। समग्र काव्य से यही भाव उत्पन्न होता है कि तिविट्टन् के आगे पयापति का अस्तित्व फीका पड़ जाता है। फिर भी, कृष्ण-सम तिविट्टन् जैसे महिमावान् एवं प्रभावशाली पुत्र के पिता होने का गौरव राजा पयापति को अवश्य प्राप्त होता है।

कवि की मधुर वाणी के प्रभाव से ये छोटी-मोटी त्रुटियाँ, जो मूल कथा के प्रवाह में आ गयीं, लुप्तप्राय हो जाती हैं। संस्कृत के शब्द, वाक्यविन्यास एवं भाव पाये जाने पर भी, तमिल की मधुरिमा के प्रभाव के आगे वह सब तिरोहित हो जाता है।

'ऐंपेरुम् काप्पियंगळ्' (पंच महाकाव्यों) के नाम हैं, शिलप्पधिकारम्, जीवकचिन्तामणि, मणिमेखलै, वळैयापति और कुण्डलकेशी। इनमें शिलप्पधिकारम्, चिन्तामणि और वळैयापति—तीनों जैन काव्य हैं। अन्य दोनों बौद्ध काव्य हैं। 'ऐंचिरु काप्पियंगळ्' (पंच लघुकाव्यों) के रूप में, चूळामणि, नीलकेशी, यशोधर काव्य, उदयणकुमार काव्य और नागकुमार काव्य माने जाते हैं। इनमें 'चूळामणि' को छोड़कर अन्य-ग्रंथ सफल काव्य नहीं कहे जा सकते। 'नीलकेशी' के बारे में पहले ही वर्णन किया जा चुका है। 'उदयण कुमार काव्य' वृहत्कथा नहीं है। वह केवल ३६७ पद्योंवाली रचना है। नागकुमार काव्य तो नाममात्र का है। 'ऐंपेरुम्काप्पियम्' का नामविभाजन प्रसिद्ध तमिल विद्वान् मयिलैनाथर के समय में ही (१३-१४ वीं शती) हो चुका था। इसी समय 'ऐंचिककाप्पियम्' का भी नामनिर्देश हुआ होगा। फिर भी, 'चूळामणि' काव्यलक्षण एवं रचनाशिल्प की दृष्टि से महाकाव्यों की कोटि में रखने योग्य हैं। महाकाव्य (पेरुम् काप्पियम्) का लक्षण बताते हुए विद्वानों ने लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का समग्र वर्णन जिसमें किया जाता है, वह महाकाव्य है और उनमें एक-दो की न्यूनता हो, तो वह 'चिरुकाप्पियम्' (लघुकाव्य) की कोटि में आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः इस दृष्टि से भी 'चूळामणि' चारों पुरुषार्थों का वर्णन होने के कारण महाकाव्य की ही श्रेणी में आता है।

लघुकाव्य : यशोधर काव्य

पूर्वोक्त पञ्च लघु काव्यों (जिन्हें रसकाव्य भी कह सकते हैं।) में यशोधरकाव्य भी एक है। इसमें कुल ३३० पद्य हैं। सुकर्म-दुष्कर्म के परिणामों को प्रकट करना तथा 'कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ?' (कौन व्यक्ति इस जगत् में अपने किये कर्म का फल नहीं भोगता ?) की वास्तविकता का समर्थन ही इस काव्य की प्रधान कथा है। काव्यकथा संक्षेप में इस प्रकार है :—

उदय देश का नरेश मारिदत्तन् चण्डमारी (चंडिका-सी बलिप्रिया देवी) को बलि द्वारा प्रसन्न करने के लिए युगल (भाई-भाई, भाई-बहन आदि की जोड़ी) की खोज कर रहा था। संयोग से उसके कर्मचारियों की दृष्टि में युवा जैन साधु अयरिषि और उसकी बहन अभयमति दोनों पड़ गये। बेचारे भाई-बहन पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए बलि होने को सन्नद्ध हुए। उनकी प्रसन्न एवं गम्भीर मुखाकृति देख राजा मारिदत्तन् विस्मयाभिभूत हुआ। उसने उनकी उस मोहरहित एवं निर्लिप्त त्याग भावना का कारण पूछा, तो युवक साधुवर ने राजा को जैन तत्त्वों से अवगत कराया। दोनों (भाई-बहन) ने राजा के पूर्वजन्मों का विशद् वर्णन किया। संक्षेप में वह पूर्वजन्म का वृत्तान्त इस प्रकार था—"अशोक नामक राजा बुढ़ापे के कारण अपने सफेद बालों को देखकर सांसारिक सुख-भोग के विरक्त हुआ और संन्यास ग्रहण कर लिया। उसका पुत्र यशोधरन् अपनी पत्नी अमृतमति के साथ राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्य में अट्टपंगन् (अष्टभंग) नामक एक हाथीवान (महावत) था, जिसका कण्ठ स्वर बहुत मधुर था तथा उत्तम संगीतज्ञ था। महारानी अमृतमति ने एक दिन उसे गाते हुए सुना और निकट जाकर देखा। रानी का मन उस महावत पर रीझ गया और दोनों का संसर्ग दिनोंदिन बढ़ने लगा। इन दोनों के पारस्परिक प्रेम का पता जब राजा यशोधरन् को चला तो वह बहुत दुःखी हुआ और विरक्त होकर संन्यास लेने का विचार किया। राजमाता को इस बात का पता चला तो उसने पुत्र यशोधरन् को सलाह दी कि चण्डमारी देवी को बलि चढ़ाई जाय तो सब अमङ्गल दूर हो सकता है। राजा यशोधरन् अहिंसाप्रेमी था, अतः आटे का मुर्गा बनाकर बलि के लिए उसको मारने की युक्ति निकाल ली। किन्तु बलिकर्म के बाद वह सत्तू-कुक्कुट जीवित हो उठा और दो टुकड़ों के रूप में ही छटपटाते हुए करुण क्रंदन करता रहा। इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीच, रानी अमृतमति ने भोजन में विष मिलाकर राजा और राजमाता (सास) दोनों को मार डाला। वे दोनों कई जन्मों तक पशु के रूप में भूमि पर पैदा हुए और अन्त में मुर्गे-मुर्गी के रूप में जन्मे। उस समय यशोधरन् का पुत्र यशोमति शासक था। एक जैन मुनि ने उसके पूर्व जन्मों का वृत्तांत बताया। व्याकुलचित्त यशोमति मन बहलाने के हेतु शिकार खेलने वन में गया और वहाँ मुनिवर (जैन साधु) सुदत्त के सन्निध्य में उनके उपदेशों से मुक्ति प्राप्त की। उसके एक पुत्र और पुत्री थे। वे ही क्रमशः यशोधरन् और उसकी माता थे, जो उस यशोमति के पिता और दादी थे।"

अब उदय देश के नरेश मारिदत्तन् को ज्ञात हो गया कि वे दोनों अपने पिता और बुआ हैं, और दादा और परदादी भी हैं। फिर बलि चढ़ाने का विचार त्यागकर, उस युवक साधु और उसकी बहन को आदरपूर्वक मुक्त किया। तदनन्तर मारिदत्तन् संन्यास ग्रहण कर, तपस्या करके मुक्ति का अधिकारी बना।

मूल रचना

दसवीं शती में यह यशोधर कथा लोकप्रिय हुई। सोमदेवसूरि, वादिराजसूरि, पुष्पदन्त आदि जैन कवियों ने उस कथा को अपनी संस्कृत रचनाओं का विषय बना लिया। एक पद्य से पता चलता है कि पुष्पदन्त की रची संस्कृत रचना के आधार पर ही प्रस्तुत तमिल काव्य 'यशोधरकावियम्' लिखा गया था और उसके रचयिता का नाम था 'वेण्णावलुडैयार वेळ्' यद्यपि इनकी रचना का स्रोत संस्कृत ग्रन्थ रहा, तथापि अपनी विशिष्ट मौलिकता से कवि ने काव्य के समस्त अंगों को परिपुष्ट किया है।

जैनधर्म के अनुसार संगीत कामवासना या आसक्ति का कारण है। इस दृष्टि से कवि ने इस काव्य में एक महावत को गायक के रूप में प्रस्तुत किया और महारानी को उस पर मोहित बताकर यह सिद्ध किया कि संगीत आसक्ति का हेतु है।

काव्यवर्णन के अनुसार, महावत ने जिस राग में गीत गाया था, उसका नाम 'मालवपंचम' था। इस 'पण्' (राग) का उल्लेख केवल तीन सौ वर्ष पूर्व के ग्रंथों में ही पाया जाता है, उससे पहले के ग्रंथों में नहीं पाया जाता। विद्वानों का मत है कि यह ग्रंथ संभवतः विजयनगर साम्राज्य के समय में रचा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लघुकाव्य : शान्तिपुराणम् और नारदचरितै

'पुरत्तिरट्टु' नामक फुटकल पद्यों का एक संग्रहग्रन्थ चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व संकलित किया गया। उसमें 'शान्तिपुराणम्' और 'नारदचरितै' नामक दो जैन ग्रन्थों के कुछ पद्य मिलते हैं। जो पद्य 'शान्ति-पुराणम्' के नाम से निर्दिष्ट हैं, उनमें दो मेरुमन्दरपुराणम्' (जैन तमिल पुराणग्रंथ) में भी हैं। संभव है, 'मेरुमन्दर पुराणम्' के रचयिता ने पूर्ववर्ती जैनमतानुयायी कवि के पद्यों को आदरवश अपनी रचना में यथावत् स्थान दिया हो।

'शान्तिपुराणम्' ग्रंथ नवीं शती में कन्नड में रचा गया, जिसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र है। इसी प्रकार तमिल में भी हुआ होगा। 'नारदपुराणम्' में एक अहिंसोपासक नरेश की कथा है, जो हत्या या हिंसा का नाम तक नहीं लेता था। इसमें संन्यास और तपस्या के प्रभाव का विशद् वर्णन है। श्रीपुराण में नारद और पर्वत की प्रसिद्ध कथा है, उसी के आधार पर यह ग्रन्थ भी रचा गया लगता है।

लघुकाव्य : मेरुमन्दर पुराणम्

ध्यातव्य है कि 'नीलकेशी' काव्य के व्याख्याकार वामनमुनि ने 'मेरुमन्दर पुराणम्' नामक काव्य की रचना की है। वे सोलहवीं शती के थे।

काव्यकथा

वैजयन्तन् और उसके दो भाई जयन्तन् तथा सजयन्तन् तीनों 'सुयंभू' (स्वयंभू) तीर्थंकर के सदुपदेश से मुनि बन गये। वैजयन्तम् तीनों लोकों के लिए सुवन्द्य 'चूडामणि' बन जाते हैं। उनके भाई संजयन्तमुनि अपने को सतानें वाले एक विद्याधर को उदारतापूर्वक क्षमा कर देते हैं। उनकी इस आदर्श शान्त प्रकृति ने उन्हें भी सर्ववन्द्य बनाया। इनके भाई जयन्तन् विद्याधर के अतिक्रम से क्रुद्ध हो उठे। उस समय अध्यापन् नामक साधु ने पूर्वजन्म-वृन्तान्तों से जयन्तन् को अवगत कराया। वह वृत्तान्त इस प्रकार है—

'भद्रमित्रन् नामक वणिक् (श्रेष्ठी) अपनी चिरसंचित सम्पत्ति गुप्त रूप से एक मन्त्री के पास धरोहर के रूप में रखकर विदेश गया और लौटने पर जब उसने अपने मित्र मन्त्री से अपनी धरोहर की माँग की, तो मन्त्री ने आश्चर्य प्रकट किया कि तुम क्या कोई नशा कर के आये हो। इस अप्रत्याशित प्रवंचना से क्षुब्ध हो भद्रमित्रन् शोर मचाने लगा। उसकी उत्तेजना और आक्रोश का मन्त्री ने लाभ उठाया और लोगों के समक्ष यह साबित करना, उसके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुलभ हो गया कि यह वणिक् पागल है, इसीलिए ऐसा कर रहा है। अन्त में महारानी को सत्य का पता चल गया। दुष्कर्म का फल समझिए कि मन्त्री की अकाल मृत्यु हो जाती है और वह साँप के रूप में पैदा होता है। वणिक् भद्रमित्रन् जैनमुनि के धर्मोपदेश से धर्माराधन में श्रद्धापूर्वक तत्पर हुआ। अपने पुत्र की इस स्थिति से असंतुष्ट होकर वणिक्-माता आत्महत्या कर लेती है और वाघिन के रूप में पैदा होती है। वणिक् अपनी सहज मृत्यु के उपरान्त महारानी के गर्भ से जन्मा। उधर मन्त्री का जीव, जो कि सर्पयोनि में जन्मा था, उसके डसने से महाराज की मृत्यु हो गयी और साँप भी तत्काल मर गया जिसने फिर एक जानवर के रूप में जन्म लिया। राजा भी मरकर हाथी बना। राजकुमार के रूप में जन्मा वणिक् भद्रमित्रन् धर्मोपदेश सुनकर तपस्या के प्रभाव से चारणऋषिधारी मुनि हुआ। गज के रूप में जन्मे राजा को साँपरूपी मन्त्री पुनः डस लेता है। राजा जन्मबंधन से सदा के लिए छूट जाता है।...' इस प्रकार एक ही व्यक्ति के विविध जन्मों का वर्णन इस पुराणम् में है। इन सबको अन्ततः स्वर्ग या मोक्ष मिल जाता है। कथारम्भ में बताया गया विद्याधर ही, जिसने साधुवर संजयन्त मुनि को कष्ट दिया था, मन्त्री और साँप के रूप में जन्मता रहा। अपनी जन्म परम्परा का वृत्तांत सुनकर वह दुर्मति विद्याधर भी सद्गति प्राप्त करने के लिए तपस्या करने लगा। जयन्तन् और उनकी माता, दोनों जो वणिक् भद्रमित्रन् और उसकी माँ के रूप में जन्मे थे, बाद को मेरु तथा मन्दरन् के नाम से राजकुमारों के रूप में अवतरित हुए। फिर तपस्या-साधना करके प्रभु के समवसरण में पहुँच गये।

इस प्रकार सुकर्म और दुष्कर्म के फलाफलों की शृंखलाबद्ध पारम्परिक अनुगति को विविध वृत्तान्तों के द्वारा व्यक्त करना ही इस जैनग्रंथ 'मेरुमंदर पुराणम्' का विषय है।

इस ग्रंथ के रचयिता वामनमुनि तमिल और संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे।

इस ग्रन्थ में कुल १४०५ पद्य हैं। इस ग्रंथ के दो पद्य 'शान्तिपुराण' के पद्य के नाम से 'पुरत्तिरट्टु' में संकलित हैं। संभव है, अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के पद्यों को वामनमुनि ने यथावत् उद्धृत किया है।

जैन-साध्वी कवयित्रियाँ

१. कवुन्ती

जैन साध्वियों को 'कुरत्तिहळ्' कहा जाता है। प्राचीन अभिलेखों में तथा वाङ्मय में भी यही नाम मिलता है। साथ ही 'आरियांगनैहळ्' (आर्यिकाएँ),

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'इयक्किहळ्' (यक्षिणियाँ) और 'कवुन्तिहळ्' आदि नाम भी प्रचलित हैं। 'शिलप्पाधिकारम्' की प्रमुख नारी पात्र जैनसाध्वी कवुन्ती अडिहळ् (साध्वी) का उल्लेख उस काव्यप्रसंग में हुआ ही है। 'जीवकचिन्तामणि' में उपलब्ध प्रसिद्ध पद्यों के बारे में, उसके व्याख्याकार नच्चिनार्क्किनियर ने लिखा है कि ये सब 'कवुन्तियार पाडल्', अर्थात् कवुन्ती जी के पद्य हैं। नच्चिनार्क्किनियर के समय के पूर्व ही (ई० चौदहवीं शती के पूर्व) ये पद्य उस काव्य में स्थान पा चुके होंगे। उस कोमल महाकाव्य के अनुरूप, उसी स्तर पर काव्यसृजन की योग्यता उस साध्वी कवयित्री में थी।

२. अव्वै

साध्वियों तथा संन्यासियों को अव्वै भी कहा जाता था। 'जीवकचिन्तामणि' में इस शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। तमिल साहित्य में, जो 'अव्वैयार पाडल्हळ्' (अव्वैयार के पद्य) के नाम से मिलते हैं, वे साध्वियों के रचे पद्य होने चाहिए। गगनचारी जैन साधुओं की भाँति, साध्वियाँ भी देशाटन करती हुई धर्म का प्रचार करती रहती थीं।

अन्यनाम

इनके अतिरिक्त, और भी अनेक साध्वी कवयित्रियाँ हुई होंगी। उनका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। शिलालेखों में, पिरुतिवि विटंग कुरत्ति[1] (३५६।१९०९), और गुणकीर्ति भटारकर् (भट्टारक) की छात्रा 'कनक वीर कुरत्तियार'[2] दोनों कवयित्रियों के नाम पाये जाते हैं। चोलाधीश श्री मदुरै कोण्ड कोट्परकेसरि वर्मन् के शासनकाल में अरिष्टनेमी पटारर् (भट्टारक) नामक जैनमहापंडित थे। उनकी एक शिष्या थीं पट्टिणी कुरत्ति, जो अच्छी कवयित्री थीं। स्त्री पाठशाला और कूप के बारे में एक शिलालेख[3] में उल्लेख

---

१. पृथिवी विटंक गुर्वी का अपभ्रंश रूप है। तमिल में गुरु को 'कुरवर्' कहते हैं और उसके स्त्रीवाची शब्द के लिए 'कुरत्ति' का अभिधान है। आचार्याणी, उपदेशिका, अध्यापिका, साध्वी, विदुषी आदि अर्थों में 'कुरत्ति' का प्रयोग होता था। अतः इसे गुरु (कुरवर्) का स्त्रीवाची माना जा सकता है। किन्तु मुख्यतया साध्वी और संन्यासिनी के अर्थ में ही 'कुरत्ति' का प्रयोग होता है, जिस प्रकार साधु-संतों के लिए 'कुरवर्' (गुरुजी) का व्यवहार होता है।

२. S. I. I. Vol. III, No. 92.

३. S. I. I. Vol. VI, No. 56.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इनके अतिरिक्त श्री मिळ्ळूर कुरत्ति, शिरिविशै कुरत्ति, नालकूर कुरत्ति, अरिट्टनेमि कुरत्ति, तिरुप्पर्रुत्ति कुरत्ति, कूडर् कुरत्ति, इळनेचुरक् कुरत्ति, इत्यादि साध्वी कवयित्रियों के नाम भी जो अपने-अपने वासस्थान या जन्म-स्थान से सम्बन्धित हैं, शिलालेखों में उपलब्ध हैं।

ये नाम साधारणतया संन्यासिनियों या साध्वियों के लिए व्यवहृत होते थे। केवल जैन-साध्वियों को कन्ति, अव्वै, अम्मै, पैम्मै, शामि पॅरुमाट्टि, आशाळ्, तलैवि, ऐयै, आदि कहा जाता था। इन नामों के निर्देश-स्थलों से उस समय जैन धर्म के सफल एवं सुव्यवस्थित प्रचार का पता चलता है। ये साध्वियाँ गृहणियों तथा अनाथ व विपदग्रस्त स्त्रियों में जैनधर्म का प्रचार करती थीं और विद्या, सदाचार, लोकव्यवहार आदि का उपदेश देती थीं। श्रवणवेळगोळ के शिलालेखों में नागमति कंतियार, शशिमति कंतियार, नविलूर राशिमति कंतियार, अनंतमति कंतियार, श्रमती कंतियार, मांगप्पॅ कंतियार आदि साध्वियों के नाम मिलते हैं। ये साध्वी कवयित्रियाँ अधिकतर संस्कृत के नीति ग्रन्थों का अनुसरण करके, तमिल में छोटे-बड़े लघु पद्यग्रंथों की रचना करती थीं। अव्वैयार के नाम पर जो पद्य पाये जाते हैं, वे प्रसिद्ध तमिल कवयित्री औवैयार के पद्यों से भिन्न हो सकते हैं। बाद में अन्य मतावलम्बी साध्वियों के लिए भी 'अव्वै' का विधान हुआ है।

विशिष्ट प्रबंध काव्य : 'कलिंगत्तु परणि'

'परणि' उस प्रबंध काव्य को कहते हैं, जिसमें सहस्र गजों को समरांगण में मारनेवाले वीरवर का प्रभावकारी वर्णन हो। 'परणि' का दूसरा अर्थ है 'काडुकिळाळ्' (वन की अधिष्ठात्री देवी काली माता)। 'परणि' (भरणी) काली देवी का जन्म-नक्षत्र होने के कारण, इस प्रबंध में मुख्यतया काली माँ का अधिक वर्णन है और समरांगण की अधिष्ठात्री देवी के रूप में उसका सम्मान किया गया है। देवी का प्रदेश मरुभूमि और बीहड़ वन प्रान्तर, उसका भयावह मन्दिर, देवी के परिजन भूत-पिशाचादि, भूखे पिशाचों का आर्त्तनाद, उनमें नवागत पिशाच के द्वारा देश-विदेश के राजाओं का वर्णन तथा चरितनायक वीर नरेश का प्रभाव, उसकी समरसज्जा, समरांगण में प्राप्य मृत देहों का वर्णन जो पिशाचों के लिए स्वादिष्ट पदार्थ माना जाता है, समर और समरांगण का रोचक वर्णन, भोज-तैयार करने के प्रकार, सुस्वादु खाद्य-पेयादि का बँटवारा तथा मिल-जुलकर पिशाचों का भोजन करना—इत्यादि बातें 'परणि' प्रबंध में होती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परणि-प्रबंधकाव्य के प्रारम्भ में आराध्य देवी के साथ, अपने देश के नरेश का वन्दनात्मक आख्यान किया जाता है और कवि देवता से प्रार्थना करता है कि राजा का सदा मंगल हो और वह सर्वविजयी बने। फिर पराजित राजा के देश से बंदिनी के रूप में लायी गयी नगर-नारियों का वर्णन रहता है। उन नारियों के आवास को तमिल में 'वेळम्' हरम (harem) कहते हैं, जिसका अर्थ है कमनीय स्थान। कवि ग्रन्थारम्भ में राजासक्त उन नारियों का नख-शिखवर्णन करके, उनसे प्रार्थना करता है कि द्वार खोलें और नरेश की समरयात्रा और विजयवार्ता का वर्णन सुनें। ऐसी कई विशिष्ट परम्पराओं तथा नीतियों को हम 'परणि' प्रबंधों से जान लेते हैं।

इन 'परणि' प्रबंधों में 'कलिंगत्तु परणि' सबसे उत्तम माना जाता है। चोलनरेशों ने जब अन्य देशीय शत्रु नरेशों पर चढ़ाई की और उनको परास्त कर लौट आये, तब 'समर कथा' के रूप में यह प्रबंध रचा गया। संघकालीन काव्य में, समर के वीभत्स काण्ड का वर्णन पिशाचों के भोज के रूप में हुआ है। पश्चात्वर्ती काव्यों में यह आंशिक स्थान पाने लगा। किन्तु, समर दृश्य को पूर्ण प्रबंध का रूप केवल 'परणि' काव्यों में ही मिलता है। इस प्रबंध में वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसों के स्थायी भावों का वर्णन अधिक मात्रा में हुआ है। कवि के अपूर्व चमत्कार से असुन्दर भी सुन्दर दीखते हैं, कुत्सित दृश्य भी कोमल दृश्य बन जाते हैं। पिशाचों का वर्णन कवि-कल्पना की उत्तम उपज है, जो पढ़ते ही बनता है। उस वर्ग के अनुरूप इंद्रजाल, मायावी चेष्टा, अट्टहास और विस्मयकारी कृत्यों के सजीव चित्रण हैं।

अन्य 'परणि' प्रबंध

चोलनरेशों की विजयवार्ताओं को 'कॉप्पत्तु परणि' 'कूडल संगमत्तु परणि' 'कलिंगत्तु परणि' (कुलोत्तुंग चोलन् के शासनकाल में, उसके सेनापति करुणाकर तॊण्डमान् द्वारा कलिंग देश पर की गयी चढ़ाई का प्रशस्तिमय प्रबंध), और विक्रम चोलन् द्वारा प्राप्त कलिंग-विजय का वर्णन करनेवाला प्रबंध—इस तरह दो 'कलिंगत्तु परणि' हैं) आदि कई 'परणि' प्रबंध थे। उनमें केवल 'कलिंगत्तु परणि' ही जिसके रचयिता जयंकोण्डार थे, आज तक उस परम्परा का शीर्षस्थ प्रबंध माना जाता है। इन 'परणि' ग्रन्थों से बहुत-सी ऐतिहासिक बातें उद्घाटित होती हैं।

'कलिंगत्तु परणि' के रचयिता

इस सुप्रसिद्ध प्रबंध-काव्य के रचयिता भी कम विख्यात नहीं थे। उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूरा नाम था दीपंकुडि जयंकोण्डार। 'जयंकोण्डार' का अर्थ होता है विजय प्राप्त (राजा), जो मुख्यतया चोल राजाओं की उपाधि थी। चोल-शासन में यह प्रथा थी कि राजा की उपाधि या प्रशस्तिसंज्ञा अमात्य और दरबारी श्रेष्ठ (प्रधान) कवि के नामों के साथ जोड़ी जाती थी। कविवर 'जयंकोण्डार' को तत्कालीन कवियों ने 'कविचक्रवर्ती' नाम से अलंकृत किया है। 'दीपंकुडि' तत्कालीन श्रमणसंघ का नाम था। अतः यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ 'परणि' प्रबंध (कलिंगत्तु परणि) के रचयिता कविचक्रवर्ती जयंकोण्डार श्रमणसंघ के साधु थे। चोल-नरेश कुलोत्तुंग (ग्यारहवीं शताब्दी) के समकालीन थे।

भक्ति-गीतों की धारा

तमिलनाडु में पल्लवों के शासनकाल में भक्तिधारा अधिक व्यापक और वेगवती हुई। शैवसंतकाव्य 'तेवारम्' और वैष्णव संत अळ्वारों की अमृतमयी वाणी 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' आदि का निर्माण तथा बहुजनहिताय प्रसार इसी काल में हुआ था। इसका दूसरा पक्ष भी अछूता न रहा। साम्प्रदायिक कलह, एक-दूसरे के मतों को नीचा दिखाने की धुन, भयंकर स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा और इनके परिणामस्वरूप प्रतिशोध आदि का जोर भी कम नहीं था। सम्प्रदाय तथा धर्म (मत) राज्यशासन की आड़ में अपने क्रिया-काण्डों पर जोर देने लगे। फिर उत्तेजना, उन्माद, उच्छृंखलता और उद्दण्डता की क्या कमी हो सकती है? फिर भी ये धर्म-कलह पाश्चात्य देशों की तरह घोरतम महायुद्धों के रूप में परिणत नहीं हुए। कई धर्मकट्टरों के मध्य ऐसे आदर्श समन्वय पोषक नरेश भी हुए जो बिगड़ी स्थिति को सुधारने का प्रयास करते थे। पल्लवनरेश महेन्द्रन् ने स्वयं शैव होने पर भी, श्रमणों (जैनों) को सम्मानित करने में कोई कसर नहीं रखी। जैन शिलालेखों में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उस समय श्रमणधर्म की कई बातें जीवन के आधार तत्त्वों के रूप में स्वीकृत हो चुकी थीं। सामुदायिक उत्थान के लिए वे प्रबल संबल बने। अहिंसा, जनसेवा, भगवान् की उपासना, दयालुता, सदाचार आदि कई तत्त्व न केवल जैन धर्मावलंबियों, बल्कि अन्य मतावलम्बी लोगों के लिए भी अनिवार्य जीवनसूत्र बने। शैव महाग्रंथ 'पेरियपुराणम्' में इन बातों पर अधिक जोर दिया गया है। सुप्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुनाबुक्करशद् पहले जैन थे, और बाद में शैव बने। उन्होंने अपने आराध्य देव शिव को 'दयामूलतत्त्व' बताया। इस प्रकार कई बातें जो जैन धर्म की थीं, उस काल में अन्य मतों में समाहित हो गयीं। कुछ विद्वानों के मतानुसार, इस शैव मत के नवोत्थान को जैन धर्म का नवोदय भी कह सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह भक्तिप्रवाह जैन धर्म को आगे चलकर एक प्रकार से नामशेष कर चुका था। जैन कवि रचित 'याप्परुंगलवृत्ति' (छंदग्रन्थ) में कई पद्य तत्कालीन शैव-वैष्णव भक्ति-धारा के द्योतक हैं। जो पद्य जैन मतपोषक हैं, वे भी तत्कालीन आळ्वार और नयन्मारों के गीतों की तरह सुमधुर हैं। शैवाचार्य तिरुनावुक्करशर् के कई पद्य, जो उन्होंने जैन होने के समय रचे थे, अब भी जैन साहित्य में उपलब्ध हैं।

अन्य जैन-ग्रन्थ

पल्लवों के शासनकाल में ही 'परणि' के अतिरिक्त 'उला', 'कलम्बकम्', 'अन्तादि' आदि प्रबंधग्रन्थ प्रसिद्ध हो गये थे। 'पन्निरु पाट्टियल्' नामक लक्षण-ग्रन्थ में उक्त प्रबंधों के विस्तृत लक्षण वर्णित हैं। 'याप्परुंगलवृत्ति' (जैन पंडित रचित तमिल छंदग्रन्थ) में उद्धृत पद्यों से पता चलता है कि जैन कवियों ने भी कई प्रबंध काव्य रचे थे। किन्तु कालकवलित हो जाने से, उनमें से कई एक अब पूर्णतया नहीं मिलते। 'तिरुक्कलम्बकम्' और 'निरुनूट्रन्तादि' नामक दो पुस्तकें अब पूरी मिली हैं जो उत्तम जैन प्रबंध ग्रन्थों की परिचायक हैं। ये दोनों अर्वाचीन ग्रन्थ हैं। तिरुक्कलम्बकम्' के रचयिता का नाम उदीचि देवर् है। 'उदीची' का अर्थ है उत्तर दिशा। 'तिरुनूट्रन्तादि' के रचयिता अविरोधियार थे। इस ग्रन्थ में 'मयिलैनाथर' का वर्णन है, जो नेमिनाथ तीर्थंकर के मंदिर के रूप में प्रसिद्ध था और आजकल 'मयिलै' या 'मयिलाप्पूर' (मद्रास शहर का एक हिस्सा) के नाम से प्रसिद्ध है। इन कवियों का प्राकृत, पाली आदि अपभ्रंश भाषाज्ञान, उक्त ग्रन्थों के द्वारा प्रकट होता है। अर्वाचीन प्रबंधों में 'आदिनाथ पिल्लै तमिळ्' भी एक है। यह विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदय के प्रभाव से उत्पन्न गाथा प्रबंध प्रतीत होता है।

नामों का स्पष्टीकरण

'कलम्बकम्' वह प्रबंध है, जिसमें विविध कविताओं का संकलन हो। साहित्यिक एवं व्यावहारिक परम्पराओं का अनुसरण कर ये कविताएँ रची जाती हैं। इनका कदम्ब (समाहार) ही 'कलम्बकम्' है। अन्तादि कविता की तरह, इस प्रबंध की कविताएँ हैं। पहली कविता का अन्त, दूसरी का प्रारंभ बन जाता है। इसी प्रकार पूरा प्रबंध ही एक दूसरी कविता से संबद्ध होकर मालाकार बन जाता है।

'पिल्लै तमिळ्' बालप्रबन्ध को कहते हैं। इसमें कवि अपने प्रिय देवता या राजा का वर्णन बालक रूप में करता है। बालक की विविध दशाओं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवस्थितियों और बोली, क्रीडा आदि का विस्तृत एवं रोचक वर्णन इसमें होता है। ऐसे कई जैन प्रबन्ध रचे गये थे, पर अब नहीं मिलते।

विजयनगर साम्राज्य

विजयनगर के साम्राज्यकाल में सभी धर्मों और सम्प्रदायों का समुचित आदर होता था। यह साम्राज्य वर्णाश्रमधर्मों का जाग्रत पालक-पोषक था। इस साम्राज्य में ये चारों सम्प्रदाय राजाश्रित तथा आदरास्पद थे; १. माहेश्वर मत, २. बौद्ध मत, ३. वैष्णवमत और ४. आर्हत मत[1]।

इस काल में जैन मतावलम्बी अतीत की अपेक्षा अधिक उदार थे तथा अपने विधि-नियमों में परिष्कार कर लिया था। ई० ११५१ के एक शिलालेख में उल्लेख है कि 'शिव, ताद्रि (तोताद्रि ?), और (सुख प्रदायी जिन परमात्मा को प्रणाम।...'[2] तत्कालीन हिन्दू भी जिनालय में जाकर आराधना आदि करने के लिए हाथों में 'काप्पु' (रक्षा सूत्र) बाँधने लगे थे। जैनों ने भी हिन्दुओं की अनेक विधियाँ अपना ली थीं। इतिहास से पता चलता है कि यह समन्वय स्थिति विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भी रही। इस समन्वय का एक उत्तम उदाहरण मिला है।

विरूपाक्ष उडैयार और बुक्कराय के शासनकाल में हिन्दुओं और जैनों के मध्य स्थल सीमा-सम्बन्धी विवाद खड़ा हुआ। स्थिति विकट थी। आखिर राजाज्ञा से या नागरिकों की अभ्यर्थना पर दोनों पक्ष के लोग एक स्थान पर एकत्र हुए और खुले मन से चर्चा हुई। अन्ततः विद्वानों ने यह निर्णय किया कि जैन दर्शन और वैष्णव दर्शन में कोई विच्छेदक अन्तर नहीं है; अतः दोनों पक्ष-वाले आपस में मिल-जुलकर रह सकते हैं और उन्हें रहना होगा। उसका सुपरिणाम यह हुआ कि जिनालयों के द्वाररक्षक और पुजारी वैष्णव नियुक्त किये गये और चूना पोतने का कैङ्कर्य (सेवा) भी वैष्णवों को ही सौंपा गया। इस घटना को उसी समय अभिलेख के रूप में शिलांकित किया गया। यह प्रबल आज्ञापत्र से कम न था।[3]

इसी प्रकार, सोलहवीं शताब्दी के श्रमणों में भी समन्वय की भावना दृष्टिगोचर होती है। तत्कालीन जैन साहित्य और अभिलेखों में स्वमत प्रख्यापन

---

१. E. C. XI. C. K. 13, 14, 20, 21.
२. E. C. XII, Tr. 9. 3.
३. E. C. II, 334.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के साथ, आदिवराहमूर्ति और शम्भु (विष्णु और शिव) देवताओं की भी वन्दना की गयी है।[1] यद्यपि वीरशैवों और जैनों में भीषण संघर्ष हुए थे, तथापि दोनों की समन्वयात्मक स्थिति भी आ गयी थी। वीरशैवों ने यह आम घोषणा प्रसारित की कि जो जैन विरोधी होते हैं, वे सब शिवद्रोही और 'संगमर्' (शैवाचार्य) के शत्रु माने जाएंगे।[2]

इसी काल में, तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ शिवलिंग मूर्तियाँ भी रखी और पूजी जाने लगीं। इसका प्रमाण एक शिलालेख में प्राप्त होता है।[3]

विजयनगर-शासकों की कई स्त्रियाँ जैनधर्म की अनुयायी थीं। तत्कालीन राजाओं और रानियों ने कई जिनालय निर्मित कराये और उनके संचालन के निमित्त पर्याप्त सम्पत्ति देवस्व के रूप में रख छोड़ी। उनकी सभाओं में कई जैन पण्डित आस्थान विद्वानों और कवियों के रूप में विद्यमान थे। कृष्णदेव राय के समय में, वादि विद्यानन्द नामक सुप्रसिद्ध जैनमहापण्डित एवं सुवक्ता थे। उन्हीं के समय में, मंडल पुरुषर् नामक जैनविद्ववर् ने 'चूळामणिनिघंटु' नामक वृहत् तमिलकोश की रचना की। उस निघंटु और उसके रचयिता को तमिलभाषी आज भी आदरपूर्वक स्मरण करते हैं। उस समय के कई जैन-ग्रंथ अब तक प्रकाश में नहीं आये हैं। अगर वह साहित्य प्रकाश में आये तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात हो सकते हैं।

जैन विद्वानों और उनकी अमूल्य रचनाओं का समादर जैनेतर विद्वान् भी करते थे और करते हैं। वैदिक मत के विप्रवर नच्चिनार्क्किनियर ने जैन-महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' की व्याख्या लिखने के लिए जैनदर्शन का विधि-वत् सांगोपांग अध्ययन किया। समन्वय की यह परम्परा आज तक चली आ रही है। इस युग में चक्रवर्ति नयिनार् प्रसिद्ध जैनतत्त्ववेत्ता विद्वान् हो गये हैं। उनके पूज्य पिता अप्पासामि नयिनार् के पास ही 'तमिल दादा' स्व० डॉ० उ० वे० स्वामिनाथन् अय्यर ने जैन तत्त्व का अध्ययन किया था। नयिनार् जी का गाँव विडूर जैन धर्म का केन्द्र माना जाता है। 'चित्तामूर-मठ' तमिल-भाषी जैनियों के लिए उत्तम विद्यापीठ या ज्ञानपीठ बन गया। तिरू० वि०

---

१. E. C. VII. K. p. 47.
२. E. C. V, BL. 128.
३. M. A. R. 1925 p. 15.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कन्नाणमुन्दर मुदलियार-जैसे विद्वानों ने श्रमणधर्म की सार्वजनीनता के बारे में काफी लिखा है।

डॉ० उ० वे० स्वामिनाथन् अय्यर ने लिखा है कि एक जैनधर्मी सज्जन की श्रीमती जी अपने तत्त्वज्ञान में परम विदुषी थीं और पारिभाषिक तथा सांकेतिक शब्दों और वाक्यों का भी उनको अच्छा ज्ञान था। अय्यर जी ने भी उनकी सहायता से पर्याप्त तात्त्विक जानकारी प्राप्त की। इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी अपने धर्म मत की पर्याप्त जानकारी रखती थीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. गद्यग्रंथ, इलक्कणम्, निघंटु आदि

गद्यग्रन्थ : 'श्रीपुराणम्'

तमिल में गद्यग्रन्थों का महत्त्व ईसाई पादरियों ने ही बढ़ाया। 'तोल-काप्पियम्' में संवाद या गद्यमय कविता की चर्चा है। 'शिरगुरी कथै' आदि कथाएँ उसी शैली में लिखी गयी थीं। किन्तु उन्हें शुद्ध या गद्य-साहित्य नहीं कह सकते। 'शिलप्पधिकारम्' और पेरुन्तेवनार विररति 'भारतम्' में भी गद्य मिलता है लेकिन इन्हें भी पूर्णतया गद्य-साहित्य नहीं कहा जा सकता। बाद में 'इलक्कण' (लक्षण-व्याकरण, छंदादि) ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में 'इरैयनार् अहप्पॉरुळ्' आदि गद्यग्रन्थ लिखे गये। इनकी शैली और भाषा प्रवाह ऐसा है कि इनको साहित्यिक कह सकते हैं; फिर भी इनको पूर्ण एवं सफल गद्य-साहित्य में नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार वैष्णव आचार्यों ने 'ईडु', 'पन्नीरायिरप्पडि', 'मूवायिरप्पडि' आदि अद्भुत् व्याख्याएँ वैष्णव संत आळ्वारों की वाणियों (नालायिर दिव्यप्रबन्धम्) के लिए रची थीं, जो संस्कृत-तमिलमिश्रित 'मणिप्रवाल' शैली में निर्मित हैं। ये व्याख्याएँ साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि की रचनाएँ हैं और इनकी भावगम्भीरता और प्रांजल अभिव्यंजना की सराहना न केवल वैष्णव अपितु वैष्णवेतर विद्वान् भी मुक्तकंठ से करते हैं। फिर भी इन्हें शुद्ध गद्य-साहित्य नहीं कह सकते।

पुराणम्

तमिल गद्य-साहित्य का आदिग्रन्थ श्रीपुराणम् माना जा सकता है। ईसाई पादरियों के प्रयास के पूर्वप्रचलित गद्य-साहित्य का जो रूप था, वह इसमें मिलता है। यह एक प्रमुख जैन ग्रन्थ है। नवीं शताब्दी में गुणभद्राचार्य ने त्रेसठशलाकापुरुषचरित के रूप में जिनसेनाचार्य के महापुराण के अन्तर्गत 'उत्तरपुराण' नामक ग्रन्थ लिखा था। उसी के अनुसरण में 'श्री पुराणम्' लिखा गया।

श्रीपुराणम् ग्रन्थ 'मणिप्रवाल' शैली में रचित है। जब अन्य भाषाप्रवण विद्वान् कोई ग्रन्थ लिखते हैं, तो उसमें रचयिता के भाषान्तर-ज्ञान का स्पष्ट प्रभाव, उस भाषा के शब्दप्रयोग द्वारा पड़ ही जाता है। जब समय की माँग, रुचि, आग्रह आदि उत्प्रेरक साधन साथ देते हैं, तो भाषासम्मिश्रण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की बात ही क्या ? ई० पू० तीसरी सदी के गुफाशिलालेखों में ऐसी मिश्रित भाषा का रूप मिलता है। बौद्ध तथा जैन विद्वानों ने धर्मप्रचार के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्द मूल भाषा से (पाली, प्राकृत, संस्कृत आदि से) लिये थे। इस शैली की अवहेलना, तत्कालीन तिरुज्ञानसम्बन्धीर जैसे—शैवाचार्यों ने की। पर ऐसी कटु आलोचना-अवहेलना से टक्कर लेकर भी वह शैली पनपती रही। पेरुन्देवनार् रचित 'भारतम्' की व्याख्या में मणि-प्रवाल शैली दिखाई देती है। यह 'भारतम्' ग्रन्थ तोळ्ळारू एरिन्द ('तो-ळ्ळारू' प्रदेश के विजेता) नन्दिवर्मन् के समय में (ई० नवीं शती) रचित हो सकता है। ई० ९८८ के शिलालेख में यह वाक्य है—"माणिक्कंगळिरण्डिनाल मागधैरष्टाभिरुण्णांशु दिग्वरैः.....पायात्।" इस वाक्य का पहला अंश तमिल है जिसका अर्थ है, 'दो माणिकों से' और बाद का अंश तो शुद्ध संस्कृत का है।

मणिप्रवाळम्

यह शैली बहुप्रचलित हो जाने के कारण ग्यारहवीं शती में प्रणीत व्याकरण-ग्रन्थ या लक्षण-ग्रन्थ 'वीर चोळियम्' में मणिप्रवाल शैली का लक्षण प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ की रचना वीरचोळन् नामक नरेश के नाम पर आचार्य बुद्धमित्र ने की थी। मोती और प्रवाल के दानों से गुँथी माला की तरह, तमिल और संस्कृत के शब्दों से बनी भाषा-शैली को मणिप्रवाल शैली कहते हैं। मलयालम् भाषा में इस शैली का विविष्ट महत्त्व है। मलयालम् लक्षणग्रन्थ 'लीलातिलकम्' में कहा गया है कि लाल माणिक मणियों और प्रवालों से बनी माला में जिस तरह दोनों दाने एक ही लालिमा में एकाकार हो जाते हैं, उसी प्रकार मलयालम् और संस्कृत के शब्द भाषा-प्रवाह में एकरूप हो जाते हैं।

श्री पुराणम् के रचयिता

इनके नाम का ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं है। मद्रास के निकटवर्ती 'पेरुमण्डूर' में रहनेवाले एक जैन पंडित ने श्रवणवेळगोळ में जाकर मूल श्री पुराण का अध्ययन किया, फिर उसका तमिल में अनुवाद किया—ऐसी एक अनुश्रुति चली आ रही है।

कुछ विद्वान् लिखते हैं कि इस ग्रन्थ के रचयिता 'मंडलपुरुडर (पुरुष)' थे, जो 'चूळामणि' निघंटु के भी रचयिता थे। उन्होंने अपने निघंटु में लिखा है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"तिरुन्तिय कमल वूर्ति तिरुप्पुहळ् पुराणम् शेय्दोन् गुणभद्रन् ताळ् पणिन्द मंडलवन्।" अर्थात्, 'कमल पर विचरनेवाले जिनदेव की महिमा को पुराण ग्रन्थ के रूप में रचनेवाले आचार्य गुणभद्र के चरणों में शरण पानेवाले (प्रणाम करनेवाले) मंडलवन्.....।'

इसी प्रकार और भी दो-तीन स्थानों पर आचार्य गुणभद्र का उल्लेख है। आचार्य गुणभद्र नवीं शती के थे और उन्होंने संस्कृत में 'उत्तरपुराणम्' की रचना की थी। गुणभद्र आचार्य जिनसेन के शिष्य थे। मंडल पुरुषर इन्हीं गुणभद्र के शिष्य थे। किन्तु ये कृष्णदेवराय के समकालीन नहीं थे। निघंटुकर्ता गुणभद्र तो कृष्णदेवराय के समकालीन थे। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि मंडल पुरुषर को श्री पुराण के रचयिता मानने पर कई असंगतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। श्री वेंकट रायलु रेड्डियार ने अपने संस्करण में इस विषय की कई युक्तियों के साथ छानबीन की है।

किन्तु मेरे अनुशीळन के अनुसार मंडलपुरुष ही श्री पुराणम् के रचयिता होने चाहिए। ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में अर्हत् भगवान् की वन्दना करना ही पर्याप्त समझा, इसीलिए अपने गुरु की वन्दना नहीं की तथा आत्म-परिचय भी नहीं दिया।

मैं पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त इस निर्णय पर पहुँचा हूँ। अतः कह सकते हैं कि यह सोलहवीं शताब्दी की कृति है।

निघंटु ग्रन्थ

प्रसिद्ध निघंटु ग्रन्थ : 'दिवाकरम्'

कोश, निघंटु आदि वस्तुतः भाषा के परम उपयोगी खजाने होते हैं। इस क्षेत्र में तमिल भाषा को सुसमृद्ध बनाने का श्रेय मुख्यतया जैन पंडितों को है। तमिल के प्राचीनतम ग्रंथ (लक्षण ग्रन्थ) 'तोलकाप्पियम्' का 'उरि इयल्' अध्याय निघंटु-सा लगता है। अनुमान यह है कि उस समय में ही निघंटु-रचना का प्रयास चल रहा था। किन्तु उसका पूर्णरूप पल्लवों के शासनकाल में मिलता है। उपलब्ध निघंटु ग्रंथों में प्रचीनतम तथा पूर्ण ग्रन्थ है 'दिवाकरम्'। इसी को 'आदिदिवाकरम्' भी कहते हैं। अम्बर नामक प्रदेश के शासक शेन्दन के प्रोत्साहन से रचे जाने के कारण इसे 'शेन्दनदिवाकरम्' भी कहते हैं। दिवाकरमुनि इसके रचयिता हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ शिववंदना के साथ प्रारम्भ होता है, तथापि है यह जैन ग्रन्थ ही। यह निघंटु राष्ट्रकूटों के उत्कर्ष काल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में लिखा गया होगा, अर्थात् आठवीं शताब्दी के उत्तर भाग में ९५०० शब्दों की व्याख्या और पर्यायवाची शब्द इसमें हैं। बहु-अर्थबोधक शब्दों की संख्या लगभग ३८४ है।

दूसरा निघंटु ग्रन्थ : पिंगलन्दै

'दिवाकरम्' के बाद पिंगलन्दै निघंटु का स्थान है। पिंगलर् इसके प्रणेता हैं। विद्वानों का मत है कि ये दिवाकर के पुत्र थे। पर प्रश्न यह उठता है कि ये दिवाकर निघंटुकर्ता थे या और कोई। बारहवीं शती के तमिल व्याकरण ग्रंथ 'नन्नूल' में इस ग्रंथ का उल्लेख है। अतः यह स्पष्ट है कि यह बारहवीं शती के पूर्व की रचना है। इसके प्रथम भाग में १४७०० शब्दों की निरूक्ति आदि है और दसवें भाग में अनेकार्थवाची शब्द १०९१ हैं। पूर्वोक्त निघंटु 'दिवाकरम्' से भी यह बृहत्काय एवं परिवर्द्धित ग्रंथ है।

तीसरा चूड़ामणि निघंटु

यही सम्प्रति बहुप्रचलित एवं अर्वाचीन निघंटु ग्रंथ है। इसको 'निघंटु चूडामणि' भी कहते हैं। इसके रचयिता मण्डलपुरुषर थे जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। उन्होंने विजयनगर के प्रशस्त शासक कृष्णदेवराय की खूब प्रशंसा की है। अतः उनके सभा-पंडितों में ये रहे होंगे। इनका समय सोलहवीं शती का अंतिम भाग हो सकता है। इनके आचार्य गुणभद्र थे (ये नवीं शती के गुण-भद्र से भिन्न हैं)। एक शिलालेख से पता चलता है कि ई० १५८३ में गुण-भद्रदेव के शिष्य वीरसेनदेव को दान में एक भूमि मिली।[1] अतः इन गुणभद्र को सोलहवीं शती का मानना ही संगत है।

इस निघंटु के अन्तिम पद्य में कहा गया है कि ग्रन्थकार मण्डलपुरुषर 'वीरै' नामक स्थान के निवासी थे। इसके प्रारम्भिक प्रशस्ति पद्य में जिसे तमिल में 'शिरप्पु पायिरम्' कहते हैं, कहा गया है कि ये मण्डलपुरुष आचार्य गुणभद्र के शिष्य थे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यही मण्डलपुरुष श्रीपुराणम् के प्रणेता हैं।

इलक्कणम्

तमिल में 'इलक्कणम्' का अर्थ है लक्षण। वह व्याकरण, छन्द, अलंकार तथा रीतिग्रन्थों का निर्देश करता है। लक्षण या रीति ग्रन्थों के निर्माण द्वारा

---

१. M. A. R, 1931, p. 106-112; E. C. VI, K. p. 21–24. p. 79.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमिल को समृद्ध बनाने का श्रेय मुख्यतया जैन पंडितों को है। तमिल व्याकरण में प्रथमतः लिपि, शब्द और अर्थ तीनों का विवेचन रहता था। 'इरैयनार अहप्पोरुळ्' की व्याख्या के समय में 'याप्पु' (छंद) अलग होकर लक्षण की एक शाखा बन गया। संस्कृत के छन्दशास्त्र की तरह तमिल छन्द भी कई बातों में अपती विशिष्टता रखते हैं।

प्राचीन काल से ही लक्षण ग्रन्थ दो शाखाओं में विभक्त थे—शोळ् अधिकारम् (शब्दाधिकार) और पोरुळ् अधिकारम् (अर्थाधिकरण)। इनमें पोरुळियल् इलक्कणम् (अर्थाधिकरण-लक्षण) के अहप्पोरुळ् (आन्तर पक्ष) और पुरप् पोरुळ् (बाह्य पक्ष) ये दो भाग हैं। पोरुळ् अधिकारम् की गवेषणा और प्रसार बहुत कम हुआ और इस बात की पुष्टि 'इरैयनार अहप्पोरुळ्' की व्याख्या से होती है। 'पुरप्पोरुळ्' (बाह्य पक्ष) की विवेचना के लिए 'पुरप्पोरुळ् वेण्पा मालै' का अवतरण हुआ। इसका मूल स्रोत 'पन्निरु पडलम्' नामक लघु पद्य संग्रह है जिसमें अगस्त्य के बारह शिष्यों के एक-एक पद्य संगृहीत हैं।

पाट्टियल्

'पाट्टियल्' छन्दरीति को कहते हैं जिसमें विविध पद्यों का स्वरूप लक्षण रहता है। पूर्वोक्त 'पन्निरु पडलम्' इस 'पाट्टियल्' (छन्दरीति) की विवेचन-प्रधान रचना है। पद्य के ग्यारह समंजस लक्षणों के विवेचन के बाद बारहवें अंग वर्ण का विवेचन उसमें किया गया है। इस ग्रन्थ में तेरह कवियों (पंडितों) के पद्य उद्धृत किये गये हैं; आचार्य अगस्त्य को छोड़ अन्य बारह पण्डितों के पद्य इसमें समाहित हैं। उनके नाम हैं : पोय्हैयार, पाणद्, इन्दिर काळियार, अविनयनार, कल्लाडर, कपिलर, चेन्दम् भूतनार, कोवूर किळार, माभूतनार, शीत्तलैयार, पलकायनार और पेरुं कुण्ड्रूर किळार। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'मामूलर पाट्टियल्' (मामूलर रचित पाट्टियल्) और 'पाट्टियल् मरपुडैयार' नामक दो ग्रन्थों के नाम प्राचीन लक्षणग्रन्थों की व्याख्याओं में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त केवल छन्दविवेचन के लिए रचित कई ग्रन्थों के नाम 'याप्परुंगलवृत्ति' (एक अर्वाचीन तमिल छन्द ग्रन्थ) में मिलते हैं, जैसे—संघयाप्पु, शिरु काक्कैप् पाडिनियम्, पेरुम् काक्कैप् पाडिनियम्, मायेच्चुरर् याप्पु, अविनयर् याप्पु, नक्कीरर् नालडि नाप्पंदु, वाय् पियम्, इत्यादि।

अणि (अलंकार) ग्रन्थ :

'इरैयनार अहप्पोरुळ्' ग्रन्थ की व्याख्या के प्रकाश में आने के उपरान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलंकार या अणि लक्षणधारा का पाँचवाँ अंग बन गया। आचार्य दण्डी के, जो प्रसिद्ध आलंकारिक थे, तमिलनाडु के निवासी होने से, अलंकार ग्रन्थ तमिल में अनूदित हुआ और 'दण्डि अलंकारम्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु उन्हीं के समय में अर्थालंकार का प्रादुर्भाव और प्रसार तमिलनाडु में हुआ, ऐसी बात नहीं। उनके पूर्व ही तमिलनाडु में दिवाकरम्, पिंगलन्दै आदि निघंटु ग्रन्थों के द्वारा अर्थालंकार का प्रसार हो चुका था और उन ग्रन्थों में आलंकारिक विवेचन भी काफी हो चुका है। इसी पारम्परिक धारा को 'याप्परुंगलम्' आदि शब्दालंकार-ग्रन्थ आगे बढ़ाते रहे।

यह धारा प्रधानतया और वैज्ञानिक रीति से गतिमान हुई सातवीं से नौवीं शती में, जबकि पल्लवनरेशों का शासन उन्नत अवस्था में था। इन अलंकार ग्रन्थों में निर्दिष्ट नामों से कुछ विद्वानों को भ्रम हो गया कि यह धारा संघकाल से ही चली आयी होगी। किन्तु सत्य तो यह है कि कलभ्रों के बाद, पल्लवों के समय में तमिल का उत्कर्ष संस्कृत की समकोटि में बढ़ने लगा, तो प्राचीनतम नामों का पुनर्व्यवहार होने लगा। इसीलिए उस समय के ग्रन्थों में संघकालीन शब्दों का प्रयोग सामान्यतया होने लगा।

अविनयम्

पल्लवों के शासनकाल में बहुत सारे अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। फिर भी उनके उपलब्ध न होने के कारण यह तय करना कठिन है कि इनमें से कितने ग्रन्थ जैन विद्वानों के थे। फिर भी यह तो निर्विवाद तथ्य है कि 'अणि इयल्' (अलंकार या रीति-शाखा) में भी जैन विद्वानों का पर्याप्त सक्रिय सहयोग रहा है। प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में एक है 'अविनयम्' जिसके रचयिता थे अविनयनार्। वे जैन थे। अर्वाचीन शब्दालंकार ग्रन्थ 'याप्परुंगल् वृत्ति' में उक्त प्राचीन ग्रन्थ के कई पद्य उद्धरण के रूप में आये हैं। सुप्रसिद्ध तमिलव्याकरण 'नन्नूल' के व्याख्याकार मयिलैनाथर ने भी अपनी व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि साधु अविनयनार् जैन पंडित थे। 'वर्णों (अक्षरों) का मूल कारण अणुसमूह है।' इस मत का समर्थन जैसे आचार्य पवणन्दि (भवणनन्दी) ने अपने 'नन्नूल्'ग्रन्थ में किया था, वैसे ही आचार्य अविनयनार ने भी अपने ग्रन्थ में किया। सम्भव है, इसका अनुसरण बाद के जैन विद्वानों ने किया हो।

'अविनयम्' तोल काप्पियम् की तरह अपने समय का ख्यातिप्राप्त एवं सुप्रचलित आलंकारिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की एक प्रामाणिक व्याख्या राज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पवित्र पल्लव तरैयर नामक विद्वान् ने लिखी। बाद के विद्वान् व्याख्याता मयिलैनाथर ने उस बात का उल्लेख करते हुए 'अविनयम्' की बड़ी प्रशंसा की। 'तोलकाप्पियम्' में निर्दिष्ट लक्षण-रीति आदि के नियमों से भिन्न नियम 'अविनयम्' में हैं। सम्भव है कि 'अविनयम्' और उसके समर्थक अनुयायी ग्रन्थों के व्यापक प्रभाव के कारण 'तोलकाप्पियम्' के नियमों का व्यवहार कम होने लगा।

याप्परुंगलम्

'अविनयम्' के बाद ख्यातिप्राप्त अलंकार ग्रन्थ 'याप्परुंगलम्' है। इसमें तमिल के विशिष्ट छन्द, वर्ण, मात्रा आदि का विशद् विवेचन है। इसके रचयिता थे जैन साधु अमितसागर (इनको अमुदसागर या अमृतसागर भी कहते हैं)। इन्होंने 'याप्परुंगल कारिकै' नामक दूसरा अलंकार ग्रन्थ भी लिखा है, जो 'याप्परुंगलम्' का सरल-सुबोध प्रारंभिक रूप है। ये 'कळत्तूर' के निवासी थे, जो मद्रास शहर के निकट है। इनकी ख्याति से उस स्थान का नाम 'कारिकै कळत्तूर' पड़ा। इसी नाम से ग्यारहवीं शती का एक शिलालेख मिलता है जो चोलराजा राजेन्द्रन् के समय का है। अतः 'याप्परुंगल कारिकै' ग्यारहवीं शती के पूर्व की कृति मानी जा सकती है। विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल दसवीं शती मानना उचित होगा।

'याप्परुंगलम्' अर्वाचीन होने पर भी, अपने पूर्ववर्ती अलंकार ग्रन्थों से अधिक प्रशस्त और विद्वज्जन समादृत हुआ। आज तक तमिल के उच्च शिक्षार्थी प्रधानतया 'याप्परुंगलम्' और 'याप्परुंगलवृत्ति' का ही अध्ययन करते हैं, और वस्तुतः, प्रामाणिक और विशद् अलंकारविवेचन, विषयों का वर्गीकरण तथा सरल अभिव्यंजना अन्य ग्रन्थों में उतनी सुन्दर नहीं है, जितनी इन दोनों ग्रन्थों में है।

'याप्परुंगल कारिकै' के व्याख्याकार गुणसागर थे। ग्रन्थ के प्रारंभिक पद्य से पता चलता है कि यह गुणसागर ग्रन्थकर्ता अमितसागर के आचार्य थे। पर यह विवाद की बात है कि प्राकृत व्याख्याकार गुणसागर दूसरे थे या वही आचार्य। शिष्य के ग्रन्थ की उत्तमता से प्रभावित होकर आचार्य को उसकी व्याख्या लिखने की इच्छा होना अनोखी बात नहीं है। इसको मान भी लें, तो याप्परुंगलम् (जिसका दूसरा नाम 'याप्परुंगलवृत्ति' था) की व्याख्या 'याप्परुंगलवृत्ति उरै' भी इन्हीं आचार्य गुणसागर की होगी। यह भी संभव है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'वृत्ति उरै' के बाद ही 'कारिकै उरै' (व्याख्या) की रचना हुई होगी। कारिकै की व्याख्या में 'वृत्ति उरै' की बातें उद्धृत की गयी हैं। विद्वानों का एक मत है कि 'वृत्ति उरै' ही श्रेष्ठ है। दोनों व्याख्याओं के रचयिता एक हों या दो, वे जैन पण्डित थे—इसमें सन्देह नहीं। 'वृत्ति उरै' (याप्परुंगल वृत्ति की व्याख्या) के रचयिता बारबार आचार्य मायेच्चुरर् (मायेश्वर) को शिवजी के नाम के साथ उल्लिखित करते हैं। इसलिए कुछ विद्वानों का मत यह रहा कि 'वृत्ति उरै' के लेखक शैव थे। पर यह निर्णय तथ्य से दूर पड़ता है। यह तो केवल जैन पण्डित की उदारता का परिचायक है। आचार्य मायेच्चुरर् ने एक छंदःशास्त्र की रचना की, जो 'मायेच्चुरर् याप्पु' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य मायेच्चुरर् की शिष्य परम्परा में 'वृत्ति उरै' के रचयिता गुणसागर रहे होंगे, इसीलिए आदरपूर्वक अपने आचार्य की चर्चा कर अपना आभार प्रकट किया होगा।

शब्दालंकार की मौलिक बातों से अवगत होने के लिए 'वृत्ति उरै' अत्यन्त उपयोगी रचना है। पल्लवकालीन तमिल साहित्यधारा का परिचय प्राप्त करने के लिए यह व्याख्या अत्यंत सहायक है। पल्लव नरेशों की कई प्रशस्तियाँ इस व्याख्या में हैं जो छंदों के लक्षण-उदाहरणों के रूप में उद्धृत हैं।

गुणसागर का बहुभाषाज्ञान

व्याख्याकार आचार्य गुणसागर 'पणित्तियम्' नामक प्राकृत व्याकरण, छंदोपिशितम्, गुणसांख्यम्, (कन्नड छंदग्रन्थ), निरुक्त आदि के अच्छे ज्ञाता थे। याप्परुंगल कारिकै (तमिल छंदग्रन्थ) की प्रशंसा में व्याख्याकार गुणसागर ने लिखा है, 'आर्यम् (संस्कृत) रूपी महासागर को (संस्कृत छंदशास्त्र से तात्पर्य है) तमिल में लाने की महानतम साधना करनेवाले उत्तम तपस्वी उदारचेता अमितसागर ने 'याप्परुंगल कारिकै' की रचना की है।' यद्यपि आचार्यों की बहुभाषाभिज्ञता की चर्चा हुई है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि अमितसागर ने संस्कृत की बातों को तमिल में हठात् घुसेड़ने की चेष्टा की। भले ही, अपनी रचनाओं में संस्कृत ग्रन्थों की रचना शैली का अनुकरण किया हो, किन्तु 'याप्परुंगल कारिकै' के ध्यानपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उसमें तमिल के विशिष्ट छंदभेदों का ही विवेचन हुआ है।

इळम्पूरणर्

अमितसागर और गुणसागर के पश्चात्वर्ती लक्षण ग्रन्थकारों से इळम्पूरणर् का नाम उल्लेखनीय है। तोलकाप्पियम् के 'शेय्युळ् इयल्' (पद्य विचार-भाग) का विकास आचार्य अमितसागर के द्वारा हुआ। फिर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तोलकाप्पियम्' से भिन्न या विरुद्ध बातें भी उनके ग्रन्थ में मिलती हैं। किन्तु, इस परम्परा में आचार्य इळम्पूरणर् ने सर्वप्रथम 'तोलकाप्पियम्' के अस्तगामी विधि-नियमों का समर्थन एवं प्रसार अपनी सुप्रसिद्ध व्याख्या द्वारा किया। इसी कारण इनको 'उरैयाशिरियर' (व्याख्या के आचार्य) की गौरवपूर्ण उपाधि प्राप्त हुई। प्रारम्भिक प्रशस्ति में निर्दिष्ट है कि ये मणक्कुडि के निवासी थे और इनके पिता का नाम इळम्पूति था। मयिलैनाथर ने इनको संन्यासी लिखा है। ये जैनधर्म प्रेमी थे। इन्हीं के मार्गदर्शन में 'तोलकाप्पियम्' का अनुसंधानपूर्वक विवेचन हुआ। आचार्य इळम्पूरणर् का समय ग्यारहवीं शती माना जा सकता है।

नेमिनाथर्

तमिल में 'शोल्अधिकारम्' (शब्दाधिकरण) ही इलक्कणम् (व्याकरण) के नाम से प्रचलित होने लगा। ई० बारहवीं शती में 'तोलकाप्पियम्' के 'शोल्-अधिकारम्' को गुणवीर पण्डित ने 'वेण्-पा' छंद में संगृहीत किया और अपने उस लघु लक्षणग्रन्थ का नाम रखा 'नेमिनाथम्'। इसी कारण, ग्रन्थकर्ता का नाम ही नेमिनाथर् पड़ गया और इन्हीं को 'पेराशिरियर' (महाचार्य) कहा। 'तमिल नावलर चरितै' (तमिल कवियों का चरित) में इसकी चर्चा है और उसमें बताया गया है कि आचार्य नेमिनाथर् कविचर ओट्टक्कूत्तर के समकालीन थे। तमिल छंदों और पद्यों के विषय में नेमिनाथर् ने 'वच्चणन्दि मालै' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी टिप्पणी से पता चलता है कि त्रिभुवन देव के समय उस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। बारहवीं शती के उत्तर भाग में शासन करनेवाले चोल राजा कुलोत्तुंग (तृतीय) ही त्रिभुवनदेव हैं। गुणवीर पण्डित (नेमिनाथ) के आचार्य का नाम था वच्चणंदी (वज्रनंदी) और नेमिनाथर् ने ग्रन्थारम्भ में अर्हत् भगवान् की वंदना की है। अतः आचार्य नेमिनाथर् को जैन मानने में कोई आपत्ति नहीं है। 'पच्चणंदिमालै' का मूलग्रन्थ 'इन्दिरकालीयम्' लिखा गया है। सम्भव है कि यह भी किसी जैन पंडित की रचना हो।

अडियार्क्कु नल्लार

तमिल महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' के व्याख्याकार होने का गौरव पंडितवर् अडियार्क्कु नल्लार को प्राप्त हुआ है। इनकी व्याख्या के पूर्व 'अरुम्पद उरै' (विशिष्ट या कठिन शब्दों की व्याख्या) नामक एक टिप्पण प्रचलित था, जो उपलब्ध है। कोंकुवेळ् विजयमंगल के निकटवर्ती 'निम्पै' नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पोप्पण्ण गांगेय इनके अभिभावक थे, जो राजा या सामन्त थे। रामानुजाचार्य के प्रभाव से वैष्णव बने भोजळ विष्णुवर्धन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाराज के मंत्री और सेनापति थे पोदपण्ण गांगेय, जो स्वयं जैनधर्मावलम्बी थे। इनका समय ई० बारहवीं शताब्दी था। आचार्य अडियाक्कुं नल्लार के मत या सम्प्रदाय के बारे में अब भी किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। अतः उनको जैन धर्म प्रेमी या जैनदर्शन के ज्ञाता कहना मात्र पर्याप्त होगा।

नन्नूल्

नन्नूल् तमिल का बहुत उपयोगी तथा उपादेय व्याकरण ग्रन्थ है। कुलोत्तुंग-तृतीय के समयवर्ती जीयगंगम् नामक गंगनरेश की अभ्यर्थना पर जनकापुर निवासी[1] आचार्य भवणंदी (भवणनंदी) ने 'नन्नूल्' (उत्तम और सुबोध ग्रन्थ) की रचना की थी। उपलब्ध 'नन्नूल्' ग्रन्थ में 'एळुत्तिलक्कणम्' (वर्ण लक्षण) और 'शोल्लिलक्कणम्' (शब्दलक्षण)—ये दो भाग ही हैं। किन्तु ग्रन्थ के 'शिरप्पु पायिरम्' (प्रारंभिक परिचयात्मक पद्य) से यह अनुमान लगाया जाता है कि इसमें वर्ण, शब्द, अर्थ, छंद और अलंकार—इन पाँच अंगों का विशद विवेचन हुआ होगा। समकालीन और परवर्ती विद्वानों ने इस उपादेय ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आगत्तियम् (अगस्त्य व्याकरण) और अविनयम् (आचार्य अविनयकृत लक्षणग्रन्थ) के साथ और विशेषकर तोलकाप्पियम् का अनुसरण करके यह ग्रन्थ रचा गया है। इस ग्रंथ में विषय-विवेचन बहुत ही सुंदर तथा कोमल शैली में हुआ हैं। जैनपंडित मयिलैनाथर ने इस ग्रन्थ की व्याख्या लिखी है। शिवज्ञान मुनि ने 'वृत्ति उरै' नामक नयी व्याख्या उपस्थित की।

नम्बि अहप्पोरुळ्

तमिल में व्याकरण के पाँचों अंगों (वर्ण, शब्द, अर्थ, छन्द और अलंकार) पर अलग-अलग रचनाएँ लिखी गयीं। इसी प्रकार 'पोरुळ् आरायच्चि' (भाव या अर्थ का अनुसन्धान) को भी 'अहप्पोरुळ्' (अन्तर पक्ष) और 'पुरप्पोरुळ्' (बाह्य पक्ष) के रूप में विभाजित किया गया। 'पुरप्पोरुळ्' में जीवन के बाह्य पक्ष (आचार-विचार, व्यवहार आदि) का अनुशीलन किया गया जिसका एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ है 'पुरप्पोरुळ् वेण् पा-मालै'। उसका मूलस्रोत तोलकाप्पियम् था, अतः उसके विषयों का अनुकरण तथा विश्लेषण उक्त ग्रंथ में बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है, वह भी उस 'वेण्-पा मालै' ग्रंथ की व्याख्या द्वारा ही। 'अहप्पोरुळ्' (जीवन का आन्तर पक्ष) का विश्लेषण इरैयनार् कृत ग्रन्थ

१. जनकापुरम् को कुछ अनुसंधानकर्ताओं ने 'जननाथ पुरम्' साबित किया है, जो कोयम्पत्तूर जिले में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(इरैयनार् अहप्पोरुळ्) द्वारा हुआ, जो शैव संत साहित्य तेवारम् के पूर्व रचित था। फिर भी उसका अनुसरण कर कुछ एक ग्रंथ रचे गये होंगे, जो उपलब्ध नहीं हैं। उस परम्परा में अर्वाचीन होने पर भी, पूर्व ग्रंथों की अपेक्षा अत्यन्त उपादेय तथा सुबोध रचना है 'नम्बि अहप्पोरुळ्' जो आज तक बहुजन-समादृत है, इसके रचयिता थे 'नार् कविराज नम्बि'। इन्होंने 'तोलकाप्पियम्' के 'अहप्पोरुळ् इलक्कणम्' (आन्तर-पक्ष का लक्षण) और अन्य प्रसिद्ध काव्यग्रंथों का पूर्ण अध्ययन कर, वैज्ञानिक ढंग से अपने अनुसन्धानपूर्ण निष्कर्ष निकाले, जिनका समावेश 'नम्बि अहप्पोरुळ्' में हुआ। ग्रंथकर्ता नार् कविराज नम्बि के पिता 'मुत्तमिळ् आशान्' थे, जिसका अर्थ है कि 'इयल्' (साहित्य) 'इशै' (संगीत) और 'नाटकम्' (नाटक) इन तीनों शाखाओं में निष्णात। (तमिल में 'मुत्तमिल्' का अर्थ है तमिल की तीन शाखायें, जो 'इयल्', 'इशै' और 'नाटकम्' के नाम से प्रसिद्ध हैं) और उनका नाम 'पुलियंगुडि उय्यवन्दार' था। उनकी प्रशस्ति में गाया गया है, 'इरु पेरुम् कलैक्कुम् ओरु पेरुम् कुरिशिल्' (अर्थात् दो महान् कलाओं के संस्कृत और तमिल साहित्य के एकमात्र उत्तम ज्ञाता, मान्यवर् पंडित)। इनके पुत्र नार् कविराज नम्बि जो प्रस्तुत 'नम्बि अहप्पोरुळ्' ग्रन्थ के रचयिता हैं, जैन थे। इस बात का समर्थन उनकी ईश्वर-वन्दना से होता है। उस ग्रंथ की एक प्राचीन व्याख्या से पता चलता है कि यह नम्बि कुलशेखर पाण्ड्यन् के समकालीन थे। यह पाण्ड्य नरेश चडैयवर्मन् कुलशेखरन्-प्रथम था। उसका शासनकाल बारहवीं शती था। 'नम्बि अहप्पोरुळ्' के आधार पर, उसके लक्ष्यग्रंथ के रूप में कविवर पोय्या मोलि पुलवर ने 'तंजैवाणन् कोवै' नामक एक प्रबन्ध काव्य रचा था। 'वाणर्' जाति के लोग तेरहवीं शती में पाण्ड्य देश में जाकर बसने लगे। इस बात की पुष्टि कई शिलालेखों द्वारा हुई है। तेरहवीं शती में, पाण्ड्य नरेश के सेनापति तंजैवाणन् ने चेरराजा पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की। उसी वीरवर की स्तुतिगाथा के उपलक्ष्य में 'तंजैवाणन् कोवै' का प्रणयन हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि तेरहवीं शती में 'नम्बि अहप्पोरुळ्' (लक्षणग्रन्थ) काफी प्रसिद्ध हो चुका था और उसका प्रभाव विद्वानों की मंडली को आकृष्ट कर चुका था।

नच्चिनार्किनियर्

व्याख्याकारों में 'नच्चिनार्कु इनियर्' का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये वैदिक ब्राह्मण थे। इनका समय तेरहवीं शती के बाद ही होना चाहिए। इनका जन्मस्थान मदुरै था, जो पाण्ड्य राज्य की राजधानी थी। तोलकाप्पियम्, जीवक-चिन्तामणि, कलित्तोकै, कुरुन् तोकै, आदि प्राचीन ग्रंथों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की विद्वत्तापूर्ण व्याख्याएँ नच्चिनाक्कुं इनियर् ने लिखी हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि शोधपूर्ण व्याख्याओं के कारण ही वे साहित्य-प्रेमियों के आदर प्राप्त यशस्वी हुए। एक अनुश्रुति बताती है कि आचार्य नच्चिनाक्कुं इनियर् ने 'जीवक-चिन्तामणि' की व्याख्या रचने के हेतु, जैन धर्म में दीक्षित होकर, जैनदर्शन का सांगोपांग अध्ययन किया और उसमें पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ही उक्त महाकाव्य की व्याख्या लिखी। उसके बाद वे स्वमत में लौट गये होंगे।

इनकी व्याख्याओं के अध्ययन से पता चलता है कि इन्होंने पहले 'तोल-काप्पियम्' के कुछ अंशों की व्याख्या लिखी और उसके बाद में 'जीवक-चिन्ता-मणि' की व्याख्या लिखी। 'चिन्तामणि' की व्याख्या में 'तोलकाप्पियम्'—व्याख्या विषयों का उल्लेख पाया जाता है। इसी प्रकार, बाद में लिखित 'तोलका-प्पियम्' की व्याख्या में, जो अन्य अंशों पर लिखी गयी थी, 'चिन्तामणि'—व्याख्या के विषय उल्लिखित हैं। इनको सम्पूर्णतया जैन न कहें तो भी जैन-धर्म प्रेमी और जैन तत्त्ववेत्ता तो अवश्य कह सकते हैं।

अन्य (अप्राप्य) जैनग्रन्थ

तमिल में गणित और ज्योतिष के कई उत्तम ग्रन्थ रचे गये थे, जिनकी चर्चा व्याख्याओं में मिलती है। उन ग्रन्थों को, मालूम होता है, जैन पण्डितों ने ही प्रधानतया प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया। सम्भव है कि उनमें अधि-कांश ग्रन्थ जैनाचार्यों द्वारा रचित हों। आजकल 'कणक्कधिकारम्' जैसे कति-पय ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं।

ज्योतिष विषयक ग्रन्थों में 'जिनेन्द्र मालै' जैनों के ज्योतिष तथा खगोल ज्ञान का परिचायक है। यह ग्रन्थ 'वेण्-पा' छन्द में रचित है। भाषा सुबोध-सुन्दर होने के साथ, छन्द-नियमों से अस्खलित भी है। ऐसे ही कई उत्तम ग्रन्थ उस समय लिखे गये। जैन पण्डित मण्डल पुरुष ने अपने आचार्य गुणभद्र की परिचयात्मक प्रशस्ति में लिखा है कि वे ज्योतिषशास्त्र में पारंगत थे।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने न केवल साहित्य की, तथा अन्य विज्ञान, शास्त्र आदि की शाखाओं को भी अपनी आधिकारिक विद्वत्ता, निस्वार्थ सेवा भावना एवं अथक साधना द्वारा सुसमृद्ध किया है।

उपसंहार

यह सर्वमान्य सत्य है कि जैनों ने जीवन तथा साहित्य के, आचार तथा विचार के, अध्यात्म तथा भौतिकता के—और न जाने ऐसे कितने ही क्षेत्रों को अपनी धर्म भावना और साधना द्वारा समृद्ध किया है। तमिल भाषा को लोकप्रिय बनाकर, उसका प्रचार पण्डित से लेकर सामान्यजनों तक करने का श्रेय जैनों को कम नहीं है। उस समय, जैनों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने आचरण से स्थापित किया। अधिकांश उत्तम लक्षण ग्रन्थ तो जैनाचार्यों की ही देन हैं। यद्यपि, 'तोलकाप्पियम्' को जैनग्रन्थ नहीं कह सकते, फिर भी जैन विचारधारा के प्रभाव-काल में ही उसका अवतरण हुआ था। जैनाचार्यों द्वारा मान्य नियमों का निर्वाह तथा लक्षण 'तोलकाप्पियम्' में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इरैयनार् अहप्पोरुळ्, पुरप्पोरुळ् वेण् पामालै, वीर चोळियम्, इलक्कण विळक्कम्, तोन्नूल्, प्रयोग विवेकम् आदि लक्षण ग्रन्थों को छोड़, अन्य समस्त विख्यात ग्रन्थ जैनाचार्यों द्वारा ही रचित थे। और उपर्युक्त ग्रन्थ भी जैनों के ग्रन्थों से बहुत प्रभावित हैं, और उन्हीं के अनुसरण में रचे गये हैं।

तमिल के विशिष्ट छन्दों को सार्वजनीन बनाने का एकमात्र श्रेय 'याप्परुंगलम्' के रचयिता स्वनामधन्य अमितसागर को ही है। इसी प्रकार तमिल के व्याकरण को काव्य की तरह पढ़ने-समझने योग्य बनाने का श्रेय 'नन्नूल्' के रचयिता विद्वद्वर् भवणंदि (भवणनंदी) को ही है।

निघंटु ग्रन्थों की बुनियाद जैनाचार्यों ने ही रखी। पञ्च महाकाव्यों और लघु काव्यों में अधिकांश तो जैनों के ही हैं। कम्बर-जैसे दिग्गज पण्डितों के प्रेरणा-स्रोत थे जीवकचिन्तामणि जैसे जैनकाव्य। तमिल का आदिम गद्य ग्रन्थ होने का गौरव जैन पण्डित कृत श्रीपुराणम् को ही है, जो जैनपुराण के रूप में प्रसिद्ध हुआ। नीति तथा धर्मग्रन्थ जितने जैनों ने प्रस्तुत किये, उतने अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा नहीं हुए।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में अपनी ज्ञान-विभूतियों के मूर्त उपहार समर्पित करनेवाले निस्वार्थ सेवी जैनाचार्यों को तमिल जनता अहर्निश आदरपूर्वक स्मरण किया करती है, और भविष्य में भी करती रहेगी।

हमारा दायित्व

यह सब कुछ होने पर भी दुःखद बात तो यह है कि 'लोकाः समस्ता-सुखिनो भवन्तु' की विशाल भावना से प्रेरित होकर जैनाचार्यों ने जितने उपयोगी ग्रन्थ बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय तमिल वाणी द्वारा समर्पित किये थे, वे सब क्या केवल तमिल भाषियों की गुप्त निधि रहेगी? तमिलेतर भाषी क्या उनके ज्ञानलाभ से सदा वंचित ही रहेंगे?

विश्वमानव की बात तो दूर, कम से कम भारतवासी तो, जो तमिल राज्य से बाहर रहते हैं, उन बहुमूल्य जैनग्रन्थों का रसास्वादन अवश्य कर सकते हैं; यह उनका कर्तव्य भी है। भारत में फैले हुए जैनों का यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि वे उन तमिल जैनग्रन्थों को अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में तथा राजभाषा हिन्दी में भी प्रकाश में लावें और अंग्रेजी द्वारा उनको विश्वव्यापी बनाने का सत्प्रयास किया जाए। यह एक महानतम पुण्यकर्म या ज्ञानयज्ञ होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी जैन साहित्य
का
इतिहास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. प्रास्ताविक

महाराष्ट्र प्रदेश, जिसकी जनभाषा मराठी कहलाती है, से जैनधर्म का सम्बन्ध पुरातन है। इस प्रदेश के गजपंथ पर्वत को सात बलभद्रों का निर्वाण-स्थान माना गया है, तुंगी पर्वत को राम तथा कुंथुगिरि पर्वत को कुलभूषण-देशभूषण का मुक्तिस्थान माना गया है।[1] प्रभावकचरित की कथाओं के अनुसार वज्रसेन, कालक, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि आचार्यों ने महाराष्ट्र में विहार किया था।[2] नयनन्दि के सकल-विधिविधान काव्य के अनुसार आचार्य वीरसेन, जिनसेन, महाकवि धनंजय, व महाकवि स्वयंभूदेव का निवासस्थान वाटग्राम वहाड (विदर्भ) देश में था जो महाराष्ट्र के पूर्वी भाग (विशेषतः अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलडाणा जिलों) का प्रचलित नाम है।[3] धाराशिव (उस्मानाबाद), अँकाई (मनमाड के पास), अंजनेरी (नासिक के पास), एलोरा आदि के गुहामन्दिरों से तथा कोल्हापुर, पैठन, शिरपुर आदि के मन्दिरों से इस प्रदेश में जैन समाज की समृद्ध अवस्था का पता चलता है।

महाराष्ट्र के इतिहास का प्रारम्भ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में सातवाहन राजवंश से होता है। तब महाराष्ट्री प्राकृत इस प्रदेश की जनभाषा और राज-भाषा थी। कालान्तर में इस भाषा का जो परिवर्तित रूप लोक-व्यवहार में रूढ़ हुआ उसे अपभ्रंश भाषा कहा जाता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में प्रौढ़ साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस अपभ्रंश से ही मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ विकसित हुईं। इसलिए कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश रचनाओं को प्राचीन हिन्दी कहा है तो कुछ ने उन्हें राष्ट्रकूटकालीन मराठी भी कहा है।[4]

---

१. तीर्थवन्दनसंग्रह (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६५), पृष्ठ १३०, १३७ तथा १४७।

२. प्रभावकचरित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०९), पृष्ठ १२, ४४, ६७, १०२।

३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६३), पृष्ठ २७।

४. देखें, सह्याद्रि मासिक (पूना, अप्रैल, १९४१) में प्रकाशित डा० तगारे का लेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आठवीं शताब्दी में अपभ्रंश से पृथक् मराठी का स्वतन्त्र विकास होने लगा था। इसका संकेत जैन ग्रंथ कुवलयमाला (सन् ७७८) में मिलता है।[१] प्राचीनतम मराठी शिलालेखों में एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख श्रवणबेलगोल में दसवीं शताब्दी में निर्मित गोम्मटेश्वर महामूर्ति के चरणों के पास है।[२] कर्णाटक के महाकवि पम्प के विक्रमार्जुन-विजय (सन् ९३२) तथा जन्न के अनन्तनाथ-पुराण (सन् १२१०) में कुछ मराठी वाक्यों का प्रयोग मिलता है एवं गुजरात के महाकवि यशश्चन्द्र के राजीमतीप्रबोध (सन् ११२८) तथा नयचन्द्र की रम्भामंजरी (चौदहवीं शताब्दी) में भी कुछ मराठी पंक्तियाँ हैं।[3]

दसवीं शताब्दी के श्रीपति की ज्योतिषरत्नमाला अथवा बारहवीं शताब्दी के मुकुन्दराज का विवेकसिन्धु मराठी साहित्य का आद्यग्रन्थ माना जाता है। तेरहवीं शताब्दी में ज्ञानेश्वर और चक्रधर द्वारा तथा चौदहवीं शताब्दी में इनके शिष्यों द्वारा मराठी में विपुल साहित्य-रचना हुई। दुर्भाग्य से इन पाँच शताब्दियों में किसी जैन लेखक द्वारा मराठी में लिखा हुआ कोई ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इस अवधि के कई जैन शिलालेख कोल्हापुर अक्कलकोट, अंजनेरी, पातूर, वजीरखेड आदि स्थानों में मिले हैं, किन्तु वे संस्कृत या कन्नड में हैं।[४] मराठी जैन साहित्य पन्द्रहवीं सदी से उपलब्ध होता है। इसके पूर्व के ग्रन्थ या तो अभी प्रकाश में नहीं आ पाये हैं या लिखे ही नहीं गये थे।

---

१. कुवलयमाला (सिंघी ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५९) पृष्ठ १५२; यहाँ अठारह देशी भाषाओं का उपयोग करनेवाले व्यापारियों का एक-एक गाथा में वर्णन है, जिसमें एक मरहट्ठ भी है।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२८) पृष्ठ १५७।

३. प्राचीन मराठी जैन साहित्य (सुविचार प्रकाशन मंडल, नागपुर, पूना, १९६८) पृष्ठ १०। (आगे इस ग्रन्थ के सन्दर्भ प्रा० म० इस संकेत से सूचित हैं।)

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५२) पृष्ठ ८५, ४८२; भाग ३ (१९५७) पृष्ठ ३९, ५३, ३३५; भाग ४ (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६५) पृष्ठ ८६, ११३, १३५, १६२, १६६, २०९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी जैन साहित्य का अध्ययन

वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में लगभग २० पुरानी मराठी जैन रचनाएँ मुद्रित हुई थीं, किन्तु मराठी साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ। प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ महाराष्ट्र सारस्वत (१९२४) में श्री विनायकराव भावे ने 'मराठी में जैन मत का विस्तृत अनुवाद हुआ होगा' ऐसी संभावना प्रकट की है (चतुर्थ संस्करण पृष्ठ २३२), किन्तु कामराजकृत सुदर्शनचरित्र के नाममात्र उल्लेख (पृष्ठ ५८) के अतिरिक्त अन्य कुछ भी विवरण उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। बम्बई के मासिक विविध-ज्ञानविस्तार (मई १९२४) में श्री शेषराव पारिसवाड ने तंजौर के तीन हस्तलिखित ग्रंथों—गुणदासकृत श्रेणिकचरित्र, महीचन्द्रकृत आदिपुराण तथा देवेन्द्रकीर्तिकृत कालिकापुराण का परिचय दिया, किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि आदिपुराण और कालिकापुराण छप चुके हैं। आदिपुराण के कर्ता का नाम उन्होंने ब्रह्मजिनदास समझ लिया था। सन् १९४६ में टीकमगढ़ से प्रकाशित प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री रावजी नेमचन्द शहा ने अपने एक लेख में मराठी जैन साहित्य का विवरण दिया है। इसमें पुराने साहित्यिकों में केवल कवीन्द्रसेवक और महतिसागर का उल्लेख मात्र है, शेष सब विवरण आधुनिक मराठी लेखकों के विषय में है। पुराने मराठी जैन साहित्य का प्रथम विस्तृत विवरण हमने सन्मति मासिक (बाहुबली, जि० कोल्हापुर, नवम्बर १९५५) तथा महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका त्रैमासिक, पूना (जनवरी-फरवरी-मार्च १९५६) में प्रकाशित दो लेखों में दिया था। इनमें १२ कवियों का विवरण था। अगले कुछ वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों और लेखों से ज्ञात कवियों की संख्या २० हो गई। सन् १९६१ में कलकत्ता से प्रकाशित भिक्षु स्मृति ग्रन्थ में प्रा० शांतिकुमार किल्लेदार ने अपने लेख में ३२ कवियों का विवरण दिया है।

तदनंतर प्रा० सुभाषचन्द्र अक्कोले ने इसी विषय पर पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रबन्ध लिखा जो पूना विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६४ में स्वीकृत हुआ तथा सुविचार प्रकाशन मंडल, नागपुर-पूना द्वारा सन् १९६८ में प्रकाशित हुआ। इसमें ५४ कवियों की रचनाओं का विवेचन हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में हमने उक्त प्रबन्ध के प्रकाशन के बाद ज्ञात हुए आठ कवियों का परिचय भी शामिल किया है तथा पूर्वज्ञात कवियों की कुछ नई रचनाओं का परिचय भी दिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी जैन साहित्य का वर्गीकरण

उपलब्ध मराठी जैन साहित्य का वर्गीकरण चार विभागों में किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में सन् १४५० से १५५० तक के पांच-छः कवि आते हैं। ये गुजराती पंडितों के शिष्य थे तथा इनकी रचनाओं के लिए गुजराती ग्रन्थ आधारभूत थे। दूसरे वर्ग में सन् १५५० से १८५० तक के लगभग ५० कवि आते हैं। कारंजा, लातूर और औरंगाबाद के भट्टारकों तथा उनके शिष्यों का इनमें प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाएँ गुजराती, संस्कृत और क्वचित कन्नड ग्रन्थों पर आधारित हैं। तीसरे वर्ग में कोल्हापुर के भट्टारक और उनके शिष्य आते हैं। इन्होंने संस्कृत और कन्नड ग्रन्थों का आधार लेकर १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में साहित्य-रचना की है। चौथा वर्ग आधुनिक—सन् १८५० के बाद के लेखकों का है। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड व हिन्दी साहित्य के अनुवाद के अतिरिक्त आधुनिक लेखकों ने कथा, कविता, नाटक, निबन्ध, इतिहास आदि विविध विषयों पर विपुल लेखन किया है। मुद्रित मराठी जैन पुस्तकों की संख्या लगभग ४०० है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर प्रकाशित चौदह पत्रिकाओं में भी काफी उपयोगी साहित्य का प्रकाशन हुआ है। प्रस्तुत विवेचन के अध्याय २ में हम पुराने मराठी जैन साहित्य के तीन वर्गों के सभी लेखकों का समयक्रम से संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं तथा अध्याय ३ में चौथे वर्ग के आधुनिक लेखकों में से कुछ प्रमुख व्यक्तियों की कृतियों का परिचय दे रहे हैं।

प्रारम्भिक एवं मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्य

इसमें सन् १४५० से १८५० तक के चार सौ वर्षों में हुए ६२ कवियों की लगभग २०० छोटी-बड़ी रचनाओं का उल्लेख किया गया है। इनमें पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तथा कालिकापुराण ये ३ बड़े पुराण हैं। २० काव्यों में श्रेणिक, यशोधर, जम्बूस्वामी, सुदर्शन, भविष्यदत्त आदि की कथाएँ हैं। सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मपरीक्षा, पुण्यास्रव, आराधनाकथाकोश आदि ७ ग्रन्थ कथा संग्रहात्मक हैं। अनन्त, आदित्य, सुगन्धदशमी आदि व्रतों की २६ कथाएं हैं। आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि की कथाओं पर आधारित गीतों की संख्या ३० है तथा विभिन्न उपदेशात्मक गीतों की संख्या भी ३० है तथा उपदेशात्मक पदों में कवीन्द्रसेवक के ५४५ तथा महतिसागर के २०० अभंग व पद उल्लेखनीय हैं। समकालीन धर्माचार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन १२ गीतों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा विभिन्न तीर्थक्षेत्रों का वर्णन १० गीतों में है। पूजा-पाठों की संख्या ४, स्तुतियों की संख्या १६ तथा आरतियों की संख्या ४० है। गम्भीर विषयों के १० ग्रन्थ हैं जिनमें तत्त्वविचारविषयक ५ तथा श्रावकाचारविषयक ५ ग्रन्थ हैं।

यहां वर्णित कवियों में लगभग आधे भट्टारक या उनके शिष्य-साधु या ब्रह्मचारी थे, शेष गृहस्थ थे। प्रायः सब कवियों ने अपने गुरु का आदरसहित उल्लेख किया है। इससे जहाँ उनकी गुरुभक्ति प्रकट होती है, वहीं उनके समय निर्णय में भी सहायता मिलती है। धर्माचार्यों के इन समकालीन प्रशंसात्मक वर्णनों से महाराष्ट्र के धार्मिक इतिहास की जानकारी मिलने में बहुत सहायता हुई है। गुणकीर्ति, मेघराज आदि १५ कवियों ने मराठी के अतिरिक्त गुजराती, हिन्दी और संस्कृत भाषाओं में भी साहित्य-रचना की है। कई लेखकों ने अपने आधारभूत ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख किये हैं। लगभग २० रचनाओं में गुजराती के, १० रचनाओं में संस्कृत के तथा ५ में कन्नड़ के ग्रंथों का आधार के रूप में उपयोग हुआ है। गीतों की रचना प्रायः स्वतन्त्र रूप से हुई है और मराठी के सहज-सुन्दर रूप की अभिव्यक्ति इन्हीं में उत्तम रूप से हुई है। साहित्यिक दृष्टि से पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तथा श्रेणिक, जम्बू-स्वामी, सुदर्शन, यशोधर आदि के चरित-काव्य पठनीय हैं। विशेषतः गुणदास और जनार्दन के श्रेणिकचरित्र काव्यगुणों से परिपूर्ण हैं। भक्तिभाव का प्रकटीकरण पूजा, आरती और स्तुतियों में विशेष रूप से हुआ है। ये रचनाएँ गायन की दृष्टि से विशेष उपयुक्त हैं। लय और ताल के अनुरूप इनकी शब्द रचना योग्य वाद्यों की संगति में अनूठे आनन्द की सृष्टि करती है।

आधुनिक मराठी जैन साहित्य

सन् १८५० के बाद अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और मुद्रण-व्यवसाय तथा डाक व्यवस्था के प्रसार से सभी भारतीय साहित्यिक कार्यों में व्यापक परिवर्तन हुआ। मराठी भाषी जैन समाज में इस नवयुग का सूत्रपात सेठ हिराचन्द नेमचन्द दोशी द्वारा सन् १८८४ में स्थापित मासिक जैनबोधक से हुआ। तब से अब तक लगभग चार सौ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। विषयों की विविधता, लेखकों तथा पाठकों में विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों का समावेश, गद्य की प्रधानता तथा भाषा की सरलता ये आधुनिक साहित्य में पाई जाने वाली प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रकाशित पुस्तकों में लगभग आधी प्राचीन संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों के अनुवादों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के रूप में हैं। सरल कथाओं की ३० पुस्तकें हैं। प्रायः इतनी ही पुस्तकें काव्य संग्रहात्मक हैं। श्रावकों की नित्य-नैमित्तिक विधियों का वर्णन दस पुस्तकों में है तथा इतनी ही पुस्तकें पूजापाठ की हैं। इतिहास और तीर्थ वर्णनात्मक विषयों पर ३० पुस्तकें हैं तथा सरल रूप में धर्म तत्त्वों का वर्णन लगभग दस पुस्तकों में प्राप्त होता है। सामयिक प्रश्नों का विचार २० पुस्तकों में है। प्राचीन मराठी साहित्य की लगभग ३० पुस्तकें भी छपी हैं।

पुराने साहित्य के आधे लेखक साधुवर्ग के थे, जबकि आधुनिक साहित्यिकों में साधुओं की संख्या नगण्य है। पुराने साहित्य की रचना पूर्व महाराष्ट्र (विदर्भ) तथा मध्य महाराष्ट्र (मराठवाडा) में ही अधिक हुई थी जबकि आधुनिक साहित्य की रचना अधिकतर दक्षिण महाराष्ट्र में हुई है।

अब हम लेखकों का समयक्रम से वर्णन करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. प्रारंभिक एवं मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ

गुणदास

अब तक ज्ञात मराठी जैन लेखकों में गुणदास सर्वप्रथम हैं। ये ईडर के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदास के शिष्य थे। जिनदास के रामायणरास (संवत् १५०८) और हरिवंशरास (संवत् १५२०) की प्रशस्तियों में गुणदास का उल्लेख है।[1] इससे इनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ सन् १४५० के आसपास का स्पष्ट होता है। मराठी में इनकी पाँच रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें सबसे बड़ी रचना श्रेणिकचरित्र[2] में चार अध्याय और ३००० ओवी[3] हैं। भगवान् महावीर के समकालीन मगध (दक्षिण विहार) के राजा श्रेणिक बिम्बसार की मनोरंजक कथा इसमें वर्णित है। श्रेणिक की जीवन-कथा बहुविध प्रसंगों से परिपूर्ण है। बचपन में सौतेले भाइयों की स्पर्धा, उसके फलस्वरूप अज्ञातवास, नन्दा से विवाह, पुत्र अभय का जन्म, पुनः राज्यप्राप्ति, विदेह की राजकन्या चेलना से विवाह तथा उसके आग्रह से जैनधर्म का स्वीकार, पुत्र कूणिक का विरोध और अन्त में कारागृह में दुःखद मृत्यु—इन सब प्रसंगों का गुणदास ने सरल और सरस भाषा में वर्णन किया है। इनकी अन्य कृतियों का परिचय इस प्रकार है—रामचन्द्र हलदुलि—यह ३० पद्यों का गीत राम विवाह के विषय में है।[4] गान्हाणे—यह ६ पद्यों का गीत है जिसमें शिकायत के रूप में जिनदेव की प्रार्थना है।[5]

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर १९५८) पृष्ठ १३९।

२. प्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६४, सं० सुभाषचन्द्र अक्कोळे।

३. ओवी मराठी का सर्वाधिक प्रचलित छन्द है। इसमें अनियमित अक्षरसंख्या के चार चरण होते हैं तथा सामान्यतः प्रथम तीन चरणों में अन्त्य यमक का प्रयोग होता है।

४. सन्मति, नवम्बर १९५९ में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

५. सन्मति, जून १९६० में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षमागीत में क्षमा का महत्त्व ६ पद्यों में वर्णित है तथा विंचूगीत के ५ पद्यों में विषयवासनारूपी बिच्छू का प्रभाव वैराग्यरूपी झाडू से दूर करने का उपदेश है।[१] गुणदास ने अपना नाम ब्रह्मगुणदास या गुणब्रह्म इन दो रूपों में लिखा है।

गुणकीर्ति

इनकी रचनाओं में भी सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ब्रह्मजिनदास का गुरुरूप में उल्लेख है। इससे अनुमान होता है कि गुणदास का ही मुनिदीक्षा के बाद का नाम गुणकीर्ति होगा। इनकी सबसे बड़ी रचना पद्मपुराण है।[२] गुणकीर्ति ने इसके २८ अध्याय लिखे थे। दो सौ वर्ष बाद चिन्तामणि नामक कवि ने इसमें सात अध्याय जोड़े तथा उनके कुछ ही वर्ष बाद पुण्यसागर ने आठ अध्याय और जोड़कर इसे पूर्ण किया। पूरे ग्रन्थ में १५००० ओवी हैं। जैन परम्परा में प्रचलित रामायण की कथा का इसमें विस्तार से वर्णन है। इसमें भ० आदिनाथ के वैराग्य-प्रसंग के वर्णन में ३४५ ओवी विस्तार वाला द्वादशानुप्रेक्षा (संसार की अनित्यता आदि बारह भावनाओं का चिन्तन) यह प्रकरण है[३] जिसकी कई स्वतन्त्र प्रतियाँ भी मिलती हैं। गुणकीर्ति की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना धर्मामृत[४] गद्य में है। श्रावकों के आचार का उपदेश इसका प्रमुख विषय है। साथ ही जैन कथा, गणित, तीर्थ, तत्त्ववर्णन आदि का भी संक्षिप्त वर्णन इसमें है। त्याज्य विषयों के रूप में जैनेतर देवता, साधु, साहित्य आदि के ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उल्लेख इसमें मिलते हैं। ग्रंथ की भाषा सरल और प्रभावपूर्ण है। गुणकीर्ति के छः गीत भी उपलब्ध हैं जिनका परिचय इस प्रकार है—नेमिनाथ पालना १९ कडवकों का है, इसमें बालक

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ १६-१७।

२. श्री जयचन्द्र श्रावणे, वर्धा द्वारा १९०२ से १९०८ तक पाँच भागों में प्रकाशित।

३. सन्मति, अगस्त १९५९ में प्रकाशित, सं०वि० जोहरापुरकर; मुद्रित पद्मपुराण में यह प्रकरण नहीं पाया जाता।

४. प्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६०, सं०वि० जोहरापुरकर; इसका एक संस्करण धर्मविलासपुराण नाम से अदप्पा बापू पसोबा ने बन्धु पद्मण्णा की स्मृति में कुरुन्दवाड से सन् १९०४ में प्रकाशित किया था, तब इसके कर्ता का परिचय नहीं मिल सका था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिनाथ के झूले में झूलने का वर्णन है; नेमिनाथ-विवाह में ४४ कडवक हैं, इसमें श्रीकृष्ण द्वारा नेमिनाथ के विवाहसम्बन्ध का निश्चय और विवाह के अवसर पर मारे जाने वाले पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर नेमिनाथ का विरक्त होना वर्णित है; नेमिनाथ-जिनदीक्षा में ४५ कडवकों में नेमिनाथ की तपस्या और मुक्ति का वर्णन है,[1] रुक्मिणीहरण में ६४ कडवकों में श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण की मनोरंजक कथा का वर्णन है, इसकी प्रशस्ति में कवि ने अपना जन्म जैसवाल जाति में हुआ ऐसा बताया है,[2] रामचन्द्र फाग में ३१ कडवकों में राम के वसन्त-उत्सव का वर्णन है[3] तथा धन्दा गीत में ६ पद्यों में इहलोक का धन्धा छोड़कर परलोक का धन्धा करने का उपदेश है।[4]

विवेकविलास, नेमीश्वर-राजमती-फाग तथा सीतादिव्यगीत ये गुणकीर्ति की गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। उनके चौपदी नाम के पद भी मिले हैं जिनकी भाषा में गुजराती और मराठी का मिश्रण पाया जाता है।[5]

जिनदास

ये भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य उज्जंतकीर्ति के शिष्य थे। अतः इनका समय पन्द्रहवीं सदी का अन्तिम चरण निश्चित होता है। इनका जन्म देवगिरि (दौलताबाद) में हुआ था। वहीं इन्होंने छंद, व्याकरण, तर्क आदि का अध्ययन किया। इनकी एकमात्र कृति हरिवंशपुराण[6] है जिसमें भ० नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण सम्बन्धी जैन परम्परा की कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं। जिनदास ने इस पुराण के ५५ अध्याय लिखे थे। दो सौ वर्ष बाद पुण्यसागर ने १२ अध्याय और जोड़कर यह रचना पूर्ण की। पूरे ग्रन्थ की ओवी संख्या ११००० है। जिनदास की रचना में पाण्डित्य और कवित्व दोनों का दर्शन होता है।

---

१. धर्मामृत के परिशिष्ट में हमने ये तीन गीत प्रकाशित किये हैं।

२-३. ये दो गीत सन्मति में सन् १९६५ में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए हैं, सं० सुभाषचंद्र अक्कोळे।

४. प्रा० म०, पृष्ठ २४।

५. इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे संग्रह में हैं।

६. प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेघराज

ये ब्रह्मजिनदास के शिष्य ब्रह्मशान्तिदास के शिष्य थे। इससे इनका समय सोलहवीं सदी का प्रथम चरण निश्चित होता है। मराठी में इनकी छह कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें सबसे बड़ी कृति जसोधररास[1] में ५ अध्याय और ११६४ ओवी हैं। यौधेय देश के राजा यशोधर की कथा पर कई जैन कवियों ने काव्य लिखे हैं। मेघराज ने इस परम्परागत कथा का सरस वर्णन किया है। पत्नी के दुराचार से उद्विग्न राजा यशोधर माता के आग्रह से पशुबलि का संकल्प करता है और इस पाप के फलस्वरूप कई जन्मों तक पशुगति के दुःख सहता है, अन्त में जिनधर्म का उपदेश प्राप्त करने पर उसका उद्धार होता है। कथा रोचक ढंग से वर्णित है। मेघराज की अन्य रचनाओं का परिचय इस प्रकार है[2]—पार्श्वनाथ भवान्तर में ४७ कडवकों में भ० पार्श्वनाथ और माता वामादेवी के संवाद के रूप में उनके पूर्वजन्मों का वर्णन है, रामायणी कथा में राजा दशरथ को उनके चार पुत्र एक-एक कथा बतलाते हैं। कृष्णगीत में ७६ कडवक हैं तथा रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवती द्वारा श्रीकृष्ण की कथाओं का वर्णन है, गोम्मटस्वामी गीत में तीन कडवकों में श्रवणबेलगोल के भ० बाहुबली की स्तुति है तथा गूजरी महाटी गीत में गिरनार की यात्रा करनेवाली एक गुजराती और एक मराठी महिला का संवाद है, इसकी एक पंक्ति गुजराती में और दूसरी मराठी में है, इसमें १३ कडवक हैं। मेघराज ने गुजराती में शान्तिनाथचरित और तीर्थवन्दना ये दो रचनाएँ भी लिखी हैं।

कामराज

ये भी ब्रह्मशान्तिदास के शिष्य थे। इनकी मुख्य रचना सुदर्शनचरित्र[3] में १४ अध्याय और लगभग एक हजार ओवी हैं। ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पालन के लिए राजा की पटरानी की प्रणय-प्रार्थना ठुकराने वाले सुदर्शन श्रेष्ठी की

---

१. प्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५९, सं० सुभाषचन्द्र अक्कोळे।

२. प्रा० म०, पृष्ठ ३०-३२।

३. जिनदास चवडे, वर्धा तथा जयचंद्र श्रावणे, वर्धा ने इसके दो संस्करण प्रकाशित किये थे (वर्ष मालूम नहीं हो सका), किन्तु दोनों ने ग्रन्थ का लगभग आधा भाग छोड़कर संक्षिप्त संस्करण निकाले थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोचक कथा इसमें वर्णित है। कामराज की दूसरी रचना चैतन्यफाग में १४ पद्य हैं। इस गीत में शरीररूपी पिंजड़े में बन्दी चैतन्यरूपी राघो (तोता) को मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है।[1] इनकी तीसरी रचना धर्मफाग है।[2] इसमें १३ पद्यों में धर्म से प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन है।

सूरिजन

ये भी ब्रह्मशान्तिदास के शिष्य थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना परमहंस कथा है।[3] यह गद्य-पद्यमय मिश्र रचना है तथा लगभग एक हजार श्लोकों जितना इसका विस्तार है। यह रूपक कथा है—परमहंस (आत्मा) राजा, चेतना रानी, राजपुत्र मन, सौतेली माँ माया, शत्रु मोह ऐसे रूपकों द्वारा आत्मा की मुक्ति-प्राप्ति की कथा इसमें वर्णित है। सूरिजन ने अन्तिम प्रशस्ति में समकालीन भट्टारक ज्ञानभूषण[4] का भी उल्लेख किया है।

नागो आया

ये कारंजा के भट्टारक माणिकसेन के शिष्य थे। इनका समय सन् १५४० के आसपास का है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना यशोधरचरित्र में ५ अध्याय और २९२ ओवी हैं।[5] वादिराज के संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर यह काव्य लिखा गया है। इसकी रचना वैराट देश के कोट नगर (संभवतः वर्तमान आकोट, जि० अकोला) के आदिनाथ मन्दिर में हुई थी।

गुणनन्दि

ये कारंजा के भट्टारक धर्मभूषण के शिष्य थे। इससे इनका समय सन्

---

१. सन्मति, नवम्बर १९५९ में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

२. स्वाध्याय त्रैमासिक, अगस्त १९६५ में श्री अगरचंद नाहटा द्वारा लिखित कामराजु रचित मराठी फागुकाव्य शीर्षक लेख में चैतन्यफाग और धर्मफाग छपे हैं।

३. प्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६०, सं. सुभाषचंद्र अक्कोळे।

४. ज्ञानभूषण की प्रशंसा सहित मराठी में लिखित एक आरती हमारे संग्रह में है। इसमें ४ कडवक हैं, किन्तु लेखक के नाम का पता नहीं चलता।

५. मेघराज कृत जसोधररास के परिशिष्ट में प्रकाशित (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५९), सं. वि. जोहरापुरकर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५८० के आसपास निश्चित होता है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना यशोधर पुराण में आठ अध्याय और १३१६ ओवी हैं।[1] मोरंबपुर के मालातीर्थ चैत्यालय में कवि ने यह ग्रन्थ लिखा। इसकी रचना सकलकीर्ति के संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर हुई। मराठी में यशोधर की कथा पर यह तीसरी कृति है जो काव्यदृष्टि से पूर्वरचित दो ग्रन्थों की अपेक्षा सरस है।

अभयकीर्ति

ये अजितकीर्ति के शिष्य थे। इनकी आदित्यव्रतकथा शक १५३५ में तथा अनंतव्रतकथा शक १५३८ (सन् १६१६) में पूर्ण हुई थी।[2] अनंतव्रतकथा में २५५ ओवी हैं। भाद्रपद शुक्ल एकादशी से त्रयोदशी तक एकाशन और चतुर्दशी को उपवास कर प्रथम चौदह तीर्थंकरों की पूजा अनंत-व्रत में की जाती है। इसके पालन से सोम ब्राह्मण की दरिद्रता नष्ट हुई तथा अगले जन्म में उसे राजवैभव प्राप्त हुआ।

वीरदास (पासकीर्ति)

इनका जन्म सोहितवाल जाति में हुआ था। कारंजा के भट्टारक कुमुद-चन्द्र तथा उनके उत्तराधिकारी भ० धर्मचन्द्र का इन्होंने गुरुरूप में उल्लेख किया है। इनके हाथ की लिखी गुणकीर्तिकृत अनुप्रेक्षा की प्रति उपलब्ध है तथा इनके द्वारा अध्ययन में प्रयुक्त विश्वतत्त्वप्रकाश तथा पंचस्तवनावचूरि ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। इनका पहला नाम वीरदास तथा मुनिदीक्षा के बाद का नाम पासकीर्ति था। धर्मचन्द्र ने इन्हें औरंगाबाद में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किया था। इनके द्वारा सन् १६४७ में प्रतिष्ठित जिनमूर्ति वाला-पुर के जिनमंदिर में है। मराठी में इनकी चार रचनाएँ प्राप्त हैं। इनमें सबसे बड़ी कृति सुदर्शनचरित्र है।[3] इसमें २५ अध्याय और १६५० ओवी हैं। इसकी रचना शक १५४९ (सन् १६२७) में पूर्ण हुई थी। कामराज के

---

१. बाळाप्पा आलासे, कुरुन्दवाड द्वारा प्रकाशित (वर्ष मालूम नहीं हो सका)।

२. आदित्यव्रतकथा की सूचना हमें स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी के पत्र से मिली थी। अनंतव्रतकथा हमने सन्मति (मई १९५८) में प्रकाशित की है।

३. प्रा० म०, पृष्ठ ४४-४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुदर्शनचरित्र का यह विस्तृत संस्करण कहा जा सकता है। यह विस्तार मुख्यतः श्रावकधर्म के विस्तृत विवरण के कारण हुआ है। वीरदास की अन्य रचनाओं का परिचय इस प्रकार है—नवकारमंत्रप्रकृति में २२ ओवी हैं तथा नमस्कार मंत्र का महत्व बतलाया है;[१] बहुतरी में नाम के अनुसार ७२ ओवी हैं तथा प्रत्येक ओवी का प्रारंभ का अक्षर वर्णमाला के क्रम से रखा गया है, इसमें विविध धार्मिक विचारों का संग्रह है;[२] नेमिनाथ वऱ्हाड ४० पद्यों का गीत है, जिसमें नेमिनाथ के अपूर्व विवाह समारोह का वर्णन है।[३]

दामा पंडित

ये दयासागर के शिष्य थे।[४] इनका समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। जम्बूस्वामीचरित्र में १६ अध्याय और १९१५ ओवी हैं।[५] भगवान् महावीर के बाद की आचार्यपरम्परा के तीसरे आचार्य तथा अन्तिम केवलज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध जम्बूस्वामी की कथा इसमें वर्णित है। तरुण अवस्था में उनका वैराग्य, आठ पत्नियों को संसार की असारता समझाने के लिए कही गई कथाएं, दीक्षा और तपस्या का कवि ने सरस वर्णन किया है। इस ग्रन्थ का एक परिवर्धित संस्करण रत्नसा ने पचास वर्ष बाद तैयार किया था। दामा पण्डित की दूसरी रचना दानशीलतपभावना में ४६८ ओवी हैं। इसमें भगवान् महावीर के समवसरण में दान, शील, तप और भाव अपनी-अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। दामा पण्डित ने इसकी २८५ ओवी तक रचना की थी, शेष भाग भानुकीर्ति ने पूर्ण किया।[६]

---

१. प्रा० म० पृष्ठ ४४-४६।

२. सन्मति, नवम्बर १९५९ में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

३. सन्मति, जून १९६० में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

४. आयु में दयासागर दामा पण्डित से काफी छोटे होंगे क्योंकि दामा-पण्डित की दानशीलतपभावना पूर्ण करने वाले भानुकीर्ति के बाद उन्हें भट्टारक पद मिला था जैसा कि आगे दिये हुए भानुकीर्ति और दयासागर के परिचय से स्पष्ट होगा।

५. प्रतिष्ठान मासिक, औरंगाबाद; मई १९६० में इसका परिचय हमने दिया था।

६. प्रा० म०, पृष्ठ ५०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भानुकीर्ति

ये औरंगाबाद पीठ के भट्टारक पासकीर्ति (जिनका परिचय ऊपर आ चुका है) के बाद भट्टारक हुए थे। कारंजा के भ० धर्मभूषण ने उन्हें इस पद पर प्रतिष्ठित किया था। धर्मभूषण की ज्ञात तिथियाँ सन् १६५० से १६७५ तक हैं, इसी के आसपास भानुकीर्ति का समय समझना चाहिए। दामा पण्डित की दानशीलतपभावना का अन्तिम अंश इन्होंने पूर्ण किया था इसके चार पद भी उपलब्ध हैं जिनकी पद्यसंख्या ४, ५, ७ और १४ है। पहले पद में पार्श्वनाथ की स्तुति है, दूसरे में आत्मानुभव के आनन्द की चर्चा है, तीसरा और चौथा वैराग्य के उपदेश के लिए है।

दयासागर (दयाभूषण)

ये उपर्युक्त भानुकीर्ति के बाद भट्टारक हुए थे। दयासागर इनका पहला नाम था और दयाभूषण भट्टारकपद प्राप्त होने के समय रखा गया नाम था। इनका जन्म सोहेरवाल जाति में हुआ था। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। धर्मामृतपुराण[1] में दस अध्याय हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के पालन के लिए प्रसिद्ध अञ्जनचोर, अनन्तमती आदि की कथाओं का यह सरस संग्रह है। भविष्यदत्त-बन्धुदत्त पुराण[2] में भी १० अध्याय हैं। द्वीपान्तरों की यात्रा करने वाले साहसी व्यापारी भविष्यदत्त और उसके लोभी साथी बन्धुदत्त की मनोरंजक कथा इसमें वर्णित है। सम्यक्त्वकौमुदी[3] में ११ अध्याय और २३८० ओवी हैं। सेठ वृषभदास और उनकी आठ पत्नियों को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से निमित्तभूत अद्भुत कथाओं का यह संग्रह है। कवि ने भविष्यदत्त की कथा रास भाषा (गुजराती) के ग्रन्थ के आधार पर तथा शेष दो ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर लिखे थे।

चिमना पण्डित

इन्होंने कारंजा के भ० धर्मभूषण तथा लातूर के भ० अजितकीर्ति का गुरु के रूप में उल्लेख किया है। अतः इनका समय सन् १६५० से १६७५

---

१. प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०७।
२. प्रा० म०, पृष्ठ ५२।
३. प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के आसपास निश्चित होता है। ये पैठन नगर में रहते थे। इनकी २० रचनाएँ मराठी में उपलब्ध हैं। तीर्थवन्दना में ३६ श्लोक हैं तथा निर्वाण-काण्ड में वर्णित तीर्थों और कुछ अन्य तीर्थों का संक्षिप्त वर्णन है। कचनेर ग्राम (औरंगाबाद के पास) के मन्दिर के मूल नायक पार्श्वनाथ की आरती में ५ पद्य हैं।[1] भूपाली में ७ पद्य हैं, यह प्रातःकाल में जिननामस्मरण करने के लिए लिखा गया गीत है। कारंजा के मन्दिर के मूलनायक चन्द्रप्रभ की आरती में ५ पद्य हैं। त्रिकाल तीर्थंकर पूजा में ९ पद्य हैं, भूतकाल, वर्तमानकाल व भविष्यकाल में होने वाले तीर्थंकरों की यह पूजा है।[2] नेमिनाथ पालना १८ पद्यों का गीत है, जिसमें बालक नेमिनाथ के झूले में झूलने का वर्णन है।[3] गुरुगीत में कारंजा के भ० धर्मभूषण की स्तुति है। जिनमाता के १६ स्वप्नों का वर्णन ६ पद्यों के गीत में है। नेमिनाथ-भवान्तर ११ पद्यों का गीत है, जिसमें माता शिवादेवी और नेमिनाथ के संवाद के रूप में उनके पूर्वजन्मों का संक्षिप्त वर्णन है। गोम्मटस्वामी स्तोत्र के ६ श्लोकों में श्रवणबेलगोल के भ० बाहुबली की स्तुति है। बालक छाटी ११ पद्यों का गीत है, बालरक्षा के लिए प्रार्थना का यह गीत है। आदिनाथ आरती में ६ पद्य हैं। महाराष्ट्र में प्रचलित कुछ खेलों में बालक-बालिकाएँ नाचते हुए गीत गाते हैं, ऐसे कुछ गीत भी चिमना पंडित ने लिखे हैं। इनके नाम और पद्य संख्या इस प्रकार हैं— फुगडी ३, झंपा ५, पिंगा ४, लयलाखोटा ५, चेंडूफली ११ टिपरी (दो गीत) ४ और ६। इन गीतों के माध्यम से खेलों में भी धार्मिक भावनाओं का समावेश किया गया है।

चिमना पंडित की सबसे बड़ी रचना अनन्तव्रतकथा में ५८ कडवक हैं। गीत के रूप में इसमें अनन्तव्रतपालन के फल की कथा का वर्णन है। इसकी प्रशस्ति में पैठन नगर का और गुरु अजितकीर्ति का उल्लेख है। पैठन के मुनिसुव्रत की विनती यह चिमना पंडित की गुजराती रचना भी उपलब्ध है।[4]

---

१. तीर्थवन्दना और पार्श्वनाथ आरती हमारे तीर्थवन्दन संग्रह (जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर, १९६५) में प्रकाशित हुए हैं।

२. जिनेंद्रमंगल आराधना (प्र० जयकुमार दोडल, हिंगोली, १९५६) में ये तीन रचनाएँ प्रकाशित हैं।

३. जैनी पालने (प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९१०) में प्रकाशित।

४. गुरुगीत और आगे की रचनाओं के लिए देखिए प्रा० म०, पृष्ठ ५६-५७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्यसागर

ये भा लातूर के भ० अजितकीर्ति के शिष्य थे, अतः इनका समय भी सन् १६५० से १६७५ के आसपास निश्चित है। इन्होंने जिनदासरचित अपूर्ण हरिवंशपुराण में १२ अध्याय जोड़कर उसे पूर्ण किया था। इनकी दूसरी रचना रविवारव्रतकथा के दो संस्करण मिलते हैं; एक में १८० और दूसरे में ३३२ ओवी हैं। रविवारव्रत या आदित्यव्रत आषाढ़ शुक्ल पक्ष के अन्तिम रविवार से प्रारम्भ कर नौ रविवार तक किया जाता था। इसमें उपवास या एकाशन कर भगवान् पार्श्वनाथ की पूजा की जाती थी। इसके पालन से गुणधर नामक श्रेष्ठिपुत्र और उसके परिवार की दरिद्रता नष्ट हुई और पद्मावती देवी की कृपा से संपन्नता प्राप्त हुई।[1]

विशालकीर्ति (प्रथम)

ये अजितकीर्ति के बाद भट्टारक हुए थे। इनके द्वारा शक १५९२ (सन् १६७०) में स्थापित नन्दीश्वर मूर्ति नागपुर के बड़े पार्श्वनाथ मन्दिर में उपलब्ध है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना रुक्मिणीव्रतकथा में १५२ ओवी हैं। श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मिणी ने पूर्वजन्म में जो व्रत किया था, उसका शुभफल इस कथा द्वारा बताया गया है। यह व्रत भाद्रपद शुक्ल अष्टमी के दिन उपवास करके किया जाता था तथा प्रत्येक प्रहर में एक बार के हिसाब से आठ बार जिनपूजा की जाती थी।[2]

पंत साबाजी

उपर्युक्त विशालकीर्ति के शिष्य पंत साबाजी की सुगन्धदशमीव्रतकथा उपलब्ध है।[3] इसमें २६३ ओवी हैं तथा इसकी रचना शक १५८७ (सन् १६६५) में पूर्ण हुई थी। मुनि को दूषित आहार देने के परिणामस्वरूप एक रानी को अनेक जन्मों तक कष्ट सहना पड़ा, उसका शरीर दुर्गन्धयुक्त हुआ, फिर भाद्रपद शुक्ल दशमी को उपवास कर जिनपूजा करने के फलस्वरूप अगले जन्म में उसे उत्तम सुगन्धयुक्त शरीर प्राप्त हुआ, सौतेली माँ द्वारा दिये गये

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ६०।

२. प्रा० म०, पृष्ठ ६२।

३. इसका परिचय हमने 'प्रतिष्ठान' मासिक, औरंगाबाद, मई १९६० में अपने लेख में दिया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कष्ट के बावजूद वह राजरानी बनी। ब्रह्मजिनदास की गुजराती कथा के आधार पर यह रचना लिखी गई थी।

विशालकीर्ति (द्वितीय)

ये देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय निश्चित नहीं है; किन्तु इनकी रचना धर्मपरीक्षा की एक प्रति शक १६१० की लिखी उपलब्ध है, अतः सन् १६८८ से पहले के ये कवि हैं। धर्मपरीक्षा में ५ अध्याय और ९५८ ओवी हैं। विशालकीर्ति ने ब्रह्मजिनदास के रासभाषा (गुजराती) के ग्रन्थ का यह मराठी रूपान्तर तैयार किया तथा ज्ञानसागर ने इसे लिपिबद्ध किया, ऐसा प्रशस्ति से ज्ञात होता है। इस ग्रन्थ में हिन्दू पुराणों की कई कथाओं की अविश्वसनीयता विस्तृत उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की गई है।[1]

पद्मकीर्ति

ये लातूर के भट्टारक विशालकीर्ति के पट्टशिष्य थे। इनकी एक छोटी सी रचना पार्श्वनाथ-आरती उपलब्ध है जिसमें ५ कडवक हैं तथा चक्रपुर के भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति है। पद्मकीर्ति द्वारा सन् १६८० और १६८६ में स्थापित कुछ मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।[2]

राय

इनकी एक छोटी सी रचना जिनवरविनती उपलब्ध है जिसमें १६ श्लोक हैं। निर्मलग्राम में शक १६०६ (सन् १६८४) में यह रचना पूर्ण हुई थी, ऐसा अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है। एक श्लोक में कवि ने अपने पिता का नाम मल्लाजी बताया है।[3]

रत्नसा

इन्होंने शक १६१० और १६१५ में कई मराठी जैन ग्रन्थों की प्रतियाँ तैयार की थीं। देउलगांव के बघेरवाल जाति के साहुआ गोत्र में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने दामा पंडित के जम्बूस्वामीचरित का परिवर्धित संस्करण तैयार किया था। इस संस्करण में १४ अध्याय हैं। रत्नसा ने कारंजा के सेनगण के भट्टारक जिनसेन का गुरुरूप में उल्लेख किया है।[4]

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ६४।
२. प्रा० म०, पृष्ठ ६६।
३-४. प्रा० म०, पृष्ठ ६६-६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंगादास

ये मूलतः गुजराती थे और कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द के शिष्य थे। गुरु की आज्ञा से मराठी में भी कुछ रचनाएँ इन्होंने लिखीं। इनमें सबसे बड़ा पार्श्वनाथभवान्तरगीत है[१] जिसे कवि ने डफगान कहा है—डफ नामक वाद्य की संगत के साथ यह गाया जाता था। इसमें ४७ कडवकों में भगवान् पार्श्वनाथ के नौ पूर्वजन्मों का वर्णन है। इसकी रचना शक १६१२ (सन् १६९०) में हुई थी। चक्रवर्ती-पालना गंगादास की दूसरी रचना २१ कडवकों की है। इसमें भरत चक्रवर्ती के शिशु अवस्था में झूले में झूलने का मधुर वर्णन है।[२] नेमिनाथ आरती (४ कडवक)[३] तथा श्रीपुर-पार्श्वनाथ आरती[४] (५ कडवक) ये गंगादास की अन्य मराठी रचनाएं हैं। गुजराती में रविव्रत-कथा, त्रेपनक्रिया विनती और जटामुकुट तथा संस्कृत में पंचमेरुपूजा, क्षेत्रपाल-पूजा, संमेदाचलपूजा एवं तुंगीबलभद्रपूजा ये इनकी अन्य रचनाएँ उपलब्ध हैं।

हेमकीर्ति

ये लातूर के भट्टारक विद्याभूषण के पट्टशिष्य थे। इनके द्वारा सन् १६९६ से १७३१ तक स्थापित पाँच मूर्तियाँ और यन्त्र नागपुर और सिन्दी (वर्धा) के मन्दिरों में उपलब्ध हैं। मराठी में इनकी चार छोटी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें अरहंतपूजा (९ पद्य) और बारसभा आरती (३ पद्य) प्रकाशित हो चुके हैं[५] तथा दशलक्षणधर्मआरती (४ पद्य) एवं तीर्थवन्दना (१९ पद्य) अप्रकाशित हैं।[६] इन्होंने गुजराती में अरहंतपूजा तथा संस्कृत में पार्श्वनाथ-स्तोत्र व पद्मावतीस्तोत्र की भी रचना की थी।

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ६८।

२. जैनी पालने (प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९१०) में प्रकाशित।

३. आरती संग्रह (प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९२६) में प्रकाशित।

४. आरती संग्रह (प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०४) में प्रकाशित।

५. पहली कृति जिनेन्द्रमंगलआराधना (प्र० जयकुमार दोडल, हिंगोली, सन् १९५६) में तथा दूसरी आरती संग्रह (प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, सन् १९०४) में प्रकाशित हुई थी।

६. हस्तलिखित हमारे संग्रह में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मकरन्द

ये भ० हेमकीर्ति के शिष्य थे, अतः इनका समय भी सन् १६९६ से १७३१ के आस-पास समझना चाहिए। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना रामटेक छन्द[1] में १६ पद्य हैं। नागपुर से ३० मील उत्तरपूर्व में रामटेक नगर है, जहाँ के भगवान् शान्तिनाथ की महिमा का वर्णन इस गीत में है। मन्दिर के प्राकार आदि के निर्माण में भाग लेनेवाले श्रीमान् लेकुरसंगवी और लाड गाहानकारी का इसमें उल्लेख है। समीप के हिन्दू मन्दिरों का भी कवि ने उल्लेख किया है।

महीचन्द्र

ये लातूर के भट्टारक विशालकीर्ति के पट्टशिष्य थे। मराठी में इनकी ग्यारह रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें सबसे बड़ी रचना आदिनाथपुराण[2] शक १६१८ (सन् १६९६) में आशापुर में पूर्ण हुई थी। इसमें १५ अध्याय और ३२५३ ओवी हैं। ब्रह्मजिनदास के आदिनाथरास पर आधारित इस पुराण में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की कथा पूर्वजन्मों के वर्णन के साथ विस्तार से कही गई है। महीचन्द्र की दूसरी बड़ी रचना सम्यक्त्वकौमुदी[3] में १३ अध्याय और १६८१ ओवी हैं। इसकी कथाएँ दयासागर की सम्यक्त्व-कौमुदी के समान ही हैं। इनकी छोटी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है— नंदीश्वरव्रतकथा में १५० ओवी हैं। आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन में शुक्ल अष्टमी से पौर्णिमा तक अष्टाह्निका उत्सव मनाया जाता था जिसमें नंदीश्वर द्वीप के जिन-मंदिरों की पूजा होती थी। इसी व्रत के पालन की महिमा इस कथा में वर्णित है। इसे अठाईव्रतकथा भी कहा गया है। गरुडपंचमीव्रत-कथा[4] में ९१ ओवी हैं। श्रावण शुक्ल पंचमी और षष्ठी को उपवासपूर्वक

---

१. तीर्थवन्दन संग्रह (जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर, १९६५) में प्रकाशित (पृष्ठ ९७–९९) सं० वि० जोहरापुरकर।

२. प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०१।

३. प्रा० म०, पृष्ठ ६९, आगे की रचनाओं का परिचय भी इसी स्थान पर प्राप्त हो सकता है।

४. कोंढाली (जि० नागपुर) में उपलब्ध पोथी में इसका रचना काल शक १६०७ बताया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनपूजा के व्रत के पालन से गरुड नामक राजा को प्राप्त हुए शुभ फल की यह कथा है। निर्दोषसप्तमीव्रतकथा में १२० ओवी हैं। भाद्रपद शुक्ल सप्तमी को उपवास कर यह व्रत किया जाता था। इसके फल से रूपलक्ष्मी नामक श्राविका को उत्तम सुख प्राप्त हुआ; पड़ोसिन द्वारा ईर्ष्यावश भेजा गया कृष्ण सर्प भी उसके पुण्य-प्रभाव से रत्नहार बन गया।[१] नेमिनाथ-भवान्तर में ७१ कडवकों में माता शिवादेवी के साथ सम्वाद के रूप में नेमिनाथ के पूर्वजन्मों की कथा वर्णित है। नेमीश्वरगीत में १० कडवकों में राजमती की विरह-वेदना का वर्णन है। महावीरपालना १६ कडवकों का गीत है, इसमें भगवान् के जन्मोत्सव का वर्णन है। शान्तिनाथस्तोत्र ११ श्लोकों की भक्तिपूर्ण रचना है। चिन्तामणि-आरती में अम्बापुर के जिनमंदिर की तथा अरहंत-आरती में नंदीपुर के जिनमंदिर की मुख्य जिन मूर्तियों के प्रशंसात्मक वर्णन हैं। महीचन्द्र की एक हिन्दी रचना कालीगोरीसम्वाद उपलब्ध है। इनके चार शिष्यों की मराठी रचनाओं का परिचय आगे दिया है।

महाकीर्ति

ये महीचन्द्र के शिष्य थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना शीलपताका शक १६२० (सन् १६९८) में पूर्ण हुई थी।[२] इसमें ३ अध्याय और ५५२ ओवी हैं। वेश्यासक्त पति को चतुराई से सन्मार्ग पर लानेवाली सती चम्पावती की रोचक कथा ब्रह्मजिनदास की गुजराती रचना के आधार पर कवि ने मराठी में लिखी है।

चिन्तामणि

ये भी महीचन्द्र के शिष्य थे। गुणकीर्तिरचित अपूर्ण पद्मपुराण में इन्होंने सात अध्याय जोड़े। कुलभूषण-देशभूषण, जटायु, चन्द्रनखा आदि की कथाएँ इन अध्यायों में वर्णित हैं।

---

१. हमारे संग्रह में यह हस्तलिखित कथा उपलब्ध है।

२. शीलपुराण नाम से जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा प्रकाशित, सन् १९०९। इसका दो बार पुनर्मुद्रण भी हुआ था। शीलतरंगिनीपुराण नाम से जयचन्द्र श्रावणे, वर्धा द्वारा भी यह कथा प्रकाशित हुई थी, प्रकाशनवर्ष मालूम नहीं हो सका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रामकीर्ति

ये भी महीचन्द्र के शिष्य थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना पद्मावती आरती में १४ कडवक हैं। देवी पद्मावती की पूजाविधि इस भक्तिपूर्ण रचना में वर्णित है।[1]

देवेन्द्रकीर्ति

ये भी महीचन्द्र के शिष्य थे। इनकी विस्तृत रचना कालिकापुराण[2] कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पद्मपुराण के जिनदासकृत गुजराती रूपान्तर का उल्लेख आधार के रूप में कवि ने किया है। किन्तु इसकी कथावस्तु से यह उल्लेख प्रमाणित नहीं होता। ४८ अध्याय और लगभग ७००० ओवी में रचित इस ग्रन्थ में कालिका (पद्मावती) की महिमा बतानेवाली कथाएँ हैं। साथ ही सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मपरीक्षा और अनन्तव्रत की कथाएँ भी इसमें शामिल कर ली गई हैं। इसका विशेष महत्त्वपूर्ण भाग वह है जिसमें महाराष्ट्र के जैन समाज की बोगार जाति का लिंगायतों से विरोध, बोगारों में अन्तर्गत विरोध, मुसलमान राज्यकर्ताओं के अत्याचार आदि की कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं।

पुण्यसागर (द्वितीय)

ये औरंगाबाद के भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य आनंदसागर के शिष्य थे। इससे इनका कार्यकाल सन् १७०० के आसपास सिद्ध होता है। गुणकीर्ति के अपूर्ण पद्मपुराण में चिन्तामणि ने सात अध्याय जोड़े थे, पुण्यसागर ने आठ अध्याय और जोड़कर यह ग्रन्थ पूरा किया। इन अध्यायों में सीता-निर्वासन, लव-कुश का जन्म, सीता का अग्निदिव्य, राम का वैराग्य, तपस्या तथा निर्वाण आदि कथाभाग वर्णित है।

छत्रसेन

ये सेनगण की कारंजा शाखा में समन्तभद्र के बाद भट्टारक हुए थे। कागल (कोल्हापुर के समीप) नगर में शक १६२५ (सन् १७०३) में इन्होंने आदीश्वर-भवान्तर नामक गीत की रचना की। इसमें ६७ कडवकों में

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ७३।
२. प्रा० म०, पृष्ठ ७६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महापुराण की कथा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के दस पूर्वजन्मों का वर्णन है। सरस्वती आरती (५ पद्य), रत्नत्रय आरती (८ पद्य) तथा नन्दीश्वर आरती (अपूर्ण रूप में प्राप्त) ये छत्रसेन की अन्य उपलब्ध मराठी रचनाएँ हैं।[१] संस्कृत में पंचमेरुपूजा, पार्श्वनाथपूजा, अनन्तनाथस्तोत्र व पद्मावतीस्तोत्र तथा हिन्दी में द्रौपदीहरण, समवसरण षट्पदी व झूलना ये छत्रसेन की अन्य उपलब्ध रचनाएँ हैं। इनके शिष्य हीरा, विहारी और अर्जुनसुत की कुछ हिन्दी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

सटवा

ये लातूर के भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य भ० महीभूषण के शिष्य थे। इससे इनका समय सन् १७१८ के आसपास सिद्ध होता है। इनकी तीन रचनाएँ मराठी में उपलब्ध हैं।[२] शिवानेमिसंवाद २० कडवकों का गीत है, जिसमें नेमिनाथ के वैराग्य-प्रसंग का वर्णन है। कंसाचे पद ८ कडवकों का गीत है, कंस द्वारा श्रीकृष्ण की हत्या के लिए किये गये विफल प्रयत्नों का इसमें वर्णन है। जिनस्तुति में १४ ओवी हैं तथा अरहंतदेव का गुण वर्णन है। नेमिनाथ के वैराग्य विषयक इनका एक हिन्दी गीत भी उपलब्ध है।

नीबा

इनके दो गीत शक १६४८ के हस्तलिखित में उपलब्ध हुए हैं[३], अतः इनका समय सन् १७२६ से पहले का सिद्ध होता है, कितने पहले—यह अभी अनिश्चित है। एक गीत में शिरपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की स्तुति ५ कडवकों में है। इसे अहिराणी गीत कहा गया है। धूलिया-जलगांव जिलों में प्रचलित अहीर बोली का प्रभाव इसकी भाषा पर है। दूसरे नेमीश्वर गीत में ३ कडवक हैं। इसमें नेमिनाथ के वैराग्यप्रसंग का वर्णन है।

यादवसुत

ये गुणसागर के शिष्य थे। इससे इनका समय सन् १७१८ के आसपास अनुमानित है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना अष्टकर्मप्रकृति है, जिसमें विविध वृत्तों के २२२ पद्य हैं। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का परंपरागत वर्णन इसमें

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ७९, रत्नत्रय आरती हमारे संग्रह में उपलब्ध है।
२. प्रा०म०, पृष्ठ ८०; तीसरी रचना हमारे हस्तलिखित संग्रह में है।
३. प्रा० म०, पृष्ठ १०९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निबद्ध है। मराठी में इस विषय पर अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं है। दूसरी विशेष बात यह है कि इसके रचयिता अन्धे थे ऐसा उनके प्रशस्तिश्लोकों से ज्ञात होता है।[1]

माणिकनंदि

ये कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनकी पांच छोटी रचनाएँ उपलब्ध हैं। गुरु-आरती में ४, चन्द्रनाथ-आरती में ५, शीतलनाथ आरती (इसे समवसरण आरती भी कहा गया है) में ४ तथा अनन्तनाथ आरती में ५ कडवक हैं। अनन्तनाथ आरती में रचनाकाल शक १६४६ बताया गया है।[2] माणिकनंदि की पांचवीं रचना ऋषभपूजा में ९ पद्य हैं।

जिनसागर

ये भी कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनका पहला नाम जिनदास था। गुरु के साथ इन्होंने गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की थी। मराठी में इनकी २६ रचनाएँ प्राप्त हैं।[3] इनमें सबसे बड़ी रचना जीवन्धरपुराण में १० अध्याय और १५३० ओवी हैं। उत्तरपुराण और जीवंधररास के आधार पर इसकी रचना शक १६५६ में हुई थी। राजद्रोही मंत्री काष्ठांगार द्वारा जीवंधर के पिता की हत्या, निर्वासित स्थिति में बीता उसका बचपन, विद्याध्ययन, साहसपूर्ण यात्राएं, आठ विवाह, राज्यप्राप्ति, वैराग्य, तपस्या और मुक्ति के प्रसंग जिनसागर ने सरस भाषा में अंकित किये हैं।[4] आदित्यव्रत, अनन्तव्रत, पुष्पांजलिव्रत, निर्दोषसप्तमीव्रत, कलशदशमीव्रत तथा सुगन्धदशमीव्रत की कथाएँ जिनसागर ने लिखी हैं। इनमें आदित्य, अनन्त

---

१. प्र० म०, पृष्ठ ८१।

२. जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा १९०४ में प्रकाशित आरतीसंग्रह में गुरु आरती प्रकाशित है, इन्हीं के १९२५ के आरतीसंग्रह में शेष तीन आरतियां प्रकाशित हैं। ऋषभपूजा हमारे हस्तलिखित संग्रह में है।

३. 'जिनसागर की समग्र कविता' यह संकलन हमने संपादित किया था जो जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा १९५९ में प्रकाशित हुआ। अन्यत्र प्रकाशित रचनाओं की सूचना आगे दी है।

४. जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा सन् १९०४ में यह प्रकाशित हुआ था। इसमें रचना वर्ष गलती से शक १६६६ छपा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्दोषसप्तमी और सुगन्धदशमी की कथाएँ पहले भी कुछ कवियों ने मराठी में लिखी थीं, यह ऊपर लिख चुके हैं। ये पूर्ववर्ती रचनाएँ ओवी छन्द में तथा सरल भाषा में हैं। जिनसागर की कथाएँ विविध वृत्तों में और प्रौढ़ अलंकार-युक्त भाषा में हैं अतः इनका अधिक प्रसार हुआ है। शक १६४६ में रचित आदित्यव्रतकथा में ४६ पद्य हैं। शिरड ग्राम (जि० परभणी) में शक १६५३ में रचित अनन्तव्रतकथा में ७३ पद्य हैं। निर्दोषसप्तमीकथा में ११३ और सुगन्धदशमीकथा में १३६ पद्य हैं।[1] पुष्पांजलिव्रतकथा में १०२ पद्य हैं। यह व्रत भाद्रपद शुक्ल पंचमी से नवमी तक होता था तथा इसमें पंचमेरुस्थित जिनबिम्बों की पूजा होती थी। कलशदशमीव्रत श्रावण शुक्ल दशमी को होता था, इसकी कथा में ४९ पद्य हैं। जिनसागर की तीन अन्य कथाएँ भी प्राप्त हैं। शक १६४९ में कारंजा में रचित जिनकथा (इसे जिनागमकथा या जम्बूद्वीपकथा भी कहा गया है) में २१२ ओवी हैं। इसमें छह काल, चौवीस तीर्थंकर और बारह अंग ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। लहु-अंकुश कथा शिरड ग्राम में शक १६५३ में लिखी गई थी। इसके ७९ पद्यों में सीता का निर्वासन, लव-कुश का जन्म, उनका बचपन, राम से युद्ध और अन्त में तपस्या और निर्वाण का कथाभाग वर्णित है। शिरड में ही शक १६५२ में रचित पद्मावतीकथा में ६५ पद्य हैं। मथुरा के उग्रवंशीय राजकुमार जिन-दत्त द्वारा कर्णाटक के हुमच नगर और वहां के पद्मावतीमंदिर की स्थापना की कथा इसमें वर्णित है। जिनसागर की अन्य रचनाओं की पद्यसंख्या इस प्रकार है (विषय इनके नामों से ही स्पष्ट है)—भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत संस्कृत स्तोत्र का समवृत्त अनुवाद) ५०, आदिनाथस्तोत्र १०, शान्तिनाथ-स्तोत्र १०, पार्श्वनाथस्तोत्र १८, वीतरागस्तोत्र २९, पद्मावतीस्तोत्र १४, क्षेत्र-पालस्तोत्र ९, शान्तिनाथ आरती ३, महावीर आरती ५, सरस्वती आरती ५, पद्मावती आरती (दो संस्करण) ४ और ५, दशलक्षणधर्म आरती (दो संस्करण) ६ और ७, ज्येष्ठ जिनवरपूजा १६ तथा कयको १४ (इस गीत में पद्मावतीदेवी पंचमकाल और षष्ठकाल का भविष्य बतलाती हैं ऐसी कल्पना है)। संस्कृत में पंचमेरुपूजा, नंदीश्वरपूजा और नवग्रहपूजा तथा हिन्दी में

---

१. सुगन्धदशमी कथा की ७३ चित्रों से युक्त एक प्रति अन्य चार भाषाओं में रचित इसी कथा के साथ भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वारा सन् १९६६ में डा० हीरालाल जैन के संपादन में प्रकाशित हुई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशलक्षणधर्म सवैया तथा स्फुट २५ सवैया ये जिनसागर की अन्य रचनाएँ प्राप्त हैं।

लक्ष्मीचन्द्र

ये कृपासागर के शिष्य थे। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं। मेघमालाव्रत कथा शक १६५० (सन १७२८) में माननगर में पूर्ण हुई थी। इसमें ६९ ओवी हैं। भाद्रपद के शुक्ल पक्ष के प्रारम्भिक पाँच दिनों में मेघमाला-व्रत किया जाता था, इसी का माहात्म्य इस कथा में वर्णित है। इनकी दूसरी रचना जिनरात्रिव्रतकथा में १५८ ओवी हैं। यह भी माननगर में ही लिखी गई थी। माघ कृष्ण चतुर्दशी के जिनरात्रिव्रत का माहात्म्य इसमें वर्णित है। कवि का कथन है कि भगवान् महावीर ने पूर्वजन्म में इस व्रत का पालन किया था।[1]

सया

इनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं।[2] चोवीस तीर्थंकरस्तुति में २६ पद्य हैं। इसमें मुनिसुव्रत तीर्थंकर सम्बन्धी श्लोक में प्रतिष्ठान (पैठन) के मुनि-सुव्रतमन्दिर का उल्लेख है। दूसरी रचना नेमिनाथभवान्तर में विविध वृत्तों के १२८ पद्य हैं। शक १६६० (सन् १७३८) में रचित इस काव्य में नेमिनाथ की कथा पूर्वजन्मों के साथ वर्णित है।

सोयरा

ये बघेरवाल जाति के चवरिया गोत्र के अर्जुन के पुत्र थे। कारंजा के भट्टारक समन्तभद्र इनके गुरु थे। इन्होंने संवत् १८०२ (सन् १७४६) में देउलगांव में कर्माष्टमीव्रतकथा की रचना की थी।[3] आषाढ़, कार्तिक व फाल्गुन की शुक्ल अष्टमी को कर्माष्टमीव्रत किया जाता था। इसका माहात्म्य दिखानेवाली इस कथा में ११७ ओवी हैं। किसी कन्नड रचना का आधार लेकर कवि ने यह कथा लिखी थी। ८ पद्यों की सुपार्श्वनाथ-आरती सोयरा

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ८६।

२. इनका परिचय हमने साप्ताहिक जैन बोधक, सोलापुर, के दि० २९-९-६९ के अंक में दिया है।

३. प्रा० म०, पृष्ठ ८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की दूसरी रचना है।[1] हिन्दी में कैलास छप्पय नामक छोटीसी रचना भी इन्होंने लिखी थी। इन्होंने अपना नाम अर्जुनसुत लिखा है।

यमासा

इन्होंने भी अपना नाम अर्जुनसुत इस रूप में लिखा है, किन्तु उपर्युक्त सोयरा के साथ इनका क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। कारंजा के भट्टारक शान्तिसेन के ये शिष्य थे। वत्सगुल्म (वासिम) नगर में शक १६७३ (= सन् १७५१) में विविध वृत्तों के ३२६ पद्यों की आदित्यव्रतकथा इन्होंने लिखी थी। इस कथा पर रची गई कृतियों में यह सबसे अधिक अलंकृत और विस्तृत है। अर्जुनसुत रचित काष्ठासंघ के भट्टारक विजयकीर्ति की एक आरती उपलब्ध है, किन्तु यह सोयरा की रचना है या यमासा की, यह स्पष्ट नहीं है।[2] यमासा की तीन आरतियां भी उपलब्ध हैं। पंचपरमेष्ठी आरती में ६, पार्श्वनाथ आरती में ६ और सुपार्श्वनाथ आरती में ७ पद्य हैं।[3] इनमें कारंजा और कांचनपुर के मन्दिरों का उल्लेख है। हिन्दी में आदिनाथ-आरती, पार्श्वनाथ-आरती, पद्मावती-आरती तथा कुछ छप्पयों की रचना भी यमासा ने की थी।

तानू पंडित

ये कारंजा के भट्टारक शान्तिसेन के शिष्य थे। अतः इनका समय सन् १७५१ से १७६८ के आसपास का है। इनकी पांच छोटी रचनाएं उपलब्ध हैं।[4] कचनेर के पार्श्वनाथ की स्तुति में ११ पद्य हैं। पद्मावती आरती में ५, क्षेत्रपाल आरती में ७, समवसरण आरती में ५ तथा पार्श्वनाथ आरती में ५ पद्य हैं। हिन्दी में गुरुस्तुति के कुछ पद्य भी इन्होंने लिखे थे।

---

१. यह हमारे हस्तलिखित संग्रह में है।

२. प्रा० म०, पृष्ठ ८८।

३. पहली आरती जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा सन् १९२६ में प्रकाशित आरती संग्रह में छपी है, शेष दो हमारे हस्तलिखित संग्रह में उपलब्ध हैं।

४ प्रा० म०, पृष्ठ ८८। प्रथम दो रचनाएं हमारे हस्तलिखित संग्रह में हैं। अन्तिम रचना जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा सन १९०४ में प्रकाशित आरती संग्रह में छपी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्याहाल

ये भी शान्तिसेन के शिष्य थे। गुरु की प्रशंसा में ७ पद्यों की एक आरती इन्होंने लिखी थी।[1]

रतन

इनकी चार छोटी रचनाएँ उपलब्ध हैं।[2] कारंजा के भट्टारक सिद्धसेन की आरती में १० पद्य हैं। यह संवत् १८२६ (सन् १७७०) में लिखी गई थी। जिनेश्वर आरती में ५, नेमिनाथ आरती में ६ तथा अंतरिक्ष पार्श्वनाथ आरती में ४ पद्य हैं। हिन्दी में रामटेक-शांतिनाथ विनती तथा चौवीस तीर्थंकर आरती ये दो रचनाएँ भी प्राप्त हैं।

दिनासा

ये बघेरवाल जाति के थे। इनकी दो छोटी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। शक १६९२ (सन् १७७०) में रचित बारामासी में १३ पद्य हैं। नेमिनाथ की मुनिदीक्षा से व्यथित राजमती के विरहोद्गार इसमें वर्णित हैं। दूसरी रचना ६ कडवकों का एक पद है जो वैराग्य की प्रेरणा देता है।[3]

वृषभ

ये कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। मराठी में इनके दो स्तोत्र प्राप्त हैं। चन्द्रप्रभ और पद्मावती के इन स्तोत्रों में नौ-नौ श्लोक हैं।[4] हिन्दी में रविव्रतकथा (दो संस्करण) एवं नववाडी तथा संस्कृत में निर्दोषसप्तमीव्रतोद्यापन ये वृषभ की अन्य रचनाएँ हैं जिनसे उनका समय सन् १७७२-७७ के आसपास निश्चित होता है।

देवेन्द्रकीर्तिशिष्य

जयसिंगनगर में शक १६९३ (सन् १७७२) में हुए पद्मावतीदेवी के

१-२. ये रचनाएँ हमारे हस्तलिखित संग्रह में हैं। इनमें से सिद्धसेन आरती का कुछ अंश हमारे 'भट्टारक संप्रदाय' (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५८) में प्रकाशित है (पृष्ठ २३)।

३. प्रा० म०, पृष्ठ ९१। सुषमा मासिक, नागपुर, अप्रैल १९६० में बारामासी प्रकाशित हुई है, सं० सुभाषचन्द्र अक्कोले।

४. गोपाळ गंगासा राऊळ, कारंजा द्वारा प्रकाशित अष्टकपूजासंग्रह में ये स्तोत्र छपे थे। प्रकाशनवर्ष मालूम नहीं हो सका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा-महोत्सव का वर्णन १८ कडवकों के पद्मावतीपाऊना नामक गीत में मिलता है। इसके रचयिता ने अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति बताया है किन्तु स्वयं अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है।[१]

अनन्तकीर्ति

ये चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना दशलक्षणव्रत-कथा में १८८ ओवी हैं। जयसिंगपेठ में शक १६९७ (सन् १७७५) में इसकी रचना हुई थी। भाद्रपद शुक्ल पंचमी से चतुर्दशी तक उत्तम क्षमा आदि दस धर्मांगों की पूजा की जाती है। इसी का माहात्म्य इस कथा में वर्णित है।[२]

जनार्दन

ये भी चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। वासिम के पास शर्करागाम में शक १६९७ (सन् १७७५) में इन्होंने श्रेणिकचरित्र की रचना की।[३] इस विस्तृत ग्रंथ में ४० अध्याय हैं। गुणदास के श्रेणिकचरित्र का यह परिवर्धित संस्करण कहा जा सकता है। नवरसपूर्ण कथा लिखने का संकल्प जनार्दन ने किया था और वह काफी हद तक अपने प्रयास में सफल रहे। मराठी जैन साहित्य में काव्य-गुणों की दृष्टि से इनकी रचना काफी ऊँचे स्तर की है।

भीमचन्द्र

इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना गुरु-आरती में ६ कडवक हैं। कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की प्रशंसा इस आरती में की गई है। भीमचन्द्र के हाथ की संवत् १८३७ (सन् १७८०) की लिखी एक पोथी उपलब्ध है, इसी के आसपास इनका समय समझना चाहिए।[४]

राघव

इन्होंने कारंजा के भट्टारक सिद्धसेन की स्तुति लिखी है। इसमें ६ पद्य हैं।[५] इनकी दूसरी रचना सेटिमाहात्म्य में ११ कडवक हैं। नागपुर के

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ११२। २. प्रा० म०, पृष्ठ ९३।

३. प्र० जिनदास चवडे, वर्धा, १९०४।

४. प्रा० म०, पृष्ठ ९६।

५. इसका कुछ अंश हमारे 'भट्टारक संप्रदाय' (पृष्ठ २७) में प्रकाशित है (जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर १९५८)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोसले-राजदरबार में सम्मानित सेठ वरधासाहजी ने सन् १७८८ में एक जिन-मन्दिर का निर्माण किया था। इस अवसर पर उनकी प्रशंसा में कवि ने यह सेटिमाहात्म्य लिखा था।[१] राघव की तीसरी रचना मुक्तागिरि-पार्श्वनाथ आरती में १७ कडवक हैं।[२] गुणकीर्तिकृत धर्मामृत के कुछ परिच्छेदों का पद्यमय रूपान्तर कर राघव ने पंचनमस्कारस्तुति और आदिनाथ पंचकल्याणिक स्तुति इन दो कविताओं की रचना की थी।[३] जिनस्तुति, गुरुस्तुति और वैराग्य-उपदेश के विषय में इनके २५ स्फुट पद भी उपलब्ध हैं। इन्होंने अपना नाम रघु और राघव लिखा है। इनकी कविताओं में सिद्धसेन के अतिरिक्त महतिसागर, पद्मकीर्ति, विशालकीर्ति, लक्ष्मीसेन आदि समकालीन धर्माचार्यों के आदरपूर्ण उल्लेख हैं।

कवीन्द्रसेवक

इनकी रचनाओं की एक हस्तलिखित प्रति सन् १८०९ में लिखी हुई मिली है, अतः इनका समय इससे पहले का है किन्तु कितना पहले है, यह मालूम नहीं हो सका। इनकी मुख्य रचना सुमतिप्रकाश में २३७२ ओवी हैं। दिल्ली-दरबार में बाद में विजय प्राप्त करनेवाले जैन आचार्यों की कथा इसमें वर्णित है।[४] इनके ५४५ अभंग[५] भी उपलब्ध हैं। इन स्फुट रचनाओं में जिनस्तुति, तीर्थवन्दना, गुरुस्तुति, धर्मोपदेश, दांभिक व्यवहार की आलोचना आदि विविध विषयों का भावपूर्ण वर्णन है।

---

१. युगवाणी मासिक, नागपुर, अगस्त १९५८ में प्रकाशित, सं० वि० जोहरापुरकर।

२. हमारे तीर्थवन्दनसंग्रह (पृ० १०५) में प्रकाशित (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, सन् १९६५)।

३. सन्मति, सितम्बर १९६३ में हमने इनका कुछ अंश प्रकाशित किया है।

४. प्रा० म०, पृष्ठ १११।

५. यह ओवी के समान मराठी में बहुप्रचलित छंद है, इसमें दो-दो या चार-चार पंक्तियों के कुछ पद्य होते हैं, दो-दो पंक्तियों के पद्यों में अन्त्ययमक का प्रयोग होता है, चार पंक्तियों के पद्यों में प्रायः दूसरी और तीसरी पंक्ति में अन्त्ययमक होता है। 'कवीन्द्रसेवकाचे अभंग' यह लगभग २०० अभंगों का संकलन श्री हीराचन्द दोशी, शोलापुर, ने १९२२ में प्रकाशित किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोप

इनकी एक छोटी सी रचना तीर्थंकर भूपाली प्राप्त है। प्रातःकाल जिन-नाम स्मरण करने के लिए रचा हुआ यह गीत १६ पद्यों का है। लेखक के गुरु का नाम दयालकीर्ति था। इनकी रचना सन् १८०९ के हस्तलिखित में मिली है अतः इससे पहले इनका समय निश्चित है, किन्तु कितने पहले यह मालूम नहीं हो सका।[1]

महतिसागर

इनका जन्म सैतवाल जाति में हुआ था। ये कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। सन् १७७२ के आसपास इनका जन्म-समय अनुमानित है। लगभग ४० वर्ष की आयु तक विदर्भ में इन्होंने निवास किया तथा काफी साहित्य रचना की। फिर दक्षिण महाराष्ट्र के हुमड-गुजर समाज के श्रावकों में धर्म प्रसार करते हुए इन्हें काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। सन् १८३२ में दहिगांव में इनका स्वर्गवास हुआ था। रिद्धपुर में सन् १८०१ में रचित २९ श्लोकों की रविव्रतकथा इनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। बालापुर में सन् १८१० में १४७ श्लोकों में आदिनाथ पंचकल्याणककथा की रचना इन्होंने की थी। दशलक्षणव्रतकथा (९४ पद्य), षोडशकारणव्रतकथा (५२ पद्य) व रत्नत्रयव्रतकथा (३८ पद्य)। इनमें महतिसागर ने समय और स्थान का उल्लेख नहीं किया है। इन व्रतकथाओं की अपेक्षा महतिसागर की स्फुट रचनाएँ–अभंग और पद–अधिक भावपूर्ण और महत्त्व की हैं। तीर्थंकरस्तुति, पंचपरमेष्ठीस्तुति, दानप्रशंसा आदि विषयों पर लगभग २०० अभंग हैं। संबोधसहस्रपदी में विविध धार्मिक विषयों पर उपदेशप्रद एक हजार पद लिखने का संकल्प महतिसागर ने किया था, किन्तु ६४ पदों की रचना के बाद उनका स्वर्गवास होने से यह कार्य अधूरा रहा। अरहंत, पार्श्व-नाथ, चन्द्रप्रभ, पंचपरमेष्ठी; गुरु देवेन्द्रकीर्ति तथा देवी ज्वालामालिनी की आरतियाँ इन्होंने लिखी हैं, इनकी सम्मिलित पद्य संख्या ५० है। गुरु देवेन्द्र-कीर्ति के जीवन का परिचय देते हुए १० पद्यों की एक लावणी की रचना भी इन्होंने की है। संस्कृत में अरहंतपूजा और ज्वालामालिनीपूजा ये इनकी रचनाएँ भी प्राप्त हैं। महतिसागर की रचनाएँ सरल-सुबोध भाषा और

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ ११२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गायन अनुकूल शब्द योजना के कारण मराठी जैन समाज में बहुत लोकप्रिय हुई हैं।[1]

दयासागर (द्वितीय)

इनकी एकमात्र रचना हनुमानपुराण शक १७३५ (सन् १८१३) में पूर्ण हुई थी। ब्रह्मजिनदास के हनुमंतरास के आधार पर यह सात अध्यायों का पुराण लिखा गया है, ऐसा प्रशस्ति में कहा गया है। अंजना-पवनंजय की प्रेम और विरह की कथा तथा राम-रावण युद्ध में वीर हनुमान के पराक्रमों का कवि ने रोचक भाषा में वर्णन किया है।[2]

रत्नकीर्ति

ये कारंजा के भट्टारक सिद्धसेन के शिष्य थे। अमरावती नगर में संवत् १८६९ (सन् १८१३) में ४० अध्यायों के विस्तृत उपदेशरत्नमाला ग्रन्थ की रचना इन्होंने की थी। सकलभूषण की संस्कृत रचना का यह विविध वृत्तों में तथा विविध दृष्टान्तों द्वारा सुशोभित किया गया मराठी रूपान्तर है। श्रावकों के छह कर्तव्यों—देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप व दान—का उपदेश इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में मिलता है।[3]

रत्नकीर्ति की दूसरी विस्तृत कृति आराधना कथाकोश है।[4] नेमिदत्त की संस्कृत रचना का यह रूपान्तर ५२ अध्यायों में पूर्ण हुआ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना करनेवाले पुराणपुरुषों की १२० कथाएँ इसमें वर्णित हैं। रत्नकीर्ति इसके २७ अध्याय लिख पाये। शेष भाग उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति ने शक १७४३ (सन् १८२१) में धाराशिव (उस्मानाबाद) में पूर्ण किया था।

---

१. महतिकाव्यकुंज नाम से इन सब रचनाओं का संग्रह वीरचंद कोदर जी गांधी, फलटण ने सन् १९३५ में प्रकाशित किया था। इसके पहले सन् १९०३ में जिनदास चवड़े, वर्धा, सन् १९२२ में सखाराम नेमचंद दोशी, सोलापुर तथा सन् १९२८ में नाना रामचंद नाग, फलटण ने कुछ अभंग व पदों की छोटी पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

२. प्र० जयचन्द्र श्रावणे, वर्धा, प्रकाशनवर्ष मालूम नहीं हो सका।

३. भट्टारक लक्ष्मीसेनस्वामी, कोल्हापुर, द्वारा सन् १९६५ में प्रकाशित।

४, अमरावती में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चन्द्रकीर्ति

इनकी तीन छोटी रचनाएँ प्राप्त हैं।[1] सम्मेदशिखरमाहात्म्य ६४ श्लोकों का है तथा पद्मावती शृंगार वर्णन २४ कडवकों का। पहली रचना शक १७३७ (सन् १८१५) में और दूसरी इसके अगले वर्ष में पूर्ण हुई थी। इन दोनों में कवि के गुरु का नामोल्लेख नहीं है। फिर भी सम्भवतः ये वही चन्द्रकीर्ति हैं जो रत्नकीर्ति के शिष्य थे। इनकी एक अन्य रचना रविव्रतकथा में १७४ ओवी हैं। इसकी प्रशस्ति के अनुसार इनका पहला नाम अन्ताजी पन्त अवधूत था। कारंजा में ये रत्नकीर्ति के शिष्य हुए थे तथा बाद में विशालकीर्ति गुरु ने इन्हें मंडलाचार्य का पद दिया था।[2]

नागेन्द्रकीर्ति

ये लातूर के भट्टारक पद पर थे। इनके दस स्फुट पद प्राप्त हैं। दो पदों में चन्द्रकीर्ति का और दो में विशालकीर्ति का गुरु-रूप में उल्लेख है। एक पद में रामक्षेत्र (रामटेक) के शान्तिनाथ की और एक में देउलघाट के चन्द्रप्रभ की स्तुति है। सभी पद जिनभक्ति, गुरुभक्ति और वैराग्य-भाव से परिपूर्ण हैं।[3] इनका समय उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध—सन् १८२५ के आस पास का है।

दिलसुख

ये कारंजा के भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। इससे इनका समय सन् १७९३ से १८२३ के आसपास निश्चित होता है। इनका स्वात्मविचार नामक गद्य ग्रन्थ उपलब्ध है।[4] संस्कृत तर्क-ग्रंथों की शैली में आत्मा सम्बन्धी विविध दर्शनों के विचारों की इसमें समीक्षा की गई है। पुरानी मराठी में तर्कशास्त्र का विस्तृत विवेचन इसी एक ग्रन्थ में मिलता है।

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ १०२।

२. इसकी हस्तलिखित प्रति अचलपुर में उपलब्ध हुई।

३. इसकी एक जीर्ण पोथी हमारे संग्रह में है। जिनपद्यरत्नावली नामक छोटी-सी पुस्तक में इनके कुछ पद छपे भी थे। किन्तु इसके प्रकाशक आदि का विवरण हमें नहीं मिल सका।

४. प्रा० म०, पृष्ठ १०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणिक

ये भी भ० पद्मनन्दि के शिष्य थे। इनकी तीन छोटी रचनाएँ उपलब्ध हैं—गुरु-आरती, नवग्रह आरती तथा देवी पद्मावती लावणी। इन तीनों की पद्य-संख्या ५-५ है।[1]

जिनसेन

ये कोल्हापुर के भट्टारक थे। मराठी में इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जम्बूस्वामीपुराण[2] में ११ अध्याय हैं। संस्कृत में सकलकीर्ति द्वारा रचित ग्रन्थ के आधार पर जम्बूस्वामी की कथा इसमें सुन्दर शब्दों में वर्णित है। सकलभूषण की संस्कृत रचना के आधार पर उपदेश रत्नमाला नामक दूसरा विस्तृत ग्रन्थ जिनसेन ने शक १७४३ (सन् १८२१) में लिखा।[3] श्रावकों के छह कर्मों का अच्छा वर्णन इसमें है। इनका तीसरा ग्रंथ पुण्यास्रव कथाकोश शक १७५१ में पूर्ण हुआ था। इसमें नागकुमार, सुकुमार, चारुदत्त, भविष्यदत्त आदि की ७९ कथाएँ विस्तार से ग्रथित हैं। यह ग्रंथ एक कन्नड रचना के आधार पर लिखा गया था।[4]

लक्ष्मीसेनशिष्य

कारंजा के सेनगण के भट्टारक पद पर शक १७५४ (सन् १८३२) में लक्ष्मीसेन बैठे थे। इस समारोह का वर्णन उनके एक शिष्य ने ५ कडवकों के एक गीत में किया है।[5] इस कवि ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है।

ठकाप्पा

इनका एक मात्र ग्रन्थ पांडवपुराण शक १७७२ (सन् १८५०) में

---

१. 'देवीची लावणी' यह गीत जिनदास चवडे, वर्धा, द्वारा सन् १९१३ में प्रकाशित पद्मावतीचो गाणी इन पुस्तक में मिला, शेष दो हमारे हस्त-लिखित संग्रह में हैं।

२. प्र० कल्लाप्पा उपाध्याय, नान्दणी (कोल्हापुर), वर्ष मालूम नहीं हो सका।

३. प्र० कल्लाप्पा निटवे, कोल्हापुर, सन् १८९८।

४. प्रा० म०, पृष्ठ १०५।

५. यह गीत हमने अनेकान्त द्वैमासिक, दिल्ली, के वर्ष १८ (पृ० २२३) में प्रकाशित किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोल्हापुर के समीप कोगनोली नगर में लिखा गया था।[1] नागराज की कन्नड कृति का यह रूपान्तर ३२ अध्यायों में पूर्ण हुआ है। गिरिआप्पा के पुत्र होने के नाते कवि ने अपना नाम गिरिसुत भी लिखा है। ये कोल्हापुर के भट्टारक जिनसेन के शिष्य थे।

तुकुजी

इनकी ५ कडवकों की एक छोटी-सी रचना कोतको उपलब्ध है। यह देवी पद्मावती की प्रार्थना का गीत है। कवि ने अपनी जाति का उल्लेख 'सोमवंश' इस शब्द से किया है। इनके समय का निश्चय नहीं हो पाया है।[2]

राया

इनकी लिखी कुछ आरतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें बालकुड के पार्श्वनाथ, यादगिरी के माणिकस्वामी, वडगांव के शान्तिनाथ, सीतानगर के शान्तिनाथ, जेउरगी के क्षेत्रपाल तथा गोम्मटस्वामी (श्रवणबेलगोल) की स्तुति है। इनकी कुल पद्यसंख्या २० है। राया के समय का निश्चय नहीं हो पाया है।[3]

कुछ अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ

ज्ञानोदय नामक ९९ ओवी का एक प्रकरण उपलब्ध है। आत्मज्ञान की प्राप्ति का इसमें विवेचन है। इसके लेखक ने गुरु का नाम शक्रकीर्ति बताया है, किन्तु स्वयं अपना कोई परिचय नहीं दिया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार की अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति टीका का मराठी रूपान्तर उपलब्ध है। इसके कर्ता के विषय में कोई जानकारी नहीं मिल सकी है।[4]

समन्तभद्राचार्य के रत्नकरण्ड श्रावकाचार की मराठी टीका भी उपलब्ध है। इसकी भाषाशैली गुणकीर्ति के धर्मामृत जैसी है। इसके रचयिता का भी कोई परिचय नहीं मिल सका है।[5]

---

१. प्रा० म०, पृष्ठ १०८, यह ग्रन्थ छप चुका है, किन्तु इसके प्रकाशक आदि का विवरण नहीं मिल सका।

२-३. प्रा० म०, पृष्ठ ११०,१११।

४. प्रा० म०, पृष्ठ ११२।

५. यह टीका सन्मति मासिक में सन् १९६५ में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई है, सं० सुभाषचन्द्र अक्कोले।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. वर्तमानकालीन मराठी जैन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ

सेठ हिराचंद नेमचंद दोशी (१८५६–१९३६)

मराठी साहित्य-रचना का प्रारम्भ गुजराती विद्वानों द्वारा हुआ, यह ऊपर बता चुके हैं। आधुनिक मराठी साहित्य के प्रमुख उन्नायक भी गुजरात से महाराष्ट्र में आकर स्थायी रूप में बसने वाले हुमड-गुजर जाति के श्रावक थे। इनमें सोलापुर के दोशी परिवार का स्थान प्रमुख है। संपत्ति और विद्या का दुर्लभ संगम इस परिवार में दीर्घकाल बना रहा और इसके फल-स्वरूप मराठी जैन साहित्य की काफी वृद्धि हुई। सेठ हिराचंद नेमचंद इस परिवार के प्रमुख थे।[1] सन् १८८४ में इन्होंने जैनबोधक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। मराठी जैन समाज को जागृत करने में इस पत्र का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। समाज के समाचार, पुराने तीर्थों और ग्रन्थों का परिचय, रूढ़ियों में आवश्यक सुधार की प्रेरणा आदि विषयों पर विस्तृत लेख इस मासिक पत्र में प्रकाशित हुए। सेठजी ने तेरह वर्ष तक इसका सम्पादन और प्रकाशन किया। सन् १९०१ में सोलापुर के यूनियन क्लब में सेठजी ने जैनधर्म के मूलतत्त्वों पर भाषण दिया था, जो 'जैनधर्माची माहिती' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। सन् १९२३ से १९२८ तक सम्यक्त्ववर्धक नामक पत्रिका का प्रकाशन सेठजी ने किया। सामाजिक रूढ़ियों में सुधार की प्रेरणा देना इस पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य था। इसी दृष्टि से शासनदेवतापूजनचर्चा, अशौचनिर्णयचर्चा, निर्माल्यद्रव्यचर्चा, नवधाभक्तिचर्चा ये पुस्तकें भी इन्होंने सम्पादित और प्रकाशित कीं। समन्तभद्राचार्य के रत्नकरंडश्रावकाचार का मराठी और हिन्दी अनुवाद सहित पाकेटबुक जैसा संस्करण, अमृतचन्द्राचार्य के तत्त्वार्थसार के चतुर्थ अध्याय पर आधारित 'पापपुण्याची कारणे', सरल कथाओं

---

१. दीनानाथ बापूजी मंगुडकर द्वारा लिखित विस्तृत जीवनचरित में सेठजी और उनके परिवार के कार्यों का परिचय मिलता है। यह पुस्तक सेठजी के सुपुत्र रतनचन्द हिराचंद ने सन् १९६७ में प्रकाशित की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के रूप में प्रकाशित पार्श्वनाथचरित्र तथा महावीरचरित्र एवं षोडशकारण-भावना आदि उपदेशप्रद निबन्धसंग्रह सेठजी की अन्य पुस्तकें हैं।

चवडे बन्धु

पुराने मराठी जैन साहित्य के प्रकाशक के रूप में श्री जिनदास नारायण चवडे, वर्धा, का कई बार उल्लेख कर चुके हैं। इनके दो बन्धु नेमचन्द चवडे और गणपतराव चवडे ने आधुनिक मराठी में अच्छी रचनाएँ लिखी हैं। जैन धर्मामृतसार, जैन व्रतकथा संग्रह तथा संगीत निर्वाणक्षेत्रपूजा ये तीन रचनाएँ सन् १८९४ में नेमचन्द चवडे ने लिखी और प्रकाशित कीं। 'संगीत सुशील मनोरमा' नाटक सन् १९०२ में प्रकाशित हुआ। जैन भजनामृत संगीत पद (१९१०), संगीत जैन कीर्तनावली (१९१८) तथा सीताशील माहात्म्य व लवांकुश चरित्र (१९२५) ये इनकी अन्य कृतियां हैं। गणपतराव चवडे ने संगीत गर्वपरिहार नाटक (१९०७) तथा हनुमानचरित्र (१९१२) ये पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने जैनबन्धु मासिक पत्र (प्रारम्भ सन् १९०८) भी कुछ वर्ष सम्पादित किया था।

कृष्णाजी नारायण जोशी

बेलगांव के इस विद्वान् द्वारा सन् १८९७-९८ में अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, नेमिचन्द्राचार्यकृत द्रव्यसंग्रह, हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य (प्रथम तीन सर्ग), भट्टारक सकलकीर्ति सुभाषितावली, मल्लिषेणाचार्यकृत सज्जनचित्तवल्लभ तथा समन्तभद्राचार्यकृत जिनचतुर्विंशति (स्वयम्भू) स्तोत्र इन छह ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद हुआ था। बालचन्द कस्तूरचन्द गान्धी, धाराशिव ने ये पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

नाना रामचन्द्र नाग

फलटण के इस ब्राह्मण विद्वान् ने ब्रह्मचारी हिराचन्द अमोलिक के उपदेश से जैनधर्म स्वीकार किया था। सन् १८९५ में इन्होंने हिराचन्द विरचित पदों का एक संग्रह प्रकाशित किया,[1] इसमें लगभग १०० पद हिन्दी के

---

१. हिराचन्द अमोलिक (१८३९-१८९२) ने नलचरित्र, पंचपूजा तथा जैन रामायण ये पुस्तकें भी लिखी थीं ऐसा वर्णन मिलता है किन्तु ये पुस्तकें हमारे अवलोकन में नहीं आ सकीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और १२ मराठी के हैं। तत्त्वार्थसूत्र (१९०५), प्रतिक्रमण (१९१३) तथा षट्पाहुड (१९२८) इन ग्रन्थों के अनुवाद तथा भारती सचित्र बालबोध छात्रोपयोगी पाठ्य पुस्तक के दो भाग ये नाग महोदय की प्रकाशित पुस्तकें हैं।

कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे

ये कोल्हापुर के जैनेन्द्र मुद्रणालय के संचालक थे। सन् १८९८ में इन्होंने जैनबोधक का सम्पादक पद स्वीकार किया तथा लगभग १८ वर्ष तक इस मासिक पत्र के माध्यम से कई महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों का मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। समन्तभद्राचार्यकृत आप्तमीमांसा, कुन्दकुन्दाचार्यकृत पंचास्तिकाय तथा रयणसार, अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार, सोमसेनभट्टारककृत त्रैवर्णिकाचार, अज्ञातकर्तृक सम्यक्त्वकौमुदी, पण्डित आशाधरकृत सागार-धर्मामृत तथा जिनसेनाचार्यकृत महापुराण ये आपके द्वारा रूपान्तरित ग्रन्थ हैं। श्रावकों के नित्यकर्म-पूजा आदि का वर्णन क्रियामंजरी पुस्तक में आपने संकलित किया था।

तात्या नेमिनाथ पांगळ

ये बार्शी के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। इनके पितामह अनन्तराज ने मराठी में कई भक्तिपूर्ण पदों की रचना की थी। रत्नत्रयमार्गप्रदीप (१९०५) पुस्तक में उनके पुत्र ने ये पद संकलित किये थे। तात्यासाहब ने पितामह की इस परम्परा को कायम रखा। पंचकल्याणिक तथा सती अनन्तमती (१९०६) इनकी प्रारम्भिक काव्य रचनाएँ हैं। कुन्दकुन्दाचार्यचरित्र में आपने भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की पाँच शताब्दियों का जैन समाज का इतिहास संकलित किया था (१९०७)। वन्दे जिनवरम् (प्रारम्भ १९०८) मासिक पत्र का सम्पादन आपने कई वर्ष तक किया। सामाजिक प्रगति और ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि के लिए उपयोगी महत्त्वपूर्ण लेख इस पत्र में प्रकाशित हुए थे। तीर्थंकरचरित्र (१९०९) में गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण का संक्षिप्त रूपान्तर आपने प्रस्तुत किया था। पूना की वसन्तव्याख्यानमाला में दिये हुए आपके भाषण को 'जैनधर्म' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया था (१९२१)। इसी पुस्तक में लोकमान्य तिलक का जैनधर्म विषयक भाषण भी संकलित है।

जीवराज गौतमचन्द दोशी

सोलापुर के दोशी परिवार के साहित्यानुरागी श्रीमानों में सेठ हिराचन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बाद आपका स्थान प्रमुख है।[1] जैनबोधक का सम्पादन कार्य आपने लगभग पांच वर्ष तक किया (१९१४-१८)। इसके पहले तत्त्वार्थसूत्र और आत्मानुशासन ग्रन्थों का मराठी अनुवाद आप कर चुके थे। पंडित गोपाल दास बरैया की जैन सिद्धान्त प्रवेशिका और सार्वधर्म तथा पंडित जुगलकिशोर मुख्तारकृत ग्रन्थपरीक्षा पुस्तकों का भी मराठी अनुवाद आपने किया। पूना के विष्णुशास्त्री बापट ने जैन दर्शनसार नामक पुस्तक लिखी थी। इसमें की गई आलोचना का पण्डित वंशीधर ने हिन्दी में उत्तर दिया जिसे आपने मराठी में रूपान्तरित किया (१९१८)। आचार्य शान्तिसागरचरित (१९२४), जाति की मीमांसा (१९२५), पंडित सदासुखकृत रत्नकरण्डवचनिका का अनुवाद (१९५४), पंडित पन्नालालकृत महापुराण की आलोचना की समीक्षा (१९५४) तथा भगवान् नेमिनाथ (१९५८) यह सरल कथारूप पुस्तक— ये आपकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

दत्तात्रय भिमाजी रणदिवे

मिरजगांव (जि० अहमदनगर) के इस कवि ने अल्प आयु में ही काव्य और उपन्यास लेखन में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की थी।[2] कुलभूषण-देशभूषणचरित (१९०९), नीलीचरित (१९१५), गजकुमारचरित (१९४९) जयकुमार-सुलोचना, सीताशीलपरीक्षा इन प्राचीन कथाओं के आधुनिक काव्य-मय रूपान्तरों के अतिरिक्त जिनगुणालाप (१९१३) यह भक्तिपूर्ण पदसंग्रह तथा रत्नकरण्ड का पद्य रूपान्तर (१९१९) भी आप ने लिखा था। विभिन्न मासिक पत्रिकाओं में आपकी ६४ भावपूर्ण कविताएँ समय समय पर प्रकाशित हुईं। सुमति और जैन वाग्विलास इन मासिक पत्रों का सम्पादन भी आपने कुछ समय तक किया था। रूपिणी नामक आपका उपन्यास श्रेणिक की पौराणिक कथा पर आधारित था। अञ्जनासुन्दरी उपन्यास भी अन्जना-पवनंजय की पुराणप्रसिद्ध कथा का आधुनिक रूपान्तर था। जैन कथाओं के अतिरिक्त सर्व-

---

१. दोशीजी ने अपनी समस्त सम्पत्ति (लगभग तीन लाख रुपये) प्रदान कर जैन संस्कृति संरक्षक संघ की स्थापना की। इस संघ द्वारा संचालित जीवराज जैन ग्रन्थमाला में संस्कृत-प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और कन्नड में ५० से अधिक ग्रन्थ छपे हैं।

२. इनकी कविता का संग्रह इनके सुपुत्र ने १९३१ व १९४९ में दो खंडों में प्रकाशित किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जनोपयोगी ललित कथाओं की रचना भी आपने विस्तृत रूप में की थी—चन्द्रकान्ता, जटाशंकर, नयनतारा, नगरतारका, मनोरमा आदि २५ उपन्यास आपने लिखे थे। समय-समय पर जैन-जैनेतर पत्रों में आपके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए। इनमें समाज-सुधार के लिए प्रगतिशील विचारों का भावपूर्ण प्रतिपादन किया गया था। जैनेतर पत्रिकाओं में जिनकी रचनाएँ छपीं ऐसे जैन लेखकों में आप पहले प्रमुख लेखक थे।

रावजी नेमचन्द शहा

ये सोलापुर के प्रतिष्ठित वकील और साहित्यकार थे। जैनधर्मादर्श (१९१०) इनकी पहली रचना थी। इसमें प्रौढ़ किन्तु सुबोध शैली में जैन धर्म के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ तथा आचार्य पूज्यपाद का समाधिशतक इन दो ग्रन्थों की विशद विवेचन सहित मराठी टीकाएँ आपने लिखीं (१९१२)। जिनसेनाचार्य व गुणभद्राचार्य चरित (१९१५) और इन आचार्यों की प्रसिद्ध रचना का सरल मराठी रूपान्तर महापुराणामृत (१९१५) ये आपकी सरस रचनाएँ हैं। पूज्यपादाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य के चरित भी आपने लिखे हैं। जैन-जैनेतर पत्रों में समय-समय पर आपके विद्वत्तापूर्ण कई लेख प्रकाशित हुए। सामाजिक और साहित्यिक कार्यों में एक प्रगतिशील नेता के रूप में आप प्रसिद्ध थे। जैन धर्म विषयक आक्षेपों का निरसन (१९३८) तथा तीर्थंकरों की प्राचीनता (१९५०) नामक आप की उत्तरकालीन कृतियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

तात्या केशव चोपडे

भिलवडी के ये विद्वान् अच्छे संगीतज्ञ थे। महाराष्ट्र के जैन समाज में कीर्तनकार के रूप में आपने काफी कीर्ति पाई। जैनभजनामृत पद्यावली (१९११) नामक आपकी पहली रचना संगीत के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त है। पूजा व सद्यःस्थिति (१९२४), जगदुद्धारक जैनधर्म (१९३८), जैन व हिन्दू (१९४४), पंढरपुर का विठोवा (१९४७) इन पुस्तकों द्वारा आपने जैन समाज की अस्मिता जागृत कर प्रगति का मार्ग दिखाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया था।

रावजी सखाराम दोशी

आप सोलापुर के दोशी परिवार के तीसरे उज्ज्वल रत्न थे। आचार्य इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतार (१९१२) तथा पंडित दौलतरामकृत छहढाला (१९१३) के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी रूपान्तर आपकी प्रारम्भिक कृतियाँ थीं। छात्रों के लिए उपयोगी पाठ्य पुस्तकों के रूप में बालबोध जैन धर्म के चार भागों का आपने संपादन और प्रकाशन किया। महाराष्ट्र में जैन धर्म के ज्ञान के प्रसार में इन पुस्तकों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। जैनकथासंग्रह (१९३०) तथा जैन कीर्तन-तरंगिणी (१९३१) आपकी अन्य मराठी कृतियाँ हैं। रावसाहब ने लगभग २० वर्ष तक मासिक जैन बोधक का सम्पादन किया। इन वर्षों के इस पत्र के कई विशेषांक पुस्तकों जैसे ही संग्रहणीय हैं। कथा, कविता, इतिहास आदि विविध रूपों की बहुमूल्य सामग्री इन अंकों में उपलब्ध है। अपने समय के कई तरुण साहित्यिकों की कृतियाँ प्रकाशित करने के लिए रावसाहब ने हजारों रुपये व्यय किये। मराठी जैन साहित्य की प्रगति में उनका यह योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता।

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले

आप सोलापुर के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। गद्य और पद्य पर आपका समान अधिकार है। प्राचीन संस्कृत-प्राकृत साहित्य को मराठी में रूपान्तरित करने में आप निरन्तर प्रयत्नशील रहे। आपकी प्रकाशित कृतियों में निम्नलिखित ग्रन्थों के अनुवाद प्रमुख हैं—समन्तभद्राचार्यकृत स्वयम्भूस्तोत्र (१९२०), आचार्य पात्रकेसरीकृत जिनेन्द्रगुणसंस्तुति तथा आचार्य विद्यानन्दकृत श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र (१९२०), कुन्दकुन्दाचार्य तथा पूज्यपादाचार्यकृत दशभक्ति (१९२१), शिवकोट्याचार्यकृत रत्नमाला (१९२१), सोमदेवसूरिकृत द्वादशानुप्रेक्षा (१९२३), आचार्य अमितगतिकृत तत्त्वभावना (१९२४), देव-सेन आचार्यकृत भावसंग्रह (१९२७), मल्लिषेण आचार्यकृत नागकुमारचरित (१९२७), सकलकीर्ति भट्टारक विरचित सुदर्शनचरित (१९२७) तथा श्रीपालचरित (१९६३), असग कविकृत वर्धमानचरित (१९३१), कुन्थु-सागर मुनि विरचित बोधामृतसार (१९३८), पूज्यपाद आचार्यकृत दशभक्ति (१९५२) तथा नेमिदत्त पंडितकृत रात्रिभोजनत्यागकथा (१९५६)। आपकी सबसे विस्तृत और महत्त्वपूर्ण रचना जैन रामायण (१९६५) रविषेणाचार्य के पद्मपुराण का पद्यबद्ध रूपान्तर है। आपने पाण्डवपुराण, सिद्धान्तसारसंग्रह आदि ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद भी किया है। जैन बोधक को साहित्यिक रूप प्रदान करने में आपकी कविताओं और लेखों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। आधुनिक युग में आप जैसे निरन्तर साहित्य-साधना करनेवाले ऋजुप्रकृति के विद्वान् दुर्लभ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंकुबाई

आधुनिक युग में कुछ महिलाओं ने भी साहित्यरचना में यश प्राप्त किया। इनमें सेठ हिराचन्द नेमचन्द की सुपुत्री कुंकुबाई का स्थान पहला है। अल्प आयु में वैधव्य प्राप्त होने पर इन्होंने अपना सारा जीवन धर्म और साहित्य की सेवा तथा जैन महिला-समाज में ज्ञान-प्रसार के लिए अर्पित कर दिया। चारित्रशुद्धिव्रतकथा तथा जैनव्रतकथासंग्रह (१९२१), देवसेनाचार्यकृत तत्त्वसार तथा अमृतचन्द्राचार्य कृत समयसारटीका के श्लोक (जो समयसार-कलश के नाम से प्रसिद्ध हैं) का अनुवाद (१९२३) एवं पद्मनन्दि आचार्य कृत अनित्यपंचाशत् का अनुवाद (१९२५) आपकी प्रकाशित रचनाएं हैं।[1]

आचार्य श्री आनन्दऋषि जी

सद्धर्मबोध (अमोलक ऋषि जी) का मराठी अनुवाद (१९२४) इनकी प्रथम रचना है। नागपुर की रत्नग्रंथमाला में आपकी अन्य कृतियाँ प्रकाशित हुईं जो इस प्रकार हैं—जैन धर्म के विषय में अजैन विद्वानों के अभिप्राय तथा जैन धर्म की विशेषता (१९२८), जैन-धर्म का अहिंसा तत्त्व (जिनविजय) का अनुवाद तथा उपदेशरत्नकोश (जिनेश्वरसूरि) का अनुवाद (१९२९)।

मोतीचन्द हिराचन्द गांधी

उस्मानाबाद के ये प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। गद्य और पद्य दोनों में इन का समान अधिकार है। कई प्राचीन प्राकृत और संस्कृत रचनाओं को मराठी में रूपान्तरित कर आपने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी प्रमुख रूपान्तरित रचनाएँ इस प्रकार हैं—मुनि सुन्दरसूरिकृत साधुशिक्षा (१९२६), हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश (१९३६), पण्डित आशाधरकृत त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (१९३७), तमिलवेद रूप में प्रसिद्ध कुरल काव्य (१९३७), पंच संग्रह (पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश व समाधिशतक, योगीन्दुदेव कृत योगसार व परमात्मप्रकाश तथा सोमप्रभसूरिकृत सूक्तिमुक्तावली) (१९५१), पण्डित अर्हद्दासकृत मुनिसुव्रतकाव्य (१९५८), वादीभसिंहसूरिकृत क्षत्रचूडामणि (१९५८) तथा सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा (१९६२)। कुन्दः कुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थों का पद्यबद्ध रूपान्तर आपके ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द

---

१ महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा में आपकी स्मृति में कुंकुबाई धार्मिक पाठ्य पुस्तक माला स्थापित की गई। इसमें अब तक दस पुस्तकों के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में प्रकाशित हुआ है। महावीरचरित्र (१९३१) तथा तीर्थवन्दना ये आपकी विस्तृत पुस्तकें भी पठनीय हैं। आपने 'अज्ञात' उपनाम से साहित्य-रचना की है।

बाबगौंडा भुजगौंडा पाटील

बेळगांव-सांगली विभाग में दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा के नेताओं में आप प्रमुख थे। सभा के मुखपत्र प्रगति आणि जिनविजय का आपने कुछ वर्ष सम्पादन किया। ऐतिहासिक जैन वीर (१९३४) तथा दक्षिण भारत व जैनधर्म (१९३८) आपके ये ग्रन्थ मराठी समाज को जैन इतिहास का परिचय कराने में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। रत्नकरण्ड का आप का संस्करण (१९४३) अनुवाद के साथ मौलिक विवेचन से भी अलंकृत है। अहिंसा (१९४६) तथा महावीरवाणी (१९५६) आपकी अन्य रचनाएँ हैं।

आप्पा भाऊ मगदूम

सांगली की वीर ग्रन्थमाला के संचालक के रूप में आपने जैन समाज में इतिहास की अभिरुचि उत्पन्न करने में प्रशंसनीय योग दिया। नेमिसागरचरित (१९३४); सप्त सम्राट (१९३६), जैन वीर स्त्रियाँ (१९३६), चौदा रत्ने (आचार्य-जीवन-परिचय) (१९४१) तथा वनराज (१९४५) ये आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

शान्तिनाथ यशवंत नान्द्रे

आपने सेठ रावजी सखाराम दोशी तथा आचार्य शान्तिसागर के जीवन-चरित लिखे थे। कथाकौमुदी (१९३६) में सम्यक्त्व के पालन के कथारूप उदाहरण आपने सरल भाषा में अंकित किये थे। जम्बूकुमार की विरक्ति (१९५९) तथा सती चम्पावती (१९६३) आपकी अन्य सरल कथा-रूप पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

सुमेर जैन

सोलापुर गुरुकुल से (और बाद में बाहुबली गुरुकुल से) प्रकाशित मासिक पत्र सन्मति के सम्पादन में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। गम्भीर और ललित दोनों शैलियों पर इनका अधिकार है। जटायु नामक निबन्ध संग्रह में इनके विचारोत्तेजक और मनोरंजक लेख संकलित हुए हैं। वर्धमान महावीर (१९५८), सम्राट करकंडु (१९६४), अमर कथा (१९७०) ये प्राचीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथाओं के आधुनिक सरस रूपान्तर इन्होंने लिखे हैं। हिन्दी-मराठी और मराठी-हिन्दी अमर कोश तथा सचित्र बाल विश्वकोश जैसी सर्वजनोपयोगी पुस्तकों का सम्पादन भी आपने किया है।

सुभाषचन्द्र अक्कोळे

सोलापुर की जीवराज ग्रन्थमाला के कार्यवाहक के रूप में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। प्राचीन मराठी जैन साहित्य के विषय में आपके शोधकार्य का पहले उल्लेख कर चुके हैं। जसोधररास, परमहंसकथा, श्रेणिकचरित्र आदि प्राचीन रचनाओं के संपादन के अतिरिक्त महामानव सुदर्शन (१९५५), पाण्डवकथा (१९५६), सम्यक्त्वकौमुदी (१९५७), चक्रवर्ती सुभौम (१९६१) ये प्राचीन संस्कृत कथाओं के आधुनिक मराठी सरल रूपान्तर भी आपने लिखे हैं। सोलापुर-बाहुबली के मासिक सन्मति के सम्पादन में भी आपने कई वर्षों तक भाग लिया था। आप बारामती के तुलजाराम चतुरचंद महाविद्यालय के प्राचार्य रहे हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

अब तक जिन लेखकों की पाँच या अधिक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनका उल्लेख किया गया है। शेष रचनाओं में विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कुछ रचनाओं का अब समयक्रम से उल्लेख करेंगे।

कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (कालुरामजी) के लगभग २०० हिन्दी पदों का मराठी अनुवाद सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ था, इसमें अनुवादक का उपनाम अनाथ बताया गया है। मूल पदों के समान ही यह अनुवाद सरस है।

फुलचन्द काळुसकर, कोल्हापुर, के भक्तिपूर्ण पदों का संग्रह जिनपद्यरत्नमाला १८९६ में प्रकाशित हुआ था।

ब्रह्मचारी जीतमल की रचना जिनसत्यनारायणपूजा वर्धा से १९०४ में प्रकाशित हुई थी। जैन समाज को हिन्दू पूजाविधि से छुटकारा दिलाने में इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

आर० आर० वोबडे, अकोला, द्वारा सम्पादित जैन पुरोहित (१९१०) तथा जिनाचार-विधि (१९११) नामक पुस्तकें भी जैन समाज में हिन्दू परम्परा की विवाहविधि आदि का अन्धानुकरण रोकने में काफी सफल रहीं।

माणिकसा मोतीसा खंडारे, कारंजा, की जिनपद्यकुसुममाला (१९१२) में गायनोपयोगी भावपूर्ण पद प्राप्त होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिराचन्द अमीचन्द शहा, सोलापुर का यशोधरचरित्र सरल कथावर्णन की दृष्टि से लोकप्रिय हुआ था (१९१२)। इनकी दूसरी रचना व्रतशील-कथासंग्रह भी रोचक है।

शान्तिनाथ गोविन्द कटके तथा इनके बन्धु माणिक गोविन्द कटके के भक्तिपूर्ण पदों का संग्रह पद्यकुसुमावली १९१८ में प्रकाशित हुआ था। पंच परमेष्ठी-गुणवर्णन (१९१९) व पंचकल्याणिकवर्णन (१९२७) ये माणिकराव की तथा चोवीसतीर्थंकरपूजा यह शान्तिनाथ की रचना भी काफी लोकप्रिय हुई थी।

रत्ननन्दि भट्टारक के भद्रबाहुपुराण का अनुवाद (१९२१) कल्लाप्पा अनंत उपाध्याय ने किया था।

नेमचन्द वालचन्द गांधी, उस्मानाबाद ने नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार का मराठी रूपान्तर किया था। इस गहन ग्रन्थ के विषय को संक्षेप में समझाने के लिए इन्होंने गुणस्थानचर्चा व सप्ततत्त्वविचार नामक छोटी पुस्तकें भी लिखी थीं (१९२२)।

शांतिसागराचार्यचरितसुधा यह पद्यबद्ध रचना देवेन्द्रतनय, शमनेवाडी, द्वारा १९२४ में तथा देवेन्द्रकीर्तिचरितसुधानिधि यह पद्यबद्ध रचना सोनाबाई जिन्तूरकर, कारंजा, द्वारा १९२५ में लिखी गई थी। अपने समकालीन धर्माचार्यों के ये चरितकाव्य पठनीय हैं।

कारंजा के भट्टारक वीरसेन के आध्यात्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर ब्रह्मय स्वामी, कुरुन्दवाड ने अनुभवप्रकाश नामक गद्यपद्यमिश्र रचना १९२९ में लिखी थी। इसका आत्मानुभववर्णन पुरानी मराठी रचनाओं की शैली का है।

भट्टारक अकलंक के रत्नत्रयसार नामक कन्नड ग्रन्थ का मराठी अनुवाद (१९२९) बाहुबली शर्मा ने किया था। वृत्तिविलास की कन्नड धर्मपरीक्षा का मराठी अनुवाद (१९३१) इनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है।

विष्णुकुमार डोणगांवकर, कारंजा ने समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्ड तथा नेमिचन्द्राचार्य कृत द्रव्यसंग्रह के छात्रोपयोगी मराठी संस्करण तैयार किये थे (१९३०)।

नरेन्द्रनाथ भिसीकर, कारंजा ने पंडित गोपालदास बरैया की जैन सिद्धांत प्रवेशिका का छात्रोपयोगी मराठी संस्करण तैयार किया था (१९३२)। इन्होंने वादीभसिंहसूरि के क्षत्रचूडामणि काव्य का मराठी अनुवाद (१९३८) तथा कुन्दकुन्दाचार्य के नियमसार का मराठी विवेचन (१९६३) भी प्रकाशित किया। इनकी ये रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनंतराज बोपलकर, सोलापुर ने पुराने मराठी साहित्य के एक प्रमुख कवि महतिसागर का जीवनचरित काव्यबद्ध किया था (१९३४)। भूधरदास के पार्श्वपुराण का मराठी रूपान्तर भी इन्होंने पद्यबद्ध रूप में किया था (१९३९)।

विद्याकुमार देवीदास जैन ने भक्तामर आदि पांच स्तोत्र (१९३५) तथा धनंजय की नाममाला (१९३७) का मराठी रूपान्तर किया था।

गोपाल बालाजी बीडकर (उपनाम बालसुत) ने अकलंक-निष्कलंक की पौराणिक कथा पर आधारित खरा स्वार्थत्याग (१९३६) नाटक की रचना की थी। कुलभूषण-देशभूषणचरित (१९३९) नामक इनकी काव्यबद्ध रचना भी पठनीय है।

अमरावती के श्रीमान् नत्थूसा पासूसा कलमकर ने पुराने मराठी साहित्य की शैली में जैनव्रतकथासंग्रह (१९३६) की रचना की थी। चौवीसतीर्थंकरपूजा इनकी दूसरी पद्यबद्ध रचना है।

कालचन्द्र जिनचन्द्र उपाध्याय ने आचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख का मराठी रूपान्तर तैयार किया था (१९३७)। इनकी दूसरी वृहद् रचना जैनेन्द्रव्रतकथासंग्रह (१८५४) में जैन समाज में प्रचलित प्रायः सभी व्रतों की विधि और कथाएँ उपलब्ध होती हैं।

प्रियंकर शिरढोणकर ने सांगली की वीर ग्रन्थमाला से कर्णाटक जैन कविकुल (१९४१) तथा प्राचीन जैनाचार्य (१९४२) नामक पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

लातूर के भट्टारक विशालकीर्ति द्वारा रचित पूजा, स्तुति, आरती तथा स्फुट कविताओं का संग्रह भावांकुर (१९४८) ललित शब्दरचना की दृष्टि से पठनीय है।

मुनि श्री चौथमल जी के निर्ग्रन्थ प्रवचन का मराठी रूपान्तर श्री प्रतापमल कोचर ने प्रस्तुत किया था (१९५४) तथा कीर्तिविजय जी द्वारा मराठी में रूपान्तरित आर्हतधर्मप्रकाश (१९५५) बम्बई से प्रकाशित हुआ था।

जयकुमार आलंदकर ने जीवन्धर की पुरातन कथा का आधुनिक सरल रूपान्तर प्रस्तुत किया (१९५६) तथा पण्डित कैलाशचन्द्र जी के भगवान् ऋषभदेव का अनुवाद भी किया (१९५८)।

पण्डित आशाधर के सागारधर्मामृत का विशद् मराठी विवेचन रवीन्द्रकुमार नांदगांवकर ने प्रस्तुत किया (१९५७)।

आर्यिका राजुलमती का जीवनचरित विद्युल्लता शहा ने लिखा था (१९५७)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वादिराजसूरि के यशोधरचरित का सरल रूपान्तर जयकुमार क्षीरसागर ने किया (१९६०)। वादीभसिंहसूरि के क्षत्रचूडामणि का इन्होंने पद्यबद्ध रूपान्तर किया जो मासिक सन्मति में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ है।

पण्डित कैलाशचन्द्र जी के जैन धर्म का मराठी अनुवाद प्रेमचन्द्र शहा द्वारा प्रस्तुत किया गया (१९६३)।

अ० जि० हुपरे का गीतमहावीर यह श्रुतिमधुर गीतों का संग्रह भगवान् महावीर की जीवनकथा भावपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत करता है (१९६३)। आपने मैनासुन्दरी की कथा भी गीत रूप में प्रस्तुत की है।

सोलापुर के श्राविकाश्रम की प्रमुख पण्डिता सुमतिबाई ने कई वर्ष तक मासिक जैन महिलादर्श के मराठी विभाग का सम्पादन किया है। रामायण (१९६५) इस छोटी सी पुस्तक में इन्होंने पद्मपुराण की कथा आधुनिक रूप में वर्णन की है। नेमिचन्द्राचार्य के द्रव्यसंग्रह का सुबोध रूपान्तर भी आपने प्रस्तुत किया है (१९६८)। हाल ही में आदिगीता नामक आपका विस्तृत काव्यग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

पहिला सम्राट् (चन्द्रगुप्त मौर्य) वासन्ती शहा की यह सरस पुस्तक (१९६५) जैन इतिहास की दृष्टि से पठनीय है। संस्कृतिगंगा इनकी दूसरी पुस्तक प्राचीन भारतीय नारियों की बोधप्रद कथाओं को प्रस्तुत करती है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार की अमृतचन्द्राचार्य विरचित आत्मख्याति टीका का विशद विवेचन पंडित धन्यकुमार भोरे, कारंजा ने प्रस्तुत किया है (१९६८)। इसके पहले इन्होंने पंडित टोडरमल विरचित मोक्षमार्गप्रकाशक का मराठी रूपान्तर भी किया था।

गजकुमार शहा की पवनपुत्र हनुमान् तथा आदिकुमार बेडगे* की कुमार प्रीतिकर ये सरल कथारूप पुस्तकें जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुई हैं (१९६५)।

शिरपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर के विषय में श्वेताम्बर परम्परा का दृष्टिकोण मुनि जम्बूविजय जी द्वारा प्रस्तुत किया गया था जिसे वालचन्द हिराचन्द ने मराठी में रूपान्तरित किया (१९६०)। इसी क्षेत्र के विषय में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण नेमचन्द डोणगांवकर ने प्रस्तुत किया है।

हेमचन्द्र वैद्य, कारंजा गत कुछ वर्षों से मासिक सन्मति के सम्पादकमंडल में हैं। प्राचीन धार्मिक मान्यताओं का आधुनिक स्पष्टीकरण देते हुए बातचीत

---

* ये अब मासिक सन्मति के संपादकमंडल में हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के ढंग में कैलास काका लेखमाला आपने सम्मति में लिखी थी जो अब पुस्तकरूप में प्रकाशित हुई है। सीता के अग्निदिव्य की कथा पर शीलसञ्जीवनी वाटिका भी आपने लिखी है। मुनि श्री समन्तभद्र के प्रवचनों से संकलित सुभाषितों का सानुवाद संग्रह उद्बोधन नाम से आपने संपादित किया है।

आधुनिक समय में बहुत थोड़े साधुओं ने साहित्यरचना की है। इनमें मकरध्वजपराजय रूपकात्मक नाटक के प्रणेता क्षु० आदिसागर प्रमुख हैं। आपने पद्मपुराण का काव्यबद्ध रूपान्तर भी किया है।

पत्रिकाएँ

मराठी जैन साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात मासिक जैन बोधक द्वारा सन् १८८४ में हुआ था। हिराचन्द नेमचन्द दोशी, कल्लाप्पा निटवे, जीवराज गौतमचन्द दोशी तथा रावजी सखाराम दोशी के सम्पादन में इस पत्र ने उत्तरोत्तर प्रगति की। आजकल यह वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा साप्ताहिक रूप में सम्पादित हो रहा है।

जैन विद्यादानोपदेशप्रकाश मासिक पत्र जैन सभा, वर्धा के मुखपत्र के रूप में बकाराम पैकाजी रोडे द्वारा लगभग दस वर्ष तक सम्पादित एवं प्रकाशित हुआ था। इसका प्रारम्भ सन् १८९२ में हुआ था।

पन्नालाल जैन, वर्धा द्वारा १८९८ में प्रारम्भ किये गये मासिक जैन भास्कर में हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के लेख थे।

दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा के मुखपत्र के रूप में अण्णासाहेब लट्ठे द्वारा प्रगति-जिनविजय साप्ताहिक सन् १९०१ में शुरू किया गया था। सभा के निर्णयानुसार समय-समय पर विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ता इसका सम्पादन करते रहे हैं। आजकल यह बी० बी० पाटील के सम्पादन में प्रकाशित हो रहा है।

तात्यासाहेब पांगल द्वारा सम्पादित मासिक वन्दे जिनवरम् तथा गणपत नारायण चवडे, वर्धा के मासिक जैन बन्धु का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मासिक सुमति, वर्धा, कवि रणदिवे के सम्पादन में कुछ वर्ष प्रकाशित हुआ था। इन्हीं द्वारा जैन वाग्विलास मासिक भी शुरू किया गया था (१९१३)। इसी समय के आसपास जयकुमार देवीदास चवरे द्वारा मासिक जैन भाग्योदय का कुछ वर्ष सम्पादन किया गया था।

रामचन्द्र गुलाबचन्द व्होरा, सोलापुर द्वारा मासिक प्रभावना सन् १९२५ में प्रारम्भ किया गया था।

वा० दे० घुमाळे, कारंजा तथा के० पी० भागवतकर, नागपुर ने सन् १९३५ में मासिक सार्वधर्म का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन गुरुकुल, सोलापुर (तथा बाद में बाहुबली, जि० कोल्हापुर) के मुखपत्र के रूप में मासिक सन्मति का प्रकाशन सन् १९५० से माणिकचन्द भिसीकर के सम्पादन में हो रहा है। इसके सहायक सम्पादक सुमेर जैन तथा सुभाषचन्द्र अक्कोळे हैं।

श्रेणिक अन्नदाते, बम्बई द्वारा सम्पादित पाक्षिक पत्र तीर्थंकर प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधित्व करता है (प्रारम्भ १९६८)।

कान्तिलाल चोरडिया, पूना द्वारा १९६९ में पाक्षिक जैन जागृति का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है।

उपसंहार

सर्वजनोपयोगी दैनिक पत्रों के संपादन में भी कुछ जैन विद्वानों ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। इनमें सोलापुर समाचार के सहसंपादक नानचन्द शहा तथा दैनिक सत्यवादी, कोल्हापुर के संपादक बालासाहेब पाटील प्रमुख हैं।

पिछले दस वर्षों में मराठी साहित्य के छिटपुट प्रकाशन ही हुए हैं। जीवराज ग्रन्थमाला द्वारा रत्नकीर्ति और चन्द्रकीर्ति का आराधना कथाकोष (सम्पादक प्रा० शांतिकुमार किल्लेदार) प्रकाशित हुआ है तथा पहले मराठी जैन लेखक गुणकीर्ति की एक छोटी गुजराती रचना विवेक विलास (वि० जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित) इसी ग्रन्थमाला ने प्रकाशित की है। २५००वें महावीर निर्वाणोत्सव के अवसर पर कई पुस्तिकाएँ और स्मारिकाएँ निकली हैं। प्राचीन मराठी कथापंचक (वि० जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित) में चिमनापंडित की अनन्तव्रतकथा, पुण्यसागर की आदित्यव्रतकथा, महीचंद्र की निर्दोषसप्तमी कथा तथा लक्ष्मीचंद्र की मेघमाला कथा जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है।

मराठी जैन साहित्य के प्राचीन और आधुनिक प्रमुख निर्माताओं का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास इस प्रकरण में किया गया है। विस्तार भय से इन लेखकों की कृतियों की ऐतिहासिक, साहित्यिक या तात्त्विक विशेषताओं का विवेचन यहाँ नहीं किया जा सका। फिर भी हमें आशा है कि विषय की स्थूल रूपरेखा विद्वानों के समक्ष रखने का हमारा उद्देश्य सफल माना जायेगा। इस प्रकरण को वर्तमान स्वरूप देने में प्रा० शान्तिकुमार किल्लेदार तथा डा० सुभाषचन्द्र अक्कोळे, इन दो मित्रों की सहायता महत्त्वपूर्ण रही है। अन्य जिन विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग हुआ है उनका यथास्थान निर्देश किया है। उन सब के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कन्नड जैन साहित्य-शब्दानुक्रमणिका

अंजनाचरिते–८५, ८६
अकलंक–४
अग्गलदेव–४८, ६६, ६७, ७१
अजितपुराण–२१, २२, २३
अण्डय्य–६६, ७२, ७८
अनन्तनाथपुराण–७०; ७१, ७२, ७३
अनुप्रेक्षे–८२
अपराजितेश्वरशतक–८३
अभयचन्द्र–२९, ५६
अभिधानरत्नमाला–६०, ६२
अभिधानवस्तुकोश–६२
अमितगति–५७, ५८, ५९
अमृतानन्दी–८९
असग–१, ७, १०, ६७
आचण्ण–६१, ६५, ६६, ६७
आदिपुराण–९, १५; २३, ८३, ८४
इन्दस्सार–८९
उत्तरपुराण–२७; ७३
उपसर्ग केवलियों की कथा–११
उमास्वाति–३०, ३१
ऊरुभंग–२६
कंति–३९, ४०, ४१
कंतिहंपन समस्येगळु–३९, ४१
कन्नडकविचरिते–२९
कनकचन्द्र–५६
कनकनन्दि–५६
कब्बिगरकाव–७८
कमलभव–६६, ६८, ७२, ७६, ७७
कर्णपार्य–२७, ३३, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ६३, ६४, ६९
कर्णाटककविचरिते–३३
कर्णाटककादम्बरी–६०, ६४
कर्णाटकभाषाभूषण–६०; ६२
कर्णाटकशब्दानुशासन–९०
कर्णाटकसंजीवन–९०
कल्याणकारक–५६, ५७
कल्याणकीर्ति–८२
कविचरिते–४१, ४९
कविपरमेष्ठी–८९
कविराज–१२
कविराजमार्ग–१, २, ८, ९, १०, ६१
कवीश्वर–८, ९
कादम्बरी–२, ४४, ६०
कामनकथे–८२
कालिदास–२, ३
काव्यरत्न–२२
काव्यसार–११, ८८
काव्यावलोकन–६०, ६१, ६३
किरात–७९
किरातार्जुनीय–८
कीर्तिवर्म–४७, ४८, ५७
कुन्दकुन्द–७२
कुमुदेन्दु–७२
कुसुमावलि–७६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैतनायक–७७
केशिराज–३, ७, ८, १०, १९, ३३, ४९, ६५, ६६, ७०, ७९, ८०, ९०
क्षत्रचूडामणि–८२
क्षेत्रगणित–४६, ४७
क्षेमंकर–७७
खगेन्द्रमणिदर्पण–८१, ८७
गजांकुश–६७
गतप्रत्यागत–२०
गदायुद्ध–१, २२, २३, २४, २५, २६
गदासौष्ठिक–२४
गुणचन्द्र–८९
गुणनन्दि–७, १०
गुणभद्र–२७, ७३, ८९
गुणवर्म–७, १०, ११, ६७, ६९, ७२, ७६
गुणवर्म (प्रथम)–७५
गुणवर्म (द्वितीय)–७४
गोम्मटसार–५७
गोम्मटसार की मन्दप्रबोधिनी टीका–५६
गोम्मटसारवृत्ति–२९
गोम्मटस्तुति–६५, ८१
गोवैद्य–४७, ४८, ५७
चन्द्रदेवप्रभचरित–८९
चन्द्रनाथाष्टक–७४, ७६
चन्द्रप्रभचरित–२९, ६४
चन्द्रप्रभपुराण–८, ४८, ६६
चन्द्रप्रभषट्पदि–९०
चन्द्रसागर–५८
चरक–५६
चामुण्डराय–१३, २७, २८, ६४, ७३
चामुण्डरायपुराण–२७, ७३
चारित्रसार–२८
चित्रहसुगे–४६, ४७
चिदानन्द–९१
चूडामणि–८
चोलपालचरित–७९
छन्दोम्बुधि–५, ६०
छब्बीसरत्नमाला–५०
जटासिंहनन्दि–९१
जन्न–१०, २०, ३३, ६१, ६३, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६
जयबन्धु–८
जयराम–५८, ५९
जयनृपकाव्य–८७, ८८
जसहरचरिउ–७२
जातकतिलक–२९, ३०
जिनचतुर्विंशतिका–६९
जिनमुनितनय–३४, ९१
जिनसेन–९, ५०, ८३
जिनस्तुति–६५, ८२
जिनाक्षरमाला–२०, ३४
जीवन्धरचरिते–८२, ८७
जीवन्धरसांगत्य–८६
जीवसंबोधन– ६८, ९१
जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण–४६, ४७
जैनपुराण–३७, ६१
ज्ञानचन्द्राभ्युदय–८२
तत्त्वभेदाष्टक–८२
तत्त्वार्थवृत्ति–३०
तत्त्वार्थसूत्र–३०, ३१
त्रिपुरदहन–८५, ८६
त्रिलोकशतक–८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिलोकसार–५६
त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण–२७
त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र–४८, ४९, ५०
दण्डी–२, ८, ९, ६२
दशमलयादि महाशास्त्र–८८
दिवाकरनन्दि–३०, ३१
दुर्गसिंह–८, ३३
दुर्विनीत–७, ८
देवकवि–६६
देवचन्द्र–७, ८, ४०, ६४, ८३, ९०, ९१
देवोत्तम–६१, ९०
दोड्डणांक–९०
दोड्डय्य–८, ५६, ६४, ८९
द्वादशानुप्रेक्षा–८५
द्विसन्धानकाव्य–६९
धनंजय–६९
धरणि पंडित–९१
धर्मनाथ पुराण–८१
धर्मपरीक्षा–५७, ५८, ५९
धर्मामृत–४१, ४२; ४३, ४४, ४५
धूर्ताख्यान–५९
नयसेन–११; २२, २७, ३२, ४१, ४२, ४३; ४४, ४५, ८०
नागकुमार कथा–२९
नागकुमारचरित–४०; ६४; ८९
नागचन्द्र–१५, २२; २७; ३२; ३३; ३४, ३५, ३६, ३९; ५४, ७०, ७२; ७५, ९१
नागराज–१४, ६८, ८०
नागवर्म–३, ५, ९; १३, २७, ३३, ४१, ६४, ६७, ७५; ८९
नागवर्म (प्रथम)–६०
नागवर्म (द्वितीय)–६०; ६१; ६२, ९०
नागार्जुन–८
नानार्थरत्नाकर–९०
निर्वाणलक्ष्मीपतिनक्षत्रमालिका–६५, ६६
नूतननागचन्द्र–९१
नेमिचन्द्र–६३, ६४, ७५, ७७
नेमिजिनेशसंगति–८७, ८८
नेमिनाथपुराण–११, ५०, ५१, ५३, ५४, ५६, ६३, ६४, ७७, ७८
नेमीश्वरचरिते–८९
नृपतुंग–१, २, ३, ७, ८, ९, १०, ६१
पउमचरियम्–३६
पद्मचरित्र–८६
पद्मपुराण–३६
पद्मरस–९०
पद्मसागर–५९
पम्प–१, २, ३, ७, ११; १४, १५, १६, १८, २१, २३, २६, ३४, ३६; ३९, ४०, ४१, ६०; ६६, ६७, ६९; ७२; ७३, ७५, ७७,
पम्परामायण–३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८
परमात्मप्रकाश–६५
परमेष्ठि–४
पार्श्व–११; २२, ३३, ६३, ६५; ६६, ६७
पार्श्वनाथपुराण–६५, ६९; ७०
पार्श्वपंडित–६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्यास्रवकथा–८०
पुराणचूडामणि–१९
पुराणतिलक–२२
पुष्पदंतपुराण–७४, ७५, ७६
पूज्यपाद– ४, ५६, ७२
पोन्न–१, ३, १०, ११, १४, १९, २०, २१, ३१, ६०, ६६, ६७, ६९, ७२, ७५, ७७
प्रबोधचन्द्र–७९
प्रबोधचन्द्रोदय–८६
प्रभंजनचरिते–८७, ८८
प्रश्नोत्तररत्नमालिका–९
प्राभृतत्रय–६५
बन्धुवर्म–६८, ७७, ९१
बाण–२, ३, ६०
बालचन्द्र–६५
बाहुबलि–२९, ४०, ६४, ६६, ८१, ८९
बिज्जलचरिते–९१
बोप्पण पंडित–६५, ६६, ६७
बोम्मरस–८६
ब्रह्मकवि–९०
ब्रह्मशिव–२७, ४७, ४८, ४९, ५०
भट्टनारायण–२, ३, २६
भट्टाकलंक–७, ८, ९, ६२, ८१, ९०, ९१
भरत–२
भर्तृहरि–२
भवभूति–२
भागवत–२
भामह–६२
भारत–८९
भारतेशवैभव–८३, ८४, ८५
भारवि–२, ३, ८
भास–२६
भास्कर–८२
भाषाभूषण–४१
भाषामंजरी–९१
भुवनैकरामाभ्युदय–१९
भुवनैकवीर–११
भूपाल–६९
मंगरस–८, २२, ३३, ५६, ६३, ६८, ७२, ८१, ८८
मंगरस (द्वितीय)–८७
मंगराज–८१
मंगराजनिघण्टु–८७
मंजरीमकरंद–९१
मदनविजय–७८
मधुर– २२, ३३, ६३, ७२, ८१
मन्मथविजय–८०
मल्ल–८०
मल्लिकार्जुन–७, १०, ७०, ७२, ७४, ७६, ७९
मल्लिनाथपुराण–३३, ३४, ३५, ३६, ३९
महाबल–७७, ७८
महाभारत–१, २, ३, ४, २४, २६, ६९
माघ–२, ३
माधवचन्द्र–५६, ५७
मुनिवंशाभ्युदय–९१
मोहानुभवमुकुर–७०
मृगपक्षिशास्त्र–४८
यरेयंग–७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यशस्तिलकचम्पू–७२
यशोधरकाव्य–७२, ७३
यशोधरचरित–७०, ७१, ७२, ७३
योगरत्नाकर–९०
रघुवंश–३
रट्ट–९०
रट्टमत–९०
रत्नाकर–८३, ८४, ८५
रत्नाकर वर्णी–८२
रत्नाकराधीश्वरशतक–८३
रत्न–१, ३, ११, १४, २०, २१, २२, २३, २६, २७, २८, ३१, ३२, ६६, ६९, ७२, ७५, ७७
रत्नकविप्रशस्ति–२६
रविषेण–३६, ८६
रसरत्नाकर–८८, ८९
राघवपाण्डवीय–४८, ६९
राजादित्य–४६, ४७
राजावलि कथे–४०; ६४, ९१
रामकथावतार–९१
रामचन्द्रचरितपुराण–३४
रामायण–२, ३, ४, ६९
रुद्रभट्ट–८९
रुद्रट–६२
लीलावति–४६, ४७, ६३, ६४
वज्रकुमारचरिते–९०
वड्डाराधने–११, २७, ३१, ३२, ४३, ८०
वररुचि–६२
वराङ्गनृपचरिते–९१
वर्धमानचरित्र–६७
वर्धमानपुराण–६५, ६६, ६७
वस्तुकोश–६०
वाग्भट–५६
वादिराज–७३
वादीभसिंहसूरि–८२
वामन–२, ६२
वाल्मीकीय रामायण–३७, ३८
वासवदत्ता–६३
विक्रमार्जुनविजय–१, १५, १६
विजयकुमारिकथे–९०
विजयण्ण–८५
विद्यानन्द–७, ११, ८१, ८८
विनयादित्य–७२
विमलसूरि–३६
विमलोदय–८
वीरेशचरित्र–५६
वेणीसंहार–२६
वैद्यसांगत्य–८८, ८९
व्यवहारगणित–४६
व्यवहाररत्न–४६, ४७
वृत्तविलास–२७, ५७, ५८, ५९
शब्दमणिदर्पण–१९, ४९, ६५, ७०, ७९, ८०
शब्दानुशासन–६२
शान्तरस कवि–९०
शान्तिनाथ–२७, ३१, ३२
शान्तिपुराण–१९, २०
शान्तीश्वरपुराण–७६; ७७
शारदाविलास–८८, ८९
शास्त्रसार–५७
शिवकोट्याचार्य–११
शिवपुराण–८६
शिशुमायण–८५, ८६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शूद्रक–११
शृंगार कवि–९०
श्रीधराचार्य–२९
श्रीपदाशीति–६६, ६७
श्रीपालचरिते–८७, ८८
श्रीवर्धदेव–७, ८
श्रीविजय–७, ८, ९, ६७
श्रीहर्ष–३
श्रुतकीर्ति–४८, ९०
सकलकीर्ति–६७
सनत्कुमारचरिते–८६
समन्तभद्र–४, ७२
समयपरीक्षा–४७, ४८, ४९
सम्यकत्वकौमुदी–८७, ८८
सल–७२
साल्व–८८, ८९
साळव–६१
साहसभीमविजय–२२, २३
सुकुमारचरिते–३१, ३२, ९०
सुकुमारस्वामिकथा–३१
सुबन्धु–२, ६३
सुभद्राहरण–७९
सूक्तिसुधार्णव–१०, ७०, ७६, ७९
सूपशास्त्र–८७, ८८
सोमदेवसूरि–७२
सोमनाथ–५६, ५७
स्मरतन्त्र–७०
हरिभद्र–५९
हरिवंश–२, ४, ११
हरिवंशाभ्युदय–६८
हरिषेण–५८
हरिहर–१५
हर्षचरित–२, ४४
हलायुध–६२
हेमचन्द्र–८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमिल जैन साहित्य-शब्दानुक्रमणिका

अत्तारि–१८२
अमितसागरर्–१०७, १९२
अरनॉरि सारग्–१३२, १३३, १४२
अरनानूर–१५२
अरुंकल चॅप्पु–१२२, १३२, १३३
अविनय नाट–१९१
अविनयम्–१९१, १९२
अविरोधि यार–१८२
अष्ट पदार्थसार–१११
अष्टाध्यायी–१०८
आदिनाथ पिल्लै तमिळ्–१८२
आचार कोवै–१३१, १३९, १४१, १५३
इनियवै नार्पदु–१३०, १३१, १३४; १३९, १४०, १४१
इन्ना नार्पदु–१३०, १३१, १३४, १३९, १४०
इरैयनाट् अकप्पा रुळ–१२४
इरैयनार अट्टप्पोरुळ्–१९०
इळंगो अडिगळ्–१२१, १४५, १४९, १५३, १५४
उत्तर पुराणम्–१०२, १८६, १८८;
उदयण कुमार काव्यम्–१६२
उदयणन् कथै–१६०
उमास्वाति–११३
उत्स–१८२
एट्टुत्तॉकै–११९, १२१
एलाचार्य–१२५
एलारि–१३१, १३८, १४१, १४२
ऐंतिणै एलुपदु–१३१
ऐंत्तिणै एंपदु–१३१
ओट्ट क्कत्तूर–१५९, १६२
कणिमेधावियाट–१३१, १३८, १३९
कण्णन् चेन्दनाट–१३१
कपिलट–१३०
कलम्बकम्–१८२
कळवळि नार्पदु–१३०, १३५
कलिंगत्तु परणि–१७९, १८०
कलित्तकै–१२४
कलैक्कोट्टुततण्डु–१२१
कल्लाडम्–१२३
कारनार्पदु–१३०
काव्यप्रकाश११८
किळि विरुत्तम्–१४३
कुण्डल केशी–१४५, १५७, १६०, १७३
कुन्दकुन्दाचार्य–१०१, १०३, १२५
कैन्निलै–१३१
गुणभद्र–१०२, १६६, १७१, १८६
चिरिय तिरुमडल्–१६१
चिरु पंच मूलम्–१३१, १३८, १४०, १४२
चूळामळि–१०२, १०४, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३
चूळामळि निघंटु–१८४, १८७, १८९,
चेन्दन् दिवाकरम्–१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जक्कीरर–१२५
जयधवला टीका–१०२
जातक–१४२
जिनसेना–१०२
जीवक चिन्तामणि–१०२, १०४, १४३, १४५, १५२, १६३, १६५, १६६, १६७, १६९, १७३, १८९
जैनेन्द्र व्याकरण–१७७
तक्कयाळप् परणि–१५९
तनिप्पाडल–१७०, १७१
तिणैमालि ऐंपदु–१३१
तिणैमालै नुट्रैम्पदु–१३९
तिरु कडुकम्–१३१, १३५, १३८, १३९, १४०, १४२
तिरुक्कलम्बकम्–१८२
तिरुक्कुरळ्–१११, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १३०, १३१, १३३, १३५, १३७,
तिरुज्ञानसम्बन्धर्–१०२,
तिरुत्तक्कदेवर्–१०२, १०४; १४३, १६५
तिरुनावुक्करशर–१३४
तिरुमंगै आळ्वार–१६१, १६२
तिरुवळ्ळु वमालै–१२३, १२४
तिरुवळ्ळुवर्–१२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३० १३१, १५८
तेय्वच्चि लैयार–११४
तेवारम्–१०९, १२३, १३४, १३५; १४३, १४४, १५३, १५८, १८१,
तेसठ शलाका पुरुष चरितम्–१८६
तोलकप्पियम्–१०८; १११, ११२; ११५; ११६, ११७, ११८; ११९, १२०; १२६; १३०, १३४, १४३; १८६, १८८, १९२
तोलकप्पियर–१०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, १३१, १३३
तोलामोळि देवर्–१०२, १७३
दण्डि अलंकारम्–१९१
दर्शनसार–१०२, १०३, १२२
दिवाकरम्–१३३, १८८, १८९; १९१
दिवाकर मुनि–१२६
दीपंकुडि जयंकोण्डार–१८१
देवसेन–१०२, १०३, १२२
धर्माचरणसार–१३३
नट्टिणै–१२०
नेडुनल् वाडै–१२५
नन्नरि–१४२
नन्नूल–१०५, १११, १९१
नत्तिणै–१५३
नळवळि–१४२
नल्लातनाट–१३१, १३५, १३८
नाट्यशास्त्र–११८
नान् मणि कडिकै–१३०, १३१, १५३
नान् मणि पटिकै–१३९
नारद चरितै–१७६
नालडियार–१३०, १३५; १३६; १३७
निगंटन् कलैक्कोट्टुत् तन्डनाट–१२०
तिणै मालै नुट्रैम्पदु–१३१
निरुनूट्टत्तारि–१८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीतिनाट विळक्कम्--१४२
नीति नूल--१४२
नील केशी--१२६, १५७, १५८, १५९, १७६
नेमिनाथम्--१२३
पंचतन्त्र--१४२, १५३
पंचास्तिकायसार--१०१
पिंगलन्दै--१२९, १९१
पट्टिनप्पालै--१३९
पणम्बारनाट--१०८
पतंजलि--११८
पतिद्रुपत्तु--१०४
पत्तुपाट्टु--११९, १२४
पदुमनार--१३६
पन्निरु पाट्टियल--१३४, १८२
परुवयिन मुल्लियार--१३१
परुवायिल मुळ्ळि--१४१
पळ् माळिनातूर--१३१, १३७
पाट्टियल मरपुडैयार--१९०
पाणिनि--११८
पॉय्कैयार--१३०
पारिपाडल--१२४
पुरत्ति रट्टु--१७६, १७७
पूतम् चेन्दनार--१३०
पूरनातूर--१५२
पेरियम् पुराणम्--१८१
पेर्हे कथै--१५२, १६०, १६२
पेरुन्तेवनार--१८६
प्रवचनसार--१०१
भरत मुनि--११८
भवनन्दी--१०५, १११
भारतम्--१८६, १८७
मंडल पुरुडर--१८७, १८८
(मण्डल पुरुषट्)
मणमूल शुभविवाह ग्रन्थ--१६३
मणि मेठालैं--१३३, १४५, १५४, १५५, १५६, १५७, १६०, १६१, १६२, १७३
मदुरै कण्णन् कुन्तनार--१३०
मदुरै कूडलूर् किलार्--१३१
मल्लि सेजाचारियर्--१५८
महापुराण--१६६
महावंश--१०१; ११९
माक्कायन् माणाक्कनार्--१३१, १३८
माक्कारि आशान्
मामूलट पट्टियल--१९०
मारन् पॉरैयनार--१३१
मृदु मॉलि कोचि--१३१, १३५, १३९
मुनै प्पाडियार--१३२
मुन्तुरै अरैयनार--१३१
मूवादियर--१३१
मेरुमन्थर पुराणम्--१०८, १५८; १७६, १७७
यशोधर काव्यम्--१०४, ६७४, १७५
याप्परुंकलकारिकै--१३४
याप्परुंगल वृत्ति--१५९; १६६, १७१; १८२, १९१
याप्परुंगलम्--१९२
याप्परुकल ककारिकै--१०७
याप्परुकल वृत्ति--१०७
रामायण--१५२
ललित विस्तार--११९
लीलातिलकम्--१८७
लोकविभागम्--१०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वररुचि--११८
वर्द्धमान देवर--१६९
वळैया पति--१४५; १५९, १६०, १७३
वाक्कुण्डाम्--१४२
वामन मुनि--१०८, १७६; १८७
वासवदत्ता--१६१
विळम्बि नागनाट--१३०
वीर चोळियम्--१३४, १८७
वीरसेन--१०२
वेण्णावलुडैयार वेळ--१७५
बृहत्कथा--१६०, १६१
शैत्तमिळ्--१५९
शान्ति पुराणम्--१७६, १७७
शिलप्पधिकारम्--१२१; १२२, १२४, १३३, १४३; १४५, १४८, १५०; १५२, १५३, १५४, १५५; १५६, १५७, १६०, १७३, १७८, १८६
शीत्तलैचात्तनार--१३५
शुक्र सप्तशती--१४३
समय दिवाकर वामन मुनि--१५८
समयसार--१०१
सर्वनन्दी--१०३
स्वेपज्ञभावयम्--११३
हरिवंश पुराण--१०२
हितोपदेश--१४२
ह्वेनसांग--१५९
श्रीपुराणम् १७१, १७६, १८६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी जैन साहित्य-शब्दानुक्रमणिका

अंजना सुन्दरी–२३८
अंतरिक्ष पार्श्वनाथ आरती–२२७
अठाईव्रतकथा–२१९
अनन्तकीर्ति–२२८
अनन्तनाथ आरती–२२३
अनन्तनाथ स्तोत्र–२२२
अनन्तव्रतकथा–२१२, २१५, २२१, २२४
अभयकीर्ति–२१२
अमृतचन्द्राचार्यचरित–२३९
अरहंत आरती–२२०
अरहंतपूजा–२१८, २३०
अर्जुनसुत–२२६
अशौचनिर्णयचर्चा–२३५
अष्टकर्मप्रकृति–२२२
अहिराणी गीत–२२२
आचार्यशान्तिसागरचरित–२३८
आत्मानुशासन–२३८
आदित्यव्रतकथा–२१२, २२४, २२६
आदिनाथ आरती–२१५, २२६
आदिनाथपंचकल्याणकथा–२३०
आदिनाथपुराण–२१९
आदिनाथरास–२१९
आदिनाथस्तोत्र–२२४
आदीश्वर भवान्तर–२२१
आप्तमीमांसा–२३७
आराधना कथाकोश–२३१
उत्तर पुराण–२२३, २३७,
उपदेशरत्नमाला–२३१, २३३
ऋषभपूजा–२२३
कंसाचे पद–२२२
कयको–२२४
कर्माष्टमीव्रतकथा–२२५
कालिकापुराण–२२१
कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे–२३७
कवीन्द्रसेवक–२२९
कामराज–२१०
कुन्दकुन्दाचार्यचरित–२३७
कुलभूषणदेशभूषणचरित–२३८
कैलास षष्पय–२२६
कोतको–२३४
कृष्णगीत–२१०
कृष्णाजीनारायण जोशी–२३६
क्रियामंजरी–२३७
क्षमागीत–२०८
क्षेत्रपाल आरती–२२६
क्षेत्रपाल पूजा–२१८
क्षेत्रपालस्तोत्र–२२४
गंगादास–२१८
गजकुमारचरित–२३८
गरुड़पंचमीव्रतकथा–२१९
गान्हाणे–२०७
गुणकीर्ति–२०८, २२०, २२१, २२९
गुणकीर्ति अनुप्रेक्षा–२१२
गुणदास–२०७, २२८
गुणनन्दि–२११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणभद्राचार्यचरित--२३९
गुणव्रह्म--२०८
गुरु आरती--२२३, २२८, २३२
गुरु गीत--२१५
गोम्मटस्वामी गीत--२१०
गोम्मटस्वामीस्तोत्र--२१५
ग्रन्थपरीक्षा--२३८
चक्रवर्ती पालना--२१८
चन्द्रकान्ता--२३९
चन्द्रकीर्ति--२३२
चन्द्रनाथ आरती--२२३
चन्द्रप्रभ की आरती--२१५
चवडे बन्धु--२३६
चिन्तामणि--२०८, २२०, २२१
चिन्तामणि आरती--२२०
चिमना पण्डित--२१४, २१५
चैतन्य फाग--२११
चोवीस तीर्थंकरस्तुति--२२५
चौवीस तीर्थंकर आरती--२२७
छत्रसेन--२२१
छहढाला--२३९
जगदुद्धारक जैनधर्म--२३९
जटामुकुट--२१८
जटाशंकर--२३९
जनार्दन--२२८
जम्मूस्वामीचरित्र--२१३, २१७
जयकुमार सुलोचना--२३८
जसोधररास--२१०
जाति की मीमांसा--२३८
जिनकथा--२२४
जिनगुणालाप--२३८
जिनचतुर्विंशति--२३६
जिनदास--२०७, २०९, २१६, २२१
जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले--२४०
जिनमाता के १६ स्वरूपों का वर्णन--२१५
जिनरात्रिव्रतकथा--२२५
जिनवरविनती--२१७
जिनसागर--२२३, २२४
जिनसेन--२३३
जिनसेनाचार्य चरित--२३९
जिनस्तुति--२२२
जिनेन्द्रगुणसंस्तुति--२४०
जिनेश्वर आरती--२२७
जीवन्धर पुराण--२२३
जीवन्धर रास--२२३
जीवराज गौतमचन्द्र दोशी--२३७
जैनकथासंग्रह--२४०
जैनकीर्तनतरंगिणी--२४०
जैनदर्शनसार--२३८
जैनधर्म विषयक आक्षेपों का निरसन--२३९
जैनधर्माची माहिती--२३५
जैनधर्मादर्श--२३९
जैनधर्मामृतसार--२३८
जैनबोधक--२३५, २३७, २३८
जैनभजनामृत पद्यावली--२३९
जैनभजनामृत संगीतपद--२३६
जैनरामायण--२४०
जैन व हिन्दू--२३९
जैनवाग्विलास--२३८
जैनव्रतकथासंग्रह--२३६
ज्येष्ठ जिनवरपूजा--२२४
ज्वालामालिनीपूजा--२३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानोदय--२३४
झूलना--२२२
ठकाप्पा--२३३
तत्त्वभावना--२४०
तत्त्वार्थसूत्र--२३७, २३८
तात्याकेशव चोपडे--२३९
तात्या नेमिनाथ पांगळ--२३७
तानू पंडित--२२६
तीर्थंकरों की प्राचीनता--२३९
तीर्थंकर चरित्र--२३७
तीर्थंकर भूपाली--२३०
तीर्थंकरस्तुति--२३०
तीर्थवन्दना--२१०, २१५, २१८
तुगीबलभद्रपूजा--२१८
तुकुजी--२३४
त्रिकाल तीर्थंकर पूजा--२१५
त्रेपनक्रिया विनती--२१८
त्रैवर्णिकाचार--२३७
दत्तात्रयभिमाजी रणदिवे--१३८
दयाभूषण--२१४
दयासागर--२१४, २१९
दयासागर (द्वितीय)--२३१
दशभक्ति--२४०
दशलक्षणधर्म आरती--२१८, २२४
दशलक्षण धर्म सवैया--२२५
दशलक्षण व्रतकथा--२२८, २३०
दानप्रशंसा--२३०
दानशीलतपभावना--२१३, २१४
दामा पण्डित--२१३, २१४, २१७
दिनासा--२२७
दिलसुख--२३२
देवीपद्मावतीलावणी--२३२
देवेन्द्रकीर्ति--२२१
देवेन्द्रकीर्तिशिष्य--२२७
दौपदीहरण--२२२
द्वादशानुप्रेक्षा--२४०
द्रव्यसंग्रह--२३६
धन्दा गीत--२०९
धर्मपरीक्षा--२२१
धर्मफाग--२११
धर्मामृत--२०८, २२९
धर्मामृतपुराण--२१४
धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य--२३६
नन्दीश्वर आरती--२२२
नन्दीश्वर पूजा--२२४
नन्दीश्वर व्रतकथा--२१९
नगरतारका--२३९
नयनतारा--२३९
नवकारमन्त्रप्रकृति--२१३
नवग्रह आरती--२३२
नवग्रह पूजा--२२४
नवधाभक्ति चर्चा--२३५
नववाडी--२२७
नागकुमारचरित--२४०
नागेन्द्रकीर्ति--२३२
नागो आया--२११
नाना रामचन्द्र नाग--२३६
निर्दोषसप्तमीकथा--२२४,
निर्दोषसप्तमीव्रतकथा--२२०
निर्दोषसप्तमीव्रतोद्यापन--२२७
निर्माल्यद्रव्यचर्चा--२३५
नीबा--२२२
नीलीचरित--२३८
नेमिदत्त--२३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिनाथआरती--२१८, २२७
नेमिनाथ जिनदीक्षा--२०९
नेमिनाथ पालना--२०८, २१५
नेमिनाथ भवान्तर--२१५, २२०,२२५
नेमिनाथ वन्हाड--२१३
नेमिनाथ विवाह--२०९
नेमीश्वर गीत--२२०, २२२
नेमीश्वर राजीमती फाग--२०९
न्याहाल--२२७
पंचकल्याणिक--२३७
पंचपरमेष्ठि आरती--२२६
पंचपरमेष्ठी स्तुति--२३०
पंचमेरुपूजा--२१८, २२२, २२४
पंचस्तवनावचूरि--२१२
पंचास्तिकाय--२३७
पंढरपुर का विठोबा--२३९
पंत साव्रा जी--२१६
पांडवपुराण--२३३, २४०
पद्मकीर्ति--२१७
पद्मपुराण--२०८, २२०, २२१, २४०
पद्मावती आरती--२२१, २२४, २२६
पद्मावती पालना--२२८
पद्मावती शृंगार--२३२
पद्मावती स्तोत्र--२१८, २२२, २२४
परमहंसकथा--२११
पार्श्वनाथ आरती--२१७, २२६
पार्श्वनाथ की आरती--२१५
पार्श्वनाथ की स्तुति--२२६
पार्श्वनाथचरित्र--२३६
पार्श्वनाथपूजा--२२२
पार्श्वनाथ भवान्तर--२१०
पार्श्वनाथ भवान्तरगीत--२१८
पार्श्वनाथ स्तोत्र--२१८, २२४
पासकीर्ति--२१२, २१४
पुण्यसागर--२०८, २०९, २१६
पुण्यसागर (द्वितीय)--२२१
पुण्याश्रवकथाकोश--२३३
पुरुषार्थसिद्धयुपाय--२३६
पुष्पांजलिव्रतकथा--२२४
पूजा व सद्यःस्थिति--२३९
पूज्यपादाचार्यचरित--२३९
प्रतिक्रमण--२३७
बहुतरी--२१३
बारसभा आरती--२१८
बारामासी--२२७
बालक छाटी--२१५
बोधामृतसार--२४०
बोप--२३०
ब्रह्मगुणदास--२०८
ब्रह्मजिनदास--२०८, २१७, २१९, २२०
भक्तामर स्तोत्र--२२४
भगवान् नेमिनाथ--२३८
भविष्यदत्त-बन्धुदत्तपुराण--२१४
भानुकीर्ति--२१४
भारती सचित्र बालबोध--२३७
भावसंग्रह--२४०
भीमचन्द्र--२२८
भुवनकीर्ति--२०८
भूपाली--२१५
मकरन्द--२१९
मनोरमा--२३९
मन्हारी गीत--२१०
महतिसागर--२३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकीर्ति--२२०
महापुराण--२२२, २३७
महापुराण की आलोचना की समीक्षा २३८
महापुराणामृत--२३९
महावीर आरती--२२४
महावीर चरित्र--२३६
महावीर पालना--२२०
महीचन्द्र--२१९, २२०
माणिक--२३२
माणिकनन्दि--२२३
मुक्तागिरि पार्श्वनाथ आरती--२२९
मुनिसुव्रत की विनती--२१५
मेघमालाव्रतकथा--२२५
मेघराज--२१०
यमासा--२२६
यशोधरचरित्र--२११
यशोधरपुराण--२१२
यादवसुत--२२२
रतन--२२७
रत्नकरण्डवचनिका का अनुवाद--२३८
रत्नकीर्ति--२३१
रत्नत्रय आरती--२२२
रत्नत्रयमार्ग प्रदीप--२३७
रत्नत्रयव्रत कथा--२३०
रत्नमाला--२४०
रत्नसा--२१७
रयणसार--२३७
रविव्रतकथा--२१८, २२७, २३०, २३२
रविवारव्रतकथा--२१६
राघव--२२८
रात्रिभोजनत्यागकथा--२४०
रामकीर्ति--२२१
रामचन्द्र--२०९
रामचन्द्र हलदुलि--२०७
रामटेकछन्द--२१९
रामटेक शांतिनाथ विनती--२२७
रामायण--२०८
रामायणरास--२०७
रामयणी कथा--२१०
राय--२१७
राया--२३४
रावजी नेमचन्द शहा--२३९
रावजी सखाराम दोशी--२३९
रुक्मिणीव्रतकथा--२१६
रुक्मिणीहरण--२०९
रूपिणी--२३८
लक्ष्मीचन्द्र--२२५
लक्ष्मीसेन शिष्य--२३३
लवांकुश चरित्र--२३६
लहु-अंकुश कथा--२२४
लावणी--२३०
विचूगीत--२०८
वन्दे जिनवरम्--२३७
विवेकविलास--२०९
विशालकीर्ति (प्रथम)--२१६
विशालकीर्ति (द्वितीय)--२१७
विश्वतत्त्वप्रकाश--२१२
वीतरागस्तोत्र--२२४
वीरदास--२१२, २१३
वृषभ--२२७
वर्धमानचरित--२४०
शान्तिनाथ आरती--२२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्तिनाथ चरित--२१०
शान्तिनाथस्त्रोत्र--२२०, २२४
शासनदेवतापूजनचर्चा--२३५
शिवानेमिसंवाद--२२२
शीतलनाथ आरती--२२३
शीलपताका--२२०
श्रावकाचार--२३७
श्रीपालचरित--२४०
श्रीपुर पार्श्वनाथ आरती--२१८
श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र--२४०
श्रुतावतार--२३९
श्रेणिकचरित्र--२०७, २२८
षट्पाहुड--२३७
षोडशकारणभावना--२३६
षोडशकारणव्रतकथा--२३०
संगीतगर्वपरिहारनाटक--२३६
संगीत जैन कीर्तनावली--२३६
संगीतनिर्वाणक्षेत्रपूजा--२३६
संगीतसुशील मनोरमा--२३६
संबोधसहस्रपदी--२३०
संमेदाचलपूजा--२१८
सकलकीर्ति--२०८, २३३
सकलभूषण--२३१, २३३
सज्जनचित्तवल्लभ--२३६
सटवा--२२२
सती अनन्तमती--२३७
समवसरण आरती--२२६
समवसरण षट्पदी--२२२
सम्मेदशिखरमाहात्म्य--२३२
सम्यक्त्वकौमुदी--२१४, २१९, २२१, २३७
सया--२२५
सरस्वती आरती--२२२, २२४
सागारधर्मामृत--२३७
सार्वधर्म--२३८
सिद्धसेन की आरती--२२७
सिद्धान्त प्रवेशिका--२३८
सिद्धान्त सार संग्रह--२४०
सीतादिव्यगीत--२०९
सीताशीलपरीक्षा--२३८
सीताशीलमाहात्म्य--२३६
सुगन्धदशमीकथा--२२४
सुगन्धदशमीव्रतकथा--२१६
सुदर्शनचरित्र--२१०, २१२, २१३, २४०
सुपार्श्वनाथ आरती--२२५, २२६
सुभाषितावली--२३६
सुमति--२३८
सुमतिप्रकाश--२२९
सूरिजन--२११
सेटिमाहात्म्य--२२९
सेठ हिराचंद नेमचंद दोशी--२३५
सोयरा--२२५, २२६
स्वयम्भुस्तोत्र--२४०
स्वात्मविचार--२३२
हनुमानचरित्र--२३६
हनुमान पुराण--२३१
हरिवंशपुराण--२०९, २१६
हरिवंशरास--२०७
हेमकीर्ति--२१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२०	सुनि-	सम्यक्
५	२९	अक्षरगीति का	अक्षरगीतिका
६	१८	से	में
७	३०	ओर	और
९	१	मान्यरोंट	मान्यखेट
११	१८	बना	बता
१३	६	साहसा	सहसा
१५	१२	अवश्यक	अवश्य
,,	१७	रखती	रखता
१७	१७	दुष्टच-तुष्टय	दुष्टचतुष्टय
१८	१८	कर्ण	कर्ण
१९	१२	अन्तिमब्बे	अन्तिमब्बे
१९	२२	को	का
२०	११	के	की
२३	२७	यहाँ की	इसकी
२७	२७	हैं ये।	हैं। ये
२८	९	विद्याध्ययन	विद्याध्ययन
२९	२	के	का
३६	६	से	में
३७	८	शत्रु	शत्रुघ्न
,,	१७	भी	की
४०	२९	की	को
४१	४	इसके	इसकी
४६	१०	के	से
,,	१३	ये	ये
,,	२७	नरसिंहाचार	नरसिंहाचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९	२७	की	के
५०	१८	छत्तीस	छब्बीस
५२	१	ह	है
५३	३	राजा	राजा के
५५	१३	व्यत्यनुप्रास	वृत्यानुप्रास
,,	१८	कर्णपार्य	कर्णपार्य को
५७	११	२२वीं	१२वीं
५८	५	नाम	नामक
,,	१६	काई	कोई
,,	२५	की	की ।
५९	१	२६४५	१६४५
,,	३०	एदतर्थं	एतदर्थं
६०	२०	है	है ।
,,	२५	छन्दोवुधि	छन्दोम्बुधि
६३	१०	चकवर्ती	चक्रवर्ती
६७	९	अरसिकेरे	आरसिकेरे
७०	९	२४००	१४००
७१	८	रचित	चरित
७२	१४	कुमुदेदुन्दु	कुमुदेन्दु
,,	१५	केवलवृत्त	केवल वृत्त
,,	३०	हृदयंगम	हृदयग्राही
७३	१३	इसमें	इससे
७५	१४	नृपततिमहित	नृपतिमहित
७६	१०	चातुर्थ	चातुर्य
७७	२९	विश्वविद्याविरिंचि	विश्वविद्याविरंचि
७९	१५	इनमें	इसमें
,,	१७	इस	इन
८१	१८	थे	थी
८२	८	वादीभासितं	वादीभसिंह
८३	५	शतकनाम	शतकत्रय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	३	के	की
,,	९	पूर्वपुराण	आदिपुराण
८६	१२	जिनेश्वर देव	जिनेश्वर देवने
८७	५	द्वितीय	तृतीय
,,	१०	उपाधियां	उपाधियाँ
८९	२१	का	की
९०	२५	के	की
९१	८	रचा गया	रचा
,,	१४	बिज्जल	बसवण्ण
,,	२७	इन्हेंने	इन्होंने
१००	१६	भद्रवाहु,	भद्रबाहु
१०२	५	क्रमशः,	क्रमशः
,,	१७	क्योकि	क्योंकि
१०४	१	भूतबली'	'भूतबली'
,,	१५	जैनाचायो	जैनाचार्यों
१०६	१	दीक्षाचरण ?	दीक्षाचरण
१०७	१३	थे	थे।
,,	७	जैनचार्यों	जैनाचार्यों
१०८	१६	साथरस	साथ रस
१०९	१०	है;	है–
११२	१४	मल्लिनाथ	मल्लिनाथ
११३	२	भट्टहळंक	भट्टाकलंक
,,	११	धम	धर्म
११७	२१	व्या-व्याकरण	व्याकरण
११८	२२	क्योकि	क्योंकि
,,	२८	त व	तक
११९	४	प्राचीग	प्राचीन
१२०	२२	निगटन्	निगंटन्
१२३	३	कना	करना
,,	१९	है	हैं
१२५	२०	है	है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	७	तिरुवळ्ळुवर	तिरुवळ्ळुवर
१३५	२३	वाचकशब्द	वाचक शब्द
१३६	२३	है	है।
१३७	१५	देश	देश के
१४२	२४	आचारण	आचरण
१४९	११	हैं	है,
१५१	१५	है	था
,,	२७	मधुरै	मदुरै
१५३	५	शिलाप्पधिकारम्	शिलप्पधिकारम्
१५६	२५	उनसे	उनके
,,	२९	के	में
१५८	३	थी	थीं
१६०	९	शिलप्पाधिकारम्	शिलप्पधिकारम्
,,	१६	वृहत्कथा	वृहत्कथा
,,	१९	गया	गयी
१६४	७	में	से
,,	,,	मृत	मृतपुत्र
१६५	१५	समवशरण	समवसरण
,,	२९	अनरूप	अनुरूप
१६६	४	कहाकाव्य	महाकाव्य
,,	२५	उमे	उस
,,	२८	संक्षिप्त	संक्षेप
१७२	२	तन्द्रामुक्त	तन्द्रायुक्त
१७३	२८	हैं	है
१७४	१८	के	से
१७५	६	सन्निध्य	सान्निध्य
१७८	२	शिलप्पाधिकारम्	शिलप्पधिकारम्
१७९	२८	भोज-तैयार	भोज तैयार
१८०	२५	प्रबंध),	प्रबंध
१८२	४	तिरुनावुक्करशर	तिरुनावुक्करशद्
,,	८	पाट्टियल्	पाट्टियल्'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८३	५	राजाश्रित	राज्याश्रित
,,	११	थे ।	थे :
१८४	२३	चक्रवर्ति	चक्रवर्ती
१८६	१७	पूर्वप्रचलित	पूर्व प्रचलित
१८८	१३	अनुशीळन	अनुशीलन
१८९	९	दसवें	दसवें
१९६	२३	शतीं	शती
,,	२६	,,	,,
१९८	४	देते हैं	देता है
२०१	१६	अपभ्रश	अपभ्रंश
२०३	२९	रचनाअ	रचनाओं
२०४	१९	९८५०	१८५०
२१९	१३	राण	पुराण
२२०	१९	अपूण	अपूर्ण
२२४	१८	मदिर	मंदिर
२३७	२४	दिय	दिये
२३८	२८	दा	दो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. **Political History of Northern India from Jaina Sources** —Dr. G. C. Choudhary 60·00
2. **Studies in Hemacandra's Desinamamala** —Dr. Harivallabh C. Bhayani 10·00
3. **A Cultural Study of the Nisitha Curni** —Dr. (Mrs.) Madhu Sen 50·00
4. **An Early History of Orissa** —Dr. Amar Chand 40·00

५. जैन आचार —डा० मोहनलाल मेहता २०·००

६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ —पं० बेचरदास दोशी ३५·००

७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २ —डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता ३५·००

८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३ —डा० मोहनलाल मेहता ३५·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४ —डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया ३५·००

१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ —पं० अंबालाल शाह ३५·००

११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ —डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ४५·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ७ —पं० के० भुजबली शास्त्री व श्री टी० पी० मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै व डा० विद्याधर जोहरापुरकर ३५·००

१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—डा० कोमलचन्द्र जैन ३०·००

१४. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन ३०·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

१५. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन ४०·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

१६. जैन-धर्म में अहिंसा —डा० वशिष्ठनारायण सिन्हा ३०·००

१७. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिंदी प्रेमाख्यानक—डा० प्रेमचन्द्र जैन ३०·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

१८. जैन धर्म-दर्शन —डा० मोहनलाल मेहता ३०·००
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)

१९ तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित) —पं० सुखलाल संघवी ३०·००

२०. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन —डा० अर्हद्दास बंडोवा दिगे १०·००

२१. जैन प्रतिमा विज्ञान —डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी १२०·००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi